आधुनिक एशिया का राजनीतिक चिन्तन

आधुनिक एशिया का राजनीतिक चिन्तन

डॉ० रामचन्द्र गुप्त
प्राचार्य, आई० के० उपाधि महाविद्यालय,
इन्दौर

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

आधुनिक एशिया का
राजनीतिक चिन्तन

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

प्रथम संस्करण : १९७१

मूल्य : १०.५० रुपये

मुद्रक
श्री माहेश्वरी प्रेस, गोलघर,
वाराणसी-१

प्राक्कथन

□

इस बात पर सभी शिक्षा-शास्त्री एकमत हैं कि मातृभाषा के माध्यम से दी गयी शिक्षा छात्रों के सर्वाङ्गीण विकास एवं मौलिक चिन्तन की अभिवृद्धि में अधिक सहायक होती है। इसी कारण स्वातन्त्र्य आन्दोलन के समय एवं उसके पूर्व से ही स्वामी श्रद्धानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी जैसे देश-मान्य नेताओं ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने की दृष्टि से आदर्श शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित की। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी देश में शिक्षा सम्बन्धी जो कमीशन या समितियाँ नियुक्त की गयी उन्होंने एकमत से इस सिद्धान्त का अनुमोदन किया।

इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा थी—श्रेष्ठ पाठ्य-ग्रन्थों का अभाव। हम सब जानते हैं कि न केवल विज्ञान और तकनीकी अपितु मानविकी के क्षेत्र में भी विश्व में इतनी तीव्रता से नये अनुसन्धानों और चिन्तनों का आगमन हो रहा है कि यदि उसे ठीक ढंग से गृहीत न किया गया तो मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा पाने वाले अञ्चलों के पिछड़ जाने की आशंका है। भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने इस बात का अनुभव किया और भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में विश्वविद्यालयीन स्तर पर उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थ तैयार करने के लिए समुचित आर्थिक दायित्व स्वीकार किया। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की यह योजना उसके शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य अकादमियों द्वारा कार्यान्वित की जा रही है। 'मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी है।

अकादमी विश्वविद्यालयीन स्तर की मौलिक पुस्तकों के निर्माण के साथ, विश्व की विभिन्न भाषाओं में बिखरे हुए ज्ञान को हिन्दी के माध्यम से प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों को उपलब्ध करेगी। इस योजना के साथ सभी महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय सम्बद्ध हैं। मेरा विश्वास है कि सभी शिक्षा-शास्त्री एवं शिक्षा-प्रेमी इस योजना को प्रोत्साहित करेंगे। प्राध्यापकों से मेरा अनुरोध है कि वे अकादमी के ग्रन्थों को छात्रों तक पहुँचाने में हमें सहयोग प्रदान करें जिससे बिना और विलम्ब के विश्वविद्यालयों में सभी विषयों के शिक्षण का माध्यम हिन्दी बन सके।

जगदीश नारायण अवस्थी
शिक्षामंत्री,
अध्यक्ष : मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

प्रस्तावना

□

१९वी शताब्दी यूरोप के जागरण का युग है, तो २०वी शताब्दी एशिया के जागरण का। इस शती ने अनेक क्रान्तियाँ देखी है। जापान के प्रथम युद्ध से लेकर पूर्वी बंगाल के राजनीतिक आन्दोलन तक न जाने कितनी महत्वपूर्ण घटनाएँ इस शताब्दी में घटित हुई है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आन्दोलन हुए। जन-सामान्य को अत्याचारों और यातनाओ का सामना करना पड़ा और तब कही स्वातन्त्र्य-सूर्य की किरणो के सुखद दर्शन हो सके। देश जुडे और टूटे, फिर जुड़े और फिर अलग हुए। यह प्रक्रिया आज भी चालू है। निकट भविष्य मे भी इसका अन्त होता दिखायी नही देता।

२०वी शताब्दी की इस उथल-पुथल ने अनेक राजनीतिक विचार-धाराओं को जन्म दिया। इसे यो भी कह सकते है कि नवीन राजनीतिक विचारधाराओं को अनेक क्रान्तियों ने जन्म दिया। वस्तुत चिन्तन और क्रान्ति अन्योन्याश्रित है। एक चिन्तक न केवल एक देश, अपितु संसार के बड़े भाग को प्रभावित कर सकता है। यह बात मार्क्स और गाधी के जीवन से स्पष्ट है। इसी प्रकार लक्ष्य की एकता रहते हुए भी उस तक पहुँचने के मार्ग परस्पर कितने दूर और कभी-कभी कितने विरोधी हो सकते है, यह बात लेनिनवाद, गाधीवाद और माओवाद मे देखी जा सकती है। जिस प्रकार युद्ध, विज्ञान और उत्पादन मे क्रान्ति उपस्थित करते है, उसी प्रकार राजनीतिक आन्दोलन नवीन राजनीतिक दर्शन को जन्म देते है। एशिया मे भी यही हुआ। शायद ही कोई ऐसा देश होगा

जिसने विगत ६०-७० वर्षों में अपना कायाकल्प न कर डाला हो। जहाँ अब तक राजतन्त्र कायम है, वहाँ पर भी वह प्रतीक मात्र बनकर रह गया है। यों तो दार्शनिक दृष्टि से यह बात उलटकर भी कही जा सकती है कि एशिया में जहाँ प्रजातन्त्र कायम हुआ है, वहाँ पर भी वह प्रतीक बनकर ही रह गया है। सामाजिक न्याय की स्थापना के दिन अभी दूर हैं और इसका एक कारण राष्ट्रों का अत्यन्त स्वार्थी होना है। हम वैयक्तिक स्तर पर स्वार्थ और अन्याय की निन्दा करते हैं। ऐसा करने में सामान्य जन बाहर से नहीं तो भीतर से लज्जा एवं ग्लानि का भी अनुभव करता है। किन्तु राष्ट्रीय स्तर पर अन्याय, पक्षपात और झूठ को बुरा नहीं माना जाता। विगत १० वर्षों में तो एक प्रकार से हम लोग इस ओर और बढ़े ही हैं। आशा की जो किरण नेहरू, न्युन्येव, कैनेडी, टीटो और नासिर के राजनीतिक-नेतृत्व-पंचक के काल में दिखायी पड़ी थी वह असमय में ही काल-कवलित हो गयी। आज व्यक्ति के समान राजनीतिक दलों का भी दर्शन और व्यवहार परस्पर बहुत दूर-दूर तक जा पड़ा है। निष्पक्ष विचारक के लिए इन दोनों के पारस्परिक अलगाव और असमानताओं की दिशा में सोचने के लिए बहुत अवकाश है।

मुझे प्रसन्नता है कि डॉ० रामचन्द्र गुप्त ने २०वीं शताब्दी में एशिया के विभिन्न देशों के राजनीतिक चिन्तन का विवेचन एक साथ और तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। विषय का क्षेत्र बहुत बड़ा है और सम्भव है, इन थोड़े से पृष्ठों में विषय के साथ पूरा न्याय न हो पाया हो। फिर भी सार-वस्तु बड़े विस्तार की अपेक्षा नहीं करती और जो कुछ सामग्री इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की गयी है, वह सामान्य पाठक के दिशा-दर्शन के लिए पर्याप्त है। पुस्तक न केवल विश्वविद्यालयों के छात्रों, अपितु सामान्य पाठक के लिए भी उपादेय है।

भोपाल,
१५ अगस्त, १९७१

संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

विषय सूची

भूमिका

□

विश्व के राजनीतिक विचारो एवं उसमें होनेवाली उथल-पुथल का समुचित अवलोकन करते समय हमें अपनी दृष्टि यूरोप और अमेरिका से हटाकर एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों की ओर ले जानी होगी। शताब्दियो तक इन महाद्वीपो का न्यूनाधिक यूरोप के अनेक राष्ट्रों द्वारा शोषण किया जाता रहा। यूरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपनी राजनीतिक एवं आर्थिक महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिए इन्हें सुविधानुसार ढालने का प्रयत्न किया। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "विश्व इतिहास की झलक" में कहा है :

> "१८वी एवं १९वी शताब्दियों में यूरोप ने विश्व में प्रेरणा-शक्ति का कार्य किया। इन शताब्दियो में यूरोप में राष्ट्रवाद अपनी चरम सीमा पर था, तथा वहाँ पर होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति ने समस्त विश्व को प्रभावित किया और प्राय: उसकी परिणति साम्राज्यवाद के रूप में देखी गयी। पर २०वी शताब्दी मे एशिया और अफ्रीका महाद्वीपो मे राष्ट्रवाद एवं स्वतंत्रता की नयी प्रेरणा जागृत हुई। और शनैः शनैः एक के बाद एक राष्ट्र आत्म-निर्णय के अधिकार को प्राप्त करता जा रहा है।"

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य मुख्यत एशिया में राजनीतिक चिन्तन का अवलोकन करना रहा है, परन्तु इस महाद्वीप के देशों की अनिश्चित राजनीतिक स्थिति के कारण

उन राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर भी अनिवार्य रूप से प्रकाश डालना पड़ा है, जिन्होंने उनमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक चिन्तन के विकास में सहयोग दिया है। वास्तव में, एशिया के अनेक छोटे-छोटे देशों का २०वीं शताब्दी से पूर्व कोई राजनीतिक अस्तित्व ही नहीं था। उन्हें अपने अस्तित्व के लिए पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध तक एशिया के अधिकांश देशों की स्थिति बहुत ही अनिश्चित, द्विविधाजनक एवं संघर्षपूर्ण रही। इस युद्ध के पश्चात् एशिया के अनेकों देशों ने स्वाधीनता प्राप्त कर ली। पश्चिमी एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया में तो आज भी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति संघर्षपूर्ण बनी हुई है, और कोई नहीं कह सकता कि कब क्या हो जाय।

जिन देशों का कोई राजनीतिक अस्तित्व ही न हो अथवा जिन्हें अपनी स्वाधीनता के लिए साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा हो, अथवा पड़ रहा हो, अथवा जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के शिकार बने हुए हों, उनमें निरन्तर राजनीतिक अनिश्चितता एवं संघर्षपूर्ण स्थिति बनी रहने के कारण किसी ठोस राजनीतिक चिन्तन का पनपना प्रायः दुर्लभ होता है। सत्य तो यह है कि, कुछ अपवादों को छोड़कर, एशिया के देशों में किसी ठोस राजनीतिक चिन्तन के दर्शन ही नहीं होते। भारत तथा कुछ अंशों में चीन ही ऐसे दो देश हैं जहाँ पर स्पष्ट रूप से राजनीतिक चिन्तन एवं राजनीतिक तथा आर्थिक प्रश्नों पर निश्चित-सी विचारधाराएँ दिखायी देती हैं। और यही कारण है कि पुस्तक के मुख्य उद्देश्य से हटकर मुझे एशिया के अनेक देशों में हुए राष्ट्रीय आन्दोलनों तथा उन अन्य आवश्यक तथ्यों पर प्रकाश डालना पड़ा, जिन्होंने एशिया के देशों में किसी भी रूप में राजनीतिक चिन्तन को पनपने में सहायता प्रदान की है। ऐसा करना अनिवार्य भी था।

पुस्तक के मुख्य उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए, राजनीतिक चिन्तन को प्रोत्साहित करनेवाली सम्बन्धित घटनाओं को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करने तथा अनावश्यक सामग्री को पुस्तक में न आने देने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में, पुस्तक अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हो सकी है, इसका निर्णय मैं पाठकों के ऊपर छोड़ना ही श्रेयस्कर समझता हूँ।

इन्दौर,
माघ पूर्णिमा, २०२७

रामचन्द्र गुप्त

खण्ड 'क'

पश्चिमी एशिया

(WEST ASIA)

अध्याय १

राजनीतिक अभिव्यक्ति एवं सीमांकन

पश्चिमी एशिया को पाश्चात्य इतिहासकारों ने "मध्य पूर्व" (Middle East) की संज्ञा प्रदान की है। वास्तव में मध्यपूर्व यूरोपीय राष्ट्रों एवं विद्वानों द्वारा की गई एक प्रकार की राजनीतिक अभिव्यक्ति है।[1] यह एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप इन तीनों महाद्वीपों का सगम-स्थल होने के कारण, इतिहास के उषा-काल से ही अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों एवं घटनाओं की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। मध्य पूर्व के रंगमंच पर मिस्री, हिट्टाइट, ईजियन, फिनिशियन, यूनानी, सुमेरियन, असीरियन, बेबीलोनियन, खाल्दियन, ह्रख्यामनी, सासानियन, अरब, तुर्क आदि अनेक साम्राज्यों का उत्थान एवं पतन हुआ तथा विश्व के तीन बड़े धर्मों—यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम—का प्रादुर्भाव हुआ।

मिस्र और अफ्रीका को पश्चिमी एशिया से एक छोटी सी पानी की नीली पट्टी पृथक् करती है। ज्योंही हम स्वेज नहर को पार करेंगे, हमें अरेबिया, फिलिस्तीन, सीरिया तथा ईराक सभी अरब देश तथा इनसे कुछ दूरी पर पर्शिया के दर्शन होंगे। इन सभी राष्ट्रों को (मिस्र सहित) पश्चिमी एशिया में सम्मिलित किया जाता है। पश्चिमी एशिया की सीमा के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। सामान्यतः पश्चिमी एशिया अथवा मध्य पूर्व में पश्चिम दिशा में मिस्र से लेकर

---

१. पाश्चात्य इतिहासकारों ने एशिया को दो भागों में विभक्त किया है—"मध्य पूर्व" (Middle East) और "सुदूर पूर्व" (Far East)। भारत सरकार ने १९५५ की घोषणा द्वारा यह तय किया कि "मध्य पूर्व" और "सुदूर पूर्व" को क्रमशः "पश्चिमी एशिया" (West Asia) और "पूर्वी एशिया" (East Asia) कहा जाय।

पूर्व दिशा में अफगानिस्तान तक का प्रदेश समझा जाता है। कई बार इसमें अफ्रीका के उत्तरी तट के अरब राज्य भी सम्मिलित कर लिए जाते हैं। वास्तव में पश्चिमी एशिया के इस क्षेत्र को एकदम निश्चित तथा सुस्पष्ट भौगोलिक सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता क्योंकि इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने अपने अलग-अलग मत प्रकट किये हैं। गाई विंट का मत है कि "सीमित अर्थ के अनुसार मध्य पूर्व में केवल मिस्र तथा एशिया के अरब-राज्यों की गणना की जाती है, परन्तु इसमें ईरान, तुर्की और भूमध्य सागर के तट पर स्थित लीबिया, ट्यूनीसिया, अल्जीरिया और मोरक्को का भी समावेश होता है।"[1] कार का कथन है कि "पूर्वी भूमध्य सागर से लेकर भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त तक देशों का जो जाल फैला हुआ है उसे सुविधा की दृष्टि से मध्य पूर्व कहा जाता है।"[2] इस प्रकार पश्चिमी एशिया के अन्दर अनेक राष्ट्र आते हैं तथा इसका क्षेत्रफल २६ लाख वर्ग मील के लगभग है जो रूस रहित यूरोप के बराबर तथा भारत के दुगुने से भी अधिक है। परन्तु यहाँ की जनसंख्या केवल ८ करोड़ के आसपास है। इतने विशाल क्षेत्र में इतनी कम जनसंख्या प्रमुखतः इस कारण है कि इसमें सऊदी अरब, मिस्र और ईरान के विशाल मरुस्थल हैं। यहाँ पर बहुतायत में इस्लाम धर्म है, परन्तु इजरायल में यहूदी और लेबनान में ईसाई धर्म प्रमुख है। भाषा की दृष्टि से तुर्की, इजरायल और ईरान को छोड़कर अरबी भाषा प्रमुख है। इस्लाम के सर्वाधिक पवित्र तीर्थ-स्थल मक्का और मदीना तथा इस्लामी विद्या की महानतम संस्थाएँ इसी प्रदेश में स्थित हैं। विशाल मरुस्थल होते हुए भी इस क्षेत्र में नील नदी के प्रदेश, टिगरिस यूफ्रेट्स घाटी के प्रदेश अच्छे उपजाऊ हैं। इस क्षेत्र में उल्लेखनीय राज्य तुर्की, मिस्र, फिलिस्तीन, पर्शिया, सऊदी अरब, ईराक, जोर्डन, अफगानिस्तान आदि हैं।

पश्चिमी एशिया ने इतिहास में महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा सहस्रों वर्षों तक प्रायः यह विश्व की घटनाओं की प्रमुख धुरी के रूप में कार्य करता रहा। फिर एक ऐसा समय भी आया जब शताब्दियों तक यह बिना किसी हलचल के विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया। इसकी चेतना जैसे शिथिल हो गयी और इसका धरातल पूर्ण शांत बना रहा। लेकिन बीसवीं शताब्दी में इसमें फिर से जीवन-स्पन्दन दिखाई दिया है और इसके देशों ने विश्व की घटनाओं में पुनः प्रमुख भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है।

---

१. "दि मिडिल ईस्ट इन क्राइसिस", पृ० १६।

२. ई० एच० कार, "इन्टरनैशनल रिलेशन्स बिट्वीन टू वर्ल्ड वार्स", पृ०२५२

पश्चिमी एशिया में राजनीतिक चेतना के प्रमुख कारण :

विशिष्ट भौगोलिक स्थिति :

पश्चिमी एशिया की महत्ता तथा उसके निमित्त उसके देशों में उत्पन्न होनेवाली राजनीतिक चेतना का सबसे प्रथम कारण है इसकी महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति। सैनिक एवं सामरिक दृष्टि से यह क्षेत्र एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा आक्रमणकारी तीन दिशाओं से अथवा तीन महाद्वीपों की ओर एक साथ अग्रसर हो सकता है। दूसरे शब्दों में यह क्षेत्र तीन महाद्वीपों—एशिया, अफ्रीका और यूरोप को एक शृंखला में आबद्ध करता है। विश्व-विजय की आकांक्षा से प्रेरित किसी भी आक्रमणकारी की योजना को विफल करने के लिये आवश्यक है कि मध्यपूर्वीय क्षेत्र की सुरक्षा व्यवस्थाओं को सुदृढ़ किया जाय। व्यापारिक एवं सैनिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी विश्व के समस्त समुद्री एवं वायु-मार्ग पश्चिमी एशिया से ही होकर गुजरते हैं। इसके जलमार्ग यूरोप को दक्षिणी और पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया और अमेरिका से जोड़ते हैं। पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक कारखानों में तैयार होनेवाला माल दक्षिण-पूर्वी एशिया को इसी प्रदेश के जलमार्गों से होकर जाता है।

इस प्रदेश का महत्व यह भी है कि इसके देश तुर्की से अफगानिस्तान तक रूस की दक्षिणी सीमा का निर्माण करते हैं। यदि इस प्रदेश में अमेरिका को सैनिक अड्डे प्राप्त हो जाते हैं, तो यह सुगमता से सोवियत संघ की सुरक्षा व्यवस्था को संकट में डाल सकता है। यही कारण है कि इस क्षेत्र पर प्रभाव स्थापित करने के लिये रूस और अमेरिका में प्रतिस्पर्द्धा लगी हुई है। बगदाद पैक्ट और सेण्टो (केन्द्रीय सन्धि संगठन) का निर्माण इस क्षेत्र में अपना प्रभाव बनाये रखने तथा साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिये ही हुआ। इस समय सऊदी अरब के धारहन प्रान्त में संयुक्त राज्य अमेरिका का एक बहुत बड़ा हवाई अड्डा है तथा मध्य पूर्व के और भी कई स्थानों पर उसके सैनिक अड्डे हैं। अतः सोवियत रूस भी इस क्षेत्र में (अरब देशों को इजराइल के विरुद्ध हथियार देकर) अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये प्रयत्न कर रहा है। संयुक्त अरब गणराज्य, सीरिया, लेबनान आदि देशों के संघर्ष में अमेरिका और रूस दोनों ही, मध्य पूर्व में अपने प्रभाव को स्थापित रखने तथा उसमें वृद्धि करने की दृष्टि से, अपनी अपनी भूमिका निभा रहे हैं। रूस और अमेरिका के पारस्परिक संघर्ष ने निश्चय ही पश्चिमी एशिया के देशों में राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव किया है तथा इनकी पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़कानेवाली नीतियों से अरब राष्ट्रों में राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिला है।

विशाल तेल भण्डार :

पश्चिमी एशिया की राजनीतिक जाग्रति का अन्य कारण है उसकी विशाल तेल सम्पदा। यह क्षेत्र तेल की दृष्टि से कितना समृद्ध है इसका अनुमान कर्नल नासिर के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में पेट्रोल का औसत दैनिक उत्पादन ११ ढोल (Barrels) और वेनेजुएला में २० ढोल है, वहाँ अरब क्षेत्र में ४००० ढोल प्रतिदिन निकालने का औसत है। विश्व में तेल के जिस परिमाण में होने की जानकारी है उसका लगभग ६६ प्रतिशत ईरान की खाड़ी के आसपास के प्रदेशों—मुख्य रूप से कुवैत, ईरान, इराक और सऊदी अरब—में पाया जाता है। मध्य पूर्व का यह तेल भण्डार यूरोप के आर्थिक जीवन के लिए प्राण है, सोवियत संघ के लिए प्रबल आकर्षण है तथा इस क्षेत्र के दरिद्र एवं उद्योगहीन देशों के लिये प्रकृति द्वारा दिया गया आय का अक्षय स्रोत है।

मध्य पूर्व की यह विशाल तेल सम्पदा विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के लिये इतना बड़ा आकर्षण है कि अन्तरराष्ट्रीय राजनीति को 'तेल कूटनीति' (Oil Diplomacy) कहकर सम्बोधित किया जाने लगा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि जहाँ एक ओर तेल और पेट्रोलियम की खोज के कारण यह सारा का सारा क्षेत्र पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार बना, वहाँ दूसरी ओर इस तेल के खेल ने इस क्षेत्र में गहन राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना को भी जन्म दिया। विशेषतः ईरान में तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण एक निर्णायक घटना सिद्ध हुई, और उसके बाद से इस क्षेत्र में पश्चिमी साम्राज्यवाद का सूर्य अस्त होता गया तथा आज यह सम्पूर्ण क्षेत्र विदेशी दासता के चंगुल से प्रायः पूर्णतः मुक्त हो चुका है।

स्वेज नहर :

मध्य पूर्व में राजनीतिक चेतना उत्पन्न होने का एक कारण उसमें स्वेज नहर का होना भी है। १८६९ में निर्मित स्वेज नहर ने मध्य पूर्व को अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिला दिया, क्योंकि उसने भूमध्य सागर को लाल सागर के साथ जोड़कर एटलांटिक महासागर और हिन्द महासागर के मध्य एक ऐसे नये संचार पथ का निर्माण किया जो शांतिकालीन व्यापार और सामरिक संचार दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। स्वेज नहर के बन्द होने से पूर्व और पश्चिम का व्यापार प्रायः ठप हो जाता है। पश्चिमी यूरोप के लिए यह नहर जीवन-मरण का प्रश्न है। यदि साम्यवादी प्रभाव के बढ़ने से मध्य पूर्व का यह अन्तरराष्ट्रीय जलमार्ग पश्चिमी यूरोप के लिए बन्द हो जाता है तो पेट्रोल के सरलता से उपलब्ध न होने एवं पूर्व में औद्योगिक माल की निकासी बन्द होने

तथा वहाँ से कच्चा माल न मिल सकने के कारण उसका (पश्चिमी यूरोप का) सम्पूर्ण आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त सा हो जाता है। साथ ही पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक स्थिति को भी गम्भीर खतरा पहुँचता है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अरब देशों में राष्ट्रवाद जोरों से पनपा। मिस्र में, अक्टूबर, १९५४ में, सारी सत्ता कर्नल नासिर के हाथ में आ गयी। उन्होंने देश की प्रगति के लिये अस्वान बाँध के निर्माण की योजना बनाई तथा २६ जुलाई, १९५६ को स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की और इसके मुनाफे को आस्वान बाँध में लगाने की तथा स्वेज नहर से इजरायली जहाजों के न गुजरने देने की घोषणा कर दी। यह फ्रांस और ब्रिटेन के लिये कठोर वज्रपात था। फलस्वरूप मिस्र पूर्णतः विजयी हुआ। स्वेज काड ने न केवल नासिर की धाक सारे अरब जगत् पर जमा दी, प्रत्युत इसमें अरब राष्ट्रों में राष्ट्रीयता एवं उनमें एकीकरण की भावना को पनपने का भी अवसर मिला।

अरब राष्ट्रों की यहूदियों के प्रति शत्रुता की भावना :

पश्चिमी एशिया में राजनीतिक चेतना एवं राष्ट्रवादी भावनाएँ उत्पन्न होने का एक महत्वपूर्ण कारण है अरब देशों की यहूदियों के प्रति घोर शत्रुता। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मध्य पूर्व में राष्ट्रीयता का उदय होना आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम तुर्कों ने धार्मिक कट्टरता का परित्याग करके पाश्चात्य जीवन प्रणाली और राष्ट्रीय व्यवस्था को स्वीकार किया। यह महान् क्रान्ति कमाल पाशा के नेतृत्व में सम्पन्न हुई, और आज तुर्की अपने को एशिया का अंग मानने की अपेक्षा यूरोप का अंग मानता है। अरब देशों में पनपा राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं रहा, प्रत्युत उसने अरबवासियों को आर्थिक एवं सामाजिक क्रान्ति करने की ओर भी अग्रसर किया है। यह राष्ट्रवादी भावना प्रथम महायुद्ध के बाद मध्य पूर्व के देशों पर थोपी गयी नयी राजनीतिक और आर्थिक पराधीनता के कारण और भी अधिक उग्र हो उठी। २५ सितम्बर, १९४५ को सिकन्दरिया में 'अरब लीग' की स्थापना के द्वारा इस क्षेत्र के लोगों ने अपनी अरब एकता की महत्वाकांक्षा को अभिव्यक्त किया। अरब लीग सम्पूर्ण मध्यपूर्व के विकास और स्वतंत्रता की द्योतक बन गई।

द्वितीय महायुद्ध के बाद मध्य पूर्व के देशों में जहाँ राजनीतिक चेतना ने स्वतंत्रता की लहर को फैलाया, वहाँ आर्थिक चेतना के फलस्वरूप उन्होंने विदेशी के आर्थिक शोषण के विरुद्ध उठ खड़े होने का संकल्प किया। यह संकल्प विदेशी उद्योगों का

राष्ट्रीयकरण करने के रूप में व्यक्त हुआ—कुवैत और ईरान द्वारा तेल-उद्योग का और मिस्र द्वारा स्वेज़ नहर का।

राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात्, अरब देशों ने अपने यहाँ विदेशी फौजी अड्डों को समाप्त करने की ओर कदम बढ़ाया। इन अड्डों को उन्होंने अपने राष्ट्र-गौरव के लिये कलंक समझा, अतः मिस्र और ईरान ने अपने देशों से विदेशी फौजों एवं सैनिक अड्डों को हटाने का प्रबल अभियान प्रारम्भ किया। जुलाई, १९५८ में जब अमेरिकन और ब्रिटिश फौजें लेबनान और जोर्डन में उतरीं तो सम्पूर्ण अरब जगत् ने निन्दा और विरोध का एक तूफान खड़ा कर दिया, और अन्त में इन फौजों को वहाँ से हटना पड़ा।

अरब देशों का राष्ट्रवाद इसरायल के प्रति कट्टर शत्रुता की भावना के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ है। वैसे तो अरब देशों और इसरायल के बीच संघर्ष का इतिहास बहुत पुराना है, पर द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्, यहूदियों के एक पृथक् राज्य इसरायल की स्थापना हो जाने के कारण, यह संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। इस संघर्ष में संयुक्त अरब गणराज्य ने प्रमुख भूमिका निभाई, और सभी अरब देशों को इसरायल के विरुद्ध मरणान्तक संघर्ष करने को प्रोत्साहित किया। हालांकि पिछले युद्धों और जून, १९६७ में हुए इसरायल और अरब राष्ट्रों के बीच युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया है कि न तो अरब राष्ट्र इसरायल को नष्ट करने की सामर्थ्य रखते हैं और न ही इसरायल अरब राष्ट्रों से अधिक भूमि छीनने की स्थिति में है।

अरब लीग का योगदान :

अरब लीग उत्तरी अफ्रीका और मध्य पूर्व के सभी अरबी-भाषी राज्यों को एक संघ के रूप में [illegible] चाहती है। इस स्वप्न को साकार करने के लिए लीग निरन्तर प्रयत्न[illegible] है। वास्तव में यह मुस्लिम प्रभुता के स्वर्णिम अतीत को पुनः साकार करने की योजना है। मिस्र के महान् नेता कर्नल नासिर के नेतृत्व में इस योजना पर भरसक अमल किया गया। कर्नल नासिर अरब राष्ट्रों के एक संयुक्त गणतन्त्र की स्थापना किये जाने के विचार के प्रबल पोषक थे। १ फरवरी, १९५८ को सीरिया और मिस्र को मिलाकर 'संयुक्त अरब गणराज्य' की उनके द्वारा स्थापना की गई, जिसे अरब राज्यों की एकता की दिशा में पहला कदम माना जाता है। संयुक्त अरब गणराज्य, जो दो देशों को मिलाकर बनाया गया, का एक शासनाध्यक्ष और एक विधानसभा, एक संयुक्त सेना और एक झण्डा रखना निश्चित हुआ। ९ मार्च, १९५८ को यमन राज्य भी, अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए, सीरिया और

मिस्र द्वारा स्थापित संघ में सम्मिलित हो गया, और इस प्रकार 'संयुक्त अरब राज्यों' (United Arab States) का निर्माण हुआ। कर्नल नासिर की आकांक्षा थी कि इस संघ में शनैः शनैः अन्य अरब राज्य भी सम्मिलित हो जाएँ और इस प्रकार समस्त अरब राज्यों का एकीकरण हो जाय, जिसमें उनकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहे। परन्तु श्री नासिर का यह स्वप्न और आगे बढ़ने से पूर्व ही, आन्तरिक मतभेदों के कारण, भंग हो गया और यह तो भविष्य ही बतलायेगा कि अरब एकता का विचार कहाँ तक फलीभूत होता है।

यह बात स्मरण रखने की है कि राजनीतिक चेतना के बाद भी अरब जगत् में राजनीतिक स्थिरता नहीं आ पाई है। मिस्र में १९५२ की क्रान्ति से पूर्व के प्रथम दशक में १७ सरकारें बदलीं, तथा सीरिया में १९४५ से लेकर १९५४ के बीच २४ सरकारें बदलीं। सीरिया में तो राजनीतिक स्थिति अभी भी स्थिर नहीं है। मिस्र में एक प्रकार का तानाशाही शासन ही चलता है। मध्य पूर्व सैनिक क्रान्तियों, षड्यन्त्रों और शासनाध्यक्षों की हत्याओं का घर माना जाता है। अधिकांश अरब देशों में सरकारें शीघ्रता से बदलती रहती हैं।

अगले अध्यायों में हम पश्चिमी एशिया के प्रमुख देशों में राजनीतिक चेतना एवं चिन्तन पर दृष्टिपात करेंगे।

अध्याय २

तुर्की

प्रथम महायुद्ध और तुर्की का पतन :

जैसा प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है, तुर्की मध्य पूर्व के अन्य देशों से भिन्न है। वह मध्य पूर्व क्षेत्र में होते हुए भी यूरोपियन सभ्यता से समानता रखता है। यूरोप से सटा होने के कारण वह लम्बे समय तक यूरोप के महान् राज्यों में से एक गिना जाता रहा था। उसकी सभ्यता पर यूरोप की सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ा। आज भी तुर्की यूरोप के विभिन्न अन्तरराष्ट्रीय संगठनों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। संभवतः इसी कारण तुर्की को अंशतः पूर्वी राज्य और अंशतः यूरोपियन राज्य कहा जाता है। सामाजिक एवं राजनीतिक एकता और सैनिक संगठन की दृष्टि से आज भी वह मध्य पूर्व की महानतम शक्तियों में से एक गिना जाता है।

तुर्की का एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में इतिहास प्रथम महायुद्ध के बाद से आरम्भ होता है। मध्य पूर्व में राष्ट्रीयता का आरम्भ और विकास सर्वप्रथम तुर्की में ही हुआ। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर तुर्की एक दुर्बल एवं पतनोन्मुख देश था। १९११ से चलनेवाले अनवरत युद्ध ने उसे विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। प्रथम महायुद्ध में उसे इतना अधिक परास्त होना पड़ा कि उसकी राजधानी तक पर मित्रराष्ट्रीय सेनाओं का अधिकार हो गया। युद्ध में परास्त होने पर उसे सेव्रे की अपमानजनक सन्धि (The Humiliating Treaty of Sevres) पर हस्ताक्षर करने के लिये विवश होना पड़ा। इस सन्धि पर १० अगस्त, १९२० को हस्ताक्षर किये गये, जिसके अनुसार तुर्की को अपनी गैर-तुर्की जनसंख्या पर से प्रभुसत्ता खोनी पड़ी तथा मिस्र, सूडान, साइप्रस, मोरक्को, ट्यूनेशिया, अरब, फिलिस्तीन, ट्रिपोलीटानिया, मेसोपोटामिया और सीरिया आदि पर से अपने समस्त राजनीतिक अधिकारों का परित्याग करना पड़ा। इस सन्धि के फलस्वरूप उसे अपने साम्राज्य

के अनेकों भागों को भी खोना पड़ा। तुर्की द्वारा शासित पहलेवाले अरब राज्य ब्रिटेन और फ्रांस के संरक्षण में रख दिये गये। अरमीनिया को स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया गया तथा कुर्दिस्तान को तुर्की द्वारा स्वतंत्रता प्रदान करने का वचन देना पड़ा। साथ ही तुर्की को युद्ध में जर्मनी के साथ सहयोग करने के दण्ड-स्वरूप क्षतिपूर्ति के रूप में एक विशाल धनराशि देने को बाध्य किया गया। तुर्की के पास केवल अनातोलिया का पहाड़ी भाग और कुस्तुन्तुनिया के आसपास का कुछ प्रदेश ही रह गया।

राष्ट्रीय राज्य के रूप में :

राष्ट्र-राज्य के रूप में तुर्की का उदय १९२० के बाद से आरम्भ होता है। सेव्रे की थोपी गयी सन्धि का तुर्की के राष्ट्रवादियों ने घोर विरोध किया। सन्धि की शर्तों के कार्यान्वित होने से पूर्व ही राष्ट्रवादियों के एक दल ने मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में इसको पलट देने का प्रयत्न किया। मित्र राष्ट्रों की सहायता से बलपूर्वक इसे लागू करनेवाली यूनानी फौजों ने तुर्की पर आक्रमण कर दिया, पर कमाल पाशा की राष्ट्रवादी सेनाओं ने यूनानी फौजों को अपनी मातृभूमि से खदेड़ना आरम्भ कर दिया। इसी बीच इटली, फ्रांस और इंग्लैण्ड ने यूनान को सहायता देना बन्द कर दिया। इससे तुर्की के राष्ट्रवादियों की हिम्मत और भी बढ़ गयी और उन्होंने सितम्बर, १९२२ तक यूनानियों को बुरी तरह परास्त करके लघु एशिया (Asia Minor) से निकाल दिया। राष्ट्रवादियों ने १ नवम्बर, १९२२ को सुल्तान का पद भी भंग कर दिया। २९ अक्टूबर, १९२३ को तुर्की को गणतंत्र राज्य घोषित कर दिया गया, जिसके प्रथम राष्ट्रपति मुस्तफा कमाल पाशा बने।

कमाल पाशा ने अपने हाथ में शासन की बागडोर सँभालते ही सेव्रे की सन्धि की शर्तों को ठुकरा दिया। राष्ट्रवादियों के विरोध के सामने पश्चिमी राष्ट्रों को झुकना पड़ा और रूस एवं पश्चिमी राष्ट्र को लोसाने की सन्धि करने के लिये बाध्य होना पड़ा। लोसाने की सन्धि १९२३ में सम्पन्न हुई जो समानता एवं आदान-प्रदान के आधार पर की गयी। इस सन्धि के बाद 'नये तुर्की' का आरम्भ होता है, जिसने आगे चलकर आत्मसम्मान एवं ख्याति दोनों ही अर्जित की।

यद्यपि तुर्की ने पश्चिमी राष्ट्रों की अवहेलना अवश्य कर दी, तथापि उसने पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का स्वागत किया। कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की ने अपना आधुनिकीकरण किया। धार्मिक राज्य से वह एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बन गया। मार्च, १९२४ में खलीफा के पद को भी भंग कर दिया गया। पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण कर तुर्की शीघ्र ही एक प्रगतिशील राष्ट्र बन गया।

१९३८ में कमाल पाशा की मृत्यु के पश्चात् इस्मत इनोनू (Ismet Inonu)

अध्यक्ष निर्वाचित हुए। शीघ्र ही यूरोप युद्ध की लपेट में आ गया। तुर्की के राजनीतिज्ञ इस युद्ध में पड़ना नहीं चाहते थे, क्योंकि प्रथम महायुद्ध की भयंकरता एवं तुर्की के पतन और अपमान की याद अभी उनके मस्तिष्क में ताजा थी। १९३९ में रूस और जर्मनी के बीच सन्धि (Soviet-German Pact) हुई, जिसने तुर्की को बहुत धक्का पहुँचाया। १९ अक्टूबर, १९३९ को इंग्लैण्ड, तुर्की और फ्रांस के बीच पारस्परिक सहयोग का एक समझौता हुआ और तुर्की को सैनिक सामान भेजा गया, परन्तु फिर भी तुर्की किसी न किसी प्रकार अपनी तटस्थता को युद्ध की अन्तिम अवस्था तक सुरक्षित रख पाया। १९४५ के आरम्भ में लन्दन और वाशिंगटन ने घोषणा की कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए आयोजित किये जानेवाले सैनफ्रांसिसको सम्मेलन में केवल उन्हीं राष्ट्रों को आमन्त्रित किया जायगा जिन्होंने १ मार्च से पूर्व धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया है। अतः विवश होकर तुर्की ने भी १८ फरवरी, १९४५ को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

द्वितीय महायुद्ध के बाद तुर्की की आन्तरिक राजनीतिक स्थिति :

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् तुर्की के आन्तरिक राजनीतिक जीवन एवं उसकी शासन पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। जनवरी, १९४६ में डेमोक्रैटिक पार्टी (प्रजातन्त्रवादी दल) का जन्म हुआ, और वह विरोधी दल के रूप में कार्य करने लगी। इसकी स्थापना तुर्की के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ सेलाल बेयर (Celal Bayar) द्वारा की गई। इसकी नीति कि [illegible] उद्योगों को पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करने तथा राज्य द्वारा कम से कम हस्तक्षेप किये जाने की थी। यद्यपि यह मध्य वर्ग के हितों की रक्षा करनेवाला दल था, तथापि इसे खेतिहर लोगों का भी समर्थन प्राप्त था। १९४६ के आम चुनावों में इसे कुछ स्थान प्राप्त हो गये, लेकिन इसे वास्तविक विजय १९५० में ही प्राप्त हुई जबकि इसने 'गणतन्त्रवादी जनता पार्टी' (Republican People's Party), जिसने लगभग २५ वर्षों तक तुर्की में शासन किया, को पूर्ण परास्त कर दिया और अपने दल की सरकार बनाई। मुस्तफा कमाल पाशा वाली 'गणतन्त्रवादी जनता पार्टी' का शासन समाप्त हो गया। प्रजातन्त्रवादी दल (Demoratic Party) की सरकार के नेतृत्व में तुर्की में संसदात्मक शासन पद्धति का आरम्भ हुआ। राष्ट्रपति इस्मत इनोनू ने सक्रिय राजनीति से अवकाश प्राप्त कर लिया और उनका दल (गणतन्त्रवादी जनता पार्टी) विरोधी दल के रूप में कार्य करने लगा। उनके स्थान पर सेलाल बेयर राष्ट्रपति बने, और अदनान मेन्डेरेस को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया गया। संसद में प्रजातन्त्रवादी दल के

४०८ सदस्य थे और गणतन्त्रवादी जनता पार्टी के ६९ सदस्य। १९५४ के आम चुनावों में प्रजातन्त्रवादी दल की स्थिति में और भी अधिक सुधार हो गया। लेकिन १९५४ के बाद, चुनावों को लेकर, प्रजातन्त्रवादी दल की सरकार के विरुद्ध कुछ असन्तोष दिखाई दिया। कुछ लोगों की शिकायत थी कि चुनावों में गलत तरीकों का उपयोग किया गया है, और यही कारण है कि प्रजातन्त्रवादी दल को इतने अधिक स्थान प्राप्त हुए हैं। सरकार इस प्रकार की आलोचना को अधिक सहन न कर सकी, और १९५४ में एक समाचारपत्रों से सम्बन्धित कानून पास किया गया जिसके अनुसार सरकार को उन सम्पादकों को जेल भेजने का अधिकार प्रदान किया गया जो सरकार की ईमानदारी की आलोचना करते हैं। साथ ही सरकार ने न्यायालयों के कार्यों में भी हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया, और बहुत से न्यायाधीशों तथा सरकारी अधिकारियों को उनके कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व ही सेवानिवृत्त कर दिया। १९५४ के पश्चात्, मेन्ड्रेस के शासनकाल में इस प्रकार के उपायों को काम में लाया गया, जिसने प्राचीन काल के निरंकुश शासन तथा अब्दुल हमीद द्वितीय की भावना का पुन स्मरण करा दिया। मेन्ड्रेस ने तुर्की के आर्थिक विकास तथा उसके आधुनिकीकरण के लिये सभी प्रकार के तरीकों का उपयोग किया। इस सब का परिणाम था देश में मुद्रास्फीति तथा विदेशी ऋण में अत्यधिक वृद्धि। अमेरिका ने तुर्की को एक समझौते के अधीन वित्तीय सहायता दी, और इससे तुर्की की आर्थिक प्रगति हुई। १९६० में तुर्की के पास लगभग ५००० नये कारखाने थे, और अनेक वस्तुओं में वह आत्म-निर्भर बन गया।

धार्मिक नीति में १९५९ और १९६० के मध्य थोड़ा-सा परिवर्तन किया गया। यद्यपि प्रजातन्त्रवादी दल की सरकार ने धर्मनिरपेक्षता की पूर्व की नीति को अपनाये रखा, तथापि उन विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कर दी गई, जिनके माता-पिता अपने बच्चों को धार्मिक शिक्षा दिलाने के पक्ष में थे। १९६० में मेन्ड्रेस और भी तानाशाही ढंग से कार्य करने लगा, जिसके कारण तुर्की में विद्रोह भडक उठा। अंकारा और इस्तानबुल में विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किये। २१ मई, १९६० को अंकारा मिलिटरी एकेडेमी के युवक सैनिक भी विद्रोह में विद्यार्थियों के साथ मिल गये। विद्रोह सफल हुआ। २६-२७ मई, १९६० को सरकार को उखाड़ फेंका गया, प्रेसीडेन्ट और प्रधान मन्त्री बन्दी बना लिये गये, और सैनिक शासन की स्थापना कर दी गई।

सैनिक प्रशासन की सचालन कमेटी, जिसे राष्ट्रीय एकता समिति (National Unity Committee) कहकर सम्बोधित किया गया, में ३८ अधिकारी थे, जिनको चुनावों तक राष्ट्र का कार्यभार सँभालने का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। जनरल

गुरसेल (Gen. Cemal Gursel) सैनिक प्रशासन के अध्यक्ष बने। प्रजातन्त्र-वादी दल भंग कर दिया गया, और लिखने एवं भाषण की स्वतन्त्रता जनता को पुनः प्राप्त हो गयी। १९६१ में संविधान सभा बुलायी गयी, जिसे नवीन संविधान बनाने का कार्य सौंपा गया। संविधान सभा में देश के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले २७२ सदस्य थे। संविधान का मुख्य उद्देश्य देश में किसी भी राजनैतिक दल को भविष्य में संविधान का उल्लंघन करने तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों का हनन करने से रोकना था। अतः संविधान में अवरोध और संतुलन के सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया गया।

उस समय तुर्की में दो नवीन राजनैतिक दलों की स्थापना हुई। एक था जस्टिस पार्टी, जिसके प्रधान थे जनरल रागिब गुमुसपाला (Gen. Ragib Gumuspala), और दूसरा था नवीन तुर्की दल (New Turkey Party) जिसके अधिष्ठाता थे इकराम अलीकन (Ikram Alican)। १९६१ के नवीन संविधान को स्थिर करने के लिए देश के समक्ष प्रस्तुत किया गया। साठ लाख लोगों ने उसके पक्ष में और चालीस लाख ने उसके विपक्ष में मत दिये। अतः नवीन संविधान को प्रसारित कर दिया गया।

१९६१ में पुनः आम चुनाव हुए, और जनरल कमाल गुरसेल राष्ट्रपति पद के लिये निर्वाचित हुए। उसी वर्ष मिली-जुली सरकार बनी, जिसके प्रधान मन्त्री पद के लिये इनोनू को चुना गया। इस मिली-जुली सरकार ने १९६५ तक कार्य किया। यद्यपि तुर्की के राजनीतिक जीवन में कुछ स्थिरता आ गई, तथापि एक प्रश्न निरन्तर देश के नेताओं के सामने बना रहा। और वह यह था कि देश को संगठनात्मक तरीके से आगे बढ़ाना उचित है अथवा अधिकारवादी तरीके से शासन को चलाकर देश को सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति की ओर ले जाना श्रेयस्कर है। मार्च, १९६६ में जनरल सुने (Gen. Cevdet Sunay) राष्ट्रपति पद के लिये चुने गये, और उनके प्रधान मन्त्री सुलेमान देमिरेल चुने गये (Suleyman Demirel)। दोनों ही जस्टिस पार्टी के है। वर्तमान में यही पार्टी सत्तारूढ़ है।

मुस्तफा कमाल पाशा (१८८१-१९३८) :

मुस्तफा कमाल पाशा ने १९२३ और १९३८ के मध्य तुर्की सेना के अध्यक्ष एवं देश के राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया। उनका जन्म ग्रीस में सलोनिका स्थान पर १८८१ में हुआ था। उनके पिता तुर्की अधिकारी थे। अल्प आयु में ही कमाल पाशा ने यह निर्णय कर लिया था कि वे अपना जीवन एक सैनिक के रूप में व्यतीत करेंगे। सलिन में वे एक बहुत ही मेधावी छात्र माने जाते थे। उनकी

बुद्धि की प्रखरता के उपहारस्वरूप उन्हें 'कमाल' की उपाधि से विभूषित कर दिया गया, जिसका अर्थ अरबी भाषा में 'प्रवीणता' होता है।

१९०६ से लेकर १९१८ तक का समय कमाल पाशा ने एक सैनिक अधिकारी के रूप में व्यतीत किया। १९१८ में वे सक्रिय राजनीति में कूद पड़े और १९१९ में उन्होंने, रौफ बे (Rauf Bey) तथा दो अन्य साथियों के साथ मिलकर, स्वतन्त्र तुर्की राष्ट्र बनाने से सम्बद्ध एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये। वे राष्ट्रवादियों के नेता बन गये। मित्र राष्ट्रों के तुर्की के प्रति अपमानजनक व्यवहार, उनके द्वारा तुर्की पर थोपी गई सेव्रे की सन्धि, ग्रीस द्वारा तुर्की पर आक्रमण तथा मार्च, १९२० में ब्रिटेन द्वारा किया गया राज्यशासन में नियमविरुद्ध विप्लव (The British Coup d'etat), जिसके द्वारा अनेक राष्ट्रवादियों को बन्दी बना लिया गया तथा उन्हें देश से निष्कासित कर दिया गया, इन सब (एक के बाद एक) घटनाओं ने राष्ट्रवादियों के मित्रराष्ट्रों के प्रति विद्रोह करने तथा अपने राष्ट्र तुर्की को किसी भी बाह्य शक्ति के प्रभाव से मुक्त कराने के उत्साह को और भी अधिक बढ़ा दिया। राष्ट्रवादियों ने, कमाल पाशा के नेतृत्व में, कृतसंकल्प होकर विदेशी शक्तियों को तुर्की से बाहर खदेड़ने के लिये प्रयास किया। वे अपने मन्तव्य में सफल हुए और एक नवीन स्वतन्त्र तुर्की राष्ट्र का आरम्भ हुआ।

एक नवीन राष्ट्रीय सभा (National Assembly) का निर्वाचन किया गया, जिसकी प्रथम बैठक ११ अगस्त, १९२३ को हुई। कमाल पाशा को पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित कर लिया गया। इससे पूर्व १९२० में भी उन्हें राष्ट्रीय सभा ने राष्ट्रपति निर्वाचित किया था। अतः राष्ट्रपति बनने का यह दूसरा अवसर था। उनके नेतृत्व में तुर्की के लिये एक नये संविधान की स्थापना की गई और कमाल पाशा को अपना प्रधान मंत्री चुनने का अधिकार सौंपा गया। अक्तूबर, १९२३ में नये गणतन्त्र की विधिवत् घोषणा कर दी गई, जिसके कमाल पाशा प्रथम राष्ट्रपति बने। सुल्तान का पद नवम्बर, १९२२ में ही राष्ट्रीय सभा, कमाल पाशा के प्रभाव से, समाप्त कर चुकी थी। अतः राष्ट्रपति कमाल पाशा को शासन के समस्त अधिकार प्राप्त हो गये और वे एक तानाशाह की भाँति कार्य करने लगे। राष्ट्रीय सभा का काम केवल उनके आदेशों का अनुमोदन करना रह गया।

जिस प्रकार कमाल पाशा सुल्तान के पद के विरोधी थे, उसी प्रकार वे खलीफा के पद के भी कट्टर शत्रु थे। उसे वे शीघ्र से शीघ्र समाप्त करने के पक्ष में थे, पर धार्मिक परम्परा में विश्वास करनेवालों के विरोध के कारण वे उस दिशा में शीघ्र कोई कार्यवाही करने में हिचकिचाते थे। वे उचित अवसर की प्रतीक्षा में थे और शीघ्र ही उन्हें एक अवसर प्राप्त हो गया। यह अवसर एक

कर दिया था। वे सभी मुसलमानो के संगठन के विचार (*Pan Islamic Idea*) के कट्टर विरोधी थे। वे तो तुर्की राष्ट्रीयता मे विश्वास करते थे तथा तुर्की को एक सुसगठित राष्ट्र देखना चाहते थे। उनकी दृष्टि इस्लाम धर्म की अपेक्षा पश्चिमी सभ्यता की ओर अधिक थी।

कमाल पाशा तुर्की को एक ही जाति या राष्ट्र बनाने के पक्ष मे थे, हालाँ कि वहाँ कुछ विदेशी जातियो के लोग भी निवास करते थे। तुर्कियो मे भी एक ऐसी जाति रहती थी जिसे तुर्की नही कहा जाता था। यह जाति कुर्दों की थी। कुर्द जाति के लोग पूर्वी तुर्की मे निवास करते थे तथा इनकी भाषा ईरानी थी। कुर्दिस्तान, जहाँ इस जाति के लोग रहते थे, तुर्की, पर्शिया, ईराक और मोसुल क्षेत्र मे विभाजित हो गया था। तीस लाख कुर्दो मे से लगभग आधे कुर्द लोग तुर्की मे निवास करते थे। १९०८ के तुर्क आन्दोलन के तुरन्त बाद कुर्दो ने एक राष्ट्रीय आन्दोलन चलाया और एक स्वतन्त्र राष्ट्र की मांग की। वर्साई शान्ति सम्मेलन मे भी कुर्दों के प्रतिनिधियो ने यह मांग रखी।

अत १९२५ मे तुर्की के कुर्द क्षेत्र मे एक बडा भारी आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। यह वह समय था जब इग्लैण्ड और तुर्की के मध्य मोसुल के मामले को लेकर झगडा चल रहा था। मोसुल का क्षेत्र भी कुर्दो के क्षेत्र मे आता था। अत तुर्कियो ने यह निष्कर्ष निकाला कि कुर्दों के आन्दोलन के पीछे अग्रेजो का हाथ है। तुर्कियो का यह अनुमान कि अग्रेजो के एजेन्टो ने ही धर्मनिष्ठ कुर्दों को कमाल पाशा के सुधारो के विरुद्ध भडकाया है, कहाँ तक सही था, यह कहना कठिन है। पर यह बात स्पष्ट है कि अग्रेजो ने कुर्दों के राष्ट्रवादी आन्दोलन का स्वागत किया था।

कुर्दों का आन्दोलन कमाल पाशा के लिये एक बडी चुनौती था। अत. कमाल पाशा ने तुर्की जनता से कहा कि तुर्क राष्ट्र की स्वतन्त्रता खतरे मे है, क्योकि इग्लैण्ड कुर्दो की सहायता कर रहा है। उन्होने तुर्की की राष्ट्रीय सभा से एक कानून पास कराया जिसके अनुसार धर्म के माध्यम से विद्रोह भडकाने को देश के प्रति गद्दारी माना गया। इस कानून के अनुसार उन सभी धार्मिक उपदेशो की शिक्षा को, जिसके द्वारा तुर्की के गणतन्त्र के प्रति अश्रद्धा जागृत होती हो, मस्जिदो मे देना निषिद्ध कर दिया गया। कमाल पाशा ने निर्ममता से कुर्दो के आन्दोलन को दबा दिया। शेख सईद, डाक्टर फुआद तथा अन्य अनेक कुर्द नेताओ को मौत के घाट उतार दिया गया। इस प्रकार तुर्कों ने, जिन्होने कुछ ही वर्षो पूर्व अपनी स्वतन्त्रता के लिये युद्ध किया था, कुर्दो को अपनी आजादी की लडाई लडने के कारण कुचल दिया। वास्तव मे यह एक बडी विचित्र बात थी। अपनी आजादी के लिये युद्ध करनेवाले

दूसरों की आजादी की लड़ाई को सहन नहीं कर सके। १९२९ में कुर्दों ने पुनः विद्रोह किया, पर कमाल पाशा ने उस विद्रोह को भी निर्दयता से कुचल दिया।

कमाल पाशा ने, कुर्दों के साथ साथ, उन सभी लोगों को भी कुचल दिया जो राष्ट्रीय सभा के अन्दर अथवा उसके बाहर उनकी नीतियों का विरोध करते थे। सत्ता और शक्ति की भूख तानाशाह में निरन्तर बढ़ती ही जाती है; वह कभी समाप्त नहीं होती, और वह किसी भी प्रकार के विरोध को सहन नहीं कर सकती। कमाल पाशा इसका ज्वलन्त उदाहरण थे। उन्होंने अपने सभी विरोधियों को या तो मौत के घाट उतार दिया अथवा उन्हें कड़ी से कड़ी सजाएँ दीं। उन्होंने अपने पुराने साथियों को भी (जिन्होंने उनका तनिक भी विरोध किया) नहीं छोड़ा।

अपने सभी विरोधियों को समाप्त करके कमाल पाशा पूर्ण रूप से तानाशाह बन बैठे। प्रधान मंत्री इस्मत पाशा उनका सच्चा अनुयायी था। कमाल पाशा की माता तथा उनकी फुफेरी बहिन फिकरिया, जिनसे वे बहुत अधिक स्नेह करते थे, मर चुकी थीं। उन्होंने अपनी स्त्री लातिफे को तलाक दे दिया था। इस्मत पाशा को छोड़कर न तो उनका कोई स्नेही था, और न ही कोई धर्म। स्नेह और उत्तरदायित्व के अभाव में वे कठोर बन गये। उन्होंने अपनी योजनाओं पर कठोरता से अमल किया और सभी विरोधों को दबाते हुए आगे बढ़ते गये।

१९२४ में कमाल पाशा ने अरबी वर्णमाला को समाप्त कर दिया, और उसके स्थान पर लैटिन वर्णमाला (प्राचीन रोमवासियों की वर्णमाला) का आरम्भ किया। देश से निरक्षरता को समाप्त करने के लिये उन्होंने कई योजनाएँ बनायीं और उनका दृढ़ता से पालन कराया। उनके द्वारा तुर्कों के लिए पश्चिमी ढंग पर उपनामों का उपयोग आरम्भ किया गया। १९३४ में उन्होंने स्वयं के लिये अतातुर्क (Ataturk) उपनाम (तुर्कों के पिता) का चयन किया और उसके बाद कमाल अतातुर्क मुस्तफा कहकर पुकारे जाने लगे।

कमाल पाशा द्वारा तुर्की के प्रचलित कानून में भी आमूल परिवर्तन किया गया। अभी तक तुर्की का कानून कुरान के उपदेशों पर आधारित था, जिसे शरीयत कहा जाता है। इसके स्थान पर स्विट्ज़रलैंड के दीवानी कानून (Swiss Civil Law), इटली के दण्ड-विधान (Italian Penal Code) तथा जर्मनी के वाणिज्य सम्बन्धी कानूनों (German Commercial Code) को ग्रहण किया गया। इस प्रकार विवाह, उत्तराधिकार आदि नियमों में आमूल परिवर्तन कर दिया गया। तुर्की से बहुपत्नी प्रथा पूर्णतः समाप्त हो गयी।

इस्लाम धर्म के अनुसार मनुष्यों के चित्र, मूर्तियाँ आदि बनाना वर्जित है। कमाल पाशा ने इस प्रथा को भी समाप्त कर दिया। उन्होंने इस प्रकार की

कलाओं को तुर्की मे प्रोत्साहित किया और इन कलाओ की शिक्षा के लिये अनेक विद्यालय खोल दिये गये।

तुर्क स्त्रियों ने तुर्की के स्वतन्त्रता आन्दोलन मे सक्रिय भाग लिया था। कमाल पाशा यह बात भली भाँति जानते थे कि यदि स्त्रियों को पुरुषो के साथ कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाय, तो वे देश की उन्नति के लिए कठिन से कठिन परिश्रम करने मे कभी भी पीछे नही रहेंगी। अत उन्होने तुर्की की स्त्रियो को सभी प्रकार के बन्धनो से मुक्त करने के प्रयास किये। स्त्रियों के अधिकारो की रक्षा के लिये एक संगठन की स्थापना की गई और उन्हे सभी प्रकार की नौकरियों में प्रवेश दिया जाने लगा। प्राचीन काल से चली आ रही पर्दा प्रथा समाप्त कर दी गयी तथा स्त्रियो को मताधिकार प्रदान कर दिया गया। कमाल पाशा ने स्त्रियो को यूरोपीय नृत्य सीखने के लिए प्रोत्साहित किया। इसे वे स्त्रियों की स्वतन्त्रता के लिये ही आवश्यक नही समझते थे, प्रत्युत वे इसे पश्चिमीकरण की दिशा मे भी एक अनिवार्य कदम मानते थे। टोप और नृत्य तुर्की मे प्रगति और सभ्यता के सांकेतिक शब्द बन गये। इस प्रकार तुर्की के लोगो की वेष-भूषा, उनके रहन-सहन, उनके चिन्तन तथा उनके जीवन के तरीके, सभी मे आमूल परिवर्तन हो गया। स्त्रियां, जो अभी तक पर्दे मे रहती थी तथा जो एकान्तता का जीवन व्यतीत करती थी, कुछ ही वर्षों मे वकीलो, शिक्षकों, डाक्टरो तथा न्यायाधीशो के रूप मे कार्य करती देखी गयी। उनकी एक बड़ी संख्या पुलिस विभाग मे भी कार्य करने लगी। लैटिन वर्णमाला को स्वीकार करने के फलस्वरूप तुर्की मे टाइपराइटरो का उपयोग बढ़ गया और आशुलिपिको (Shorthand typists) के रूप में स्त्रियों को अधिकाधिक काम मिलने लगा।

इन सबसे अधिक आश्चर्यजनक कार्य जो तुर्की मे किया गया वह था वहाँ के बच्चों में आत्मसम्मान की भावना का पैदा किया जाना। कण्ठस्थ करने की प्राचीन प्रणाली का बहिष्कार किया गया और उसके स्थान पर बच्चो को, विभिन्न तरीको से, आत्मनिर्भर बनने के लिए प्रोत्साहित किया गया तथा उन्हे भविष्य के सुदृढ़ एवं सुयोग्य नागरिक बनने की प्रेरणा दी गयी। 'बच्चों का सप्ताह' (Children's Week) नामक संस्था का निर्माण किया गया। इसके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष में एक सप्ताह के लिये बच्चों को प्रशासन के प्रत्येक विभाग मे कार्य करने के हेतु रखा गया और इस प्रकार राज्य का सम्पूर्ण प्रशासन (एक सप्ताह के लिये) बच्चो द्वारा चलाया जाने लगा। यद्यपि यह सारा कार्य शासकीय कर्मचारियों की देखरेख में किया जाता था, तथापि यह एक बहुत ही आकर्षक प्रयोग था। यह प्रयोग कहाँ तक सफल हुआ, यह कहना तो कठिन है, पर यह

बात स्पष्ट है कि भले ही बच्चे अयोग्य एवं अनुभवहीन क्यों न हों पर उनका व्यवहार शान्त और गम्भीर दिखनेवाले प्रशासकों की अपेक्षा कम मूर्खतापूर्ण रहता है तथा वे नैतिक भ्रष्टाचार से बहुत दूर रहते हैं।

कमाल पाशा ने अभिवादन के तरीके में भी सुधार किया। सलाम करने की प्रथा के स्थान पर हाथ मिलाने (hand-shaking) की प्रथा को तुर्की में प्रोत्साहित किया गया। इस प्रथा को कमाल पाशा अधिक सभ्य समझता था।

भाषा में परिवर्तन के साथ साथ कमाल पाशा ने मौलिक अरबी भाषा में अजान देने की प्रथा को भी कानून बनाकर रोक दिया। वे तुर्की भाषा का, जिसमें अरबी फारसी शब्दों एवं वाक्यों की भरमार थी, पहले ही शुद्धीकरण कर चुके थे। शुद्ध तुर्की भाषा को (अरबी और फारसी के शब्दों से रहित) उन्होंने तुर्की में प्रोत्साहित किया। इसी नीति के अन्तर्गत कमाल पाशा ने मस्जिदों में शुद्ध तुर्की भाषा में अजान देने के लिये मौलवियों को बाध्य किया। मौलवियों ने इस परिवर्तन का विरोध किया। उनका मत था कि अरबी भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में अजान का दिया जाना अधार्मिक है। इस प्रश्न को लेकर तुर्की में एक अच्छा खासा विद्रोह भड़क उठा, पर कमाल पाशा ने इस विद्रोह को भी अन्य विद्रोहों की भांति कुचल दिया।

इन सामाजिक सुधारों ने तुर्की के लोगों के जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया, पर कमाल पाशा के सुधारों ने देश की आर्थिक व्यवस्था में कोई आश्चर्य-जनक परिवर्तन नहीं किया। यद्यपि कृषि और उद्योग के विकास हेतु कुछ विशेष विभाग गठित किये गये, अनेक उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया और अनेक का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा उद्योगों के विकास के लिए १९३४ में एक पंच-वर्षीय योजना भी लागू की गई, तथापि देश के लोगों की दशा सुधारने के लिए कोई क्रान्तिकारी कदम नहीं उठाया गया। प्रगति के लिए घिसे पिटे साधनों का ही बहुधा प्रयोग किया गया। वास्तव में कमाल पाशा कोई कुशल अर्थशास्त्री नहीं थे, वे क्रान्तिकारी परिवर्तनों (जैसे रूस में देखने को मिलते हैं) के पक्ष में भी नहीं थे। अतः समाजवादी अथवा साम्यवादी अर्थव्यवस्था सरीखी वस्तु को तुर्की में लागू करने की बात उनकी कल्पना से परे थी। उनके राजनैतिक एवम् सामाजिक विचार मुख्यतः फ्रांसीसी क्रान्ति के अध्ययन पर आधारित थे।

कमाल पाशा की रुचि कृषि की उन्नति में अधिक थी, क्योंकि तुर्की का किसान वहाँ की सेना और राष्ट्र की रीढ़ समझा जाता था। तुर्की में बड़े पूँजीपति न होने से, वहां औद्योगिक विकास के लिये पूँजी की कमी थी। साथ ही ग्रीस के लोगों तथा अन्य बाहरी लोगों के निष्कासन से भी तुर्की का आर्थिक जीवन पूँजी

की दृष्टि से दुर्बल हो गया। कमाल पाशा बाहरी पूँजी के तुर्की में प्रवेश से डरते थे। उनका विश्वास था कि बाहरी पूँजी को यदि तुर्की में उन्मुक्त रूप से आने दिया गया तो उससे राष्ट्र की राजनीतिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायेगी। पूँजी लगानेवाली बाहरी शक्ति निश्चय ही तुर्की जनता का शोषण करेगी। अत: कमाल पाशा बाहरी पूँजी की अपेक्षा निजी साधनों पर अधिक विश्वास करते थे, भले ही उससे औद्योगिक विकास की गति धीमी पड़ जाय। और हुआ भी यही। जितनी प्रगति आर्थिक क्षेत्र में होनी चाहिए थी उतनी कमाल पाशा के नेतृत्व में नहीं हो सकी। फिर भी उनके मार्गदर्शन में तुर्की ने सर्वांगीण प्रगति की। उन्हें नवीन तुर्की का निर्माता कहना अनुचित न होगा। कमाल पाशा की जनता पार्टी ने १९३५ में जिन सिद्धान्तों की घोषणा की तथा जिन्हें १९२८ के गणतन्त्रात्मक संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में ग्रहण किया, वे सब कमाल पाशा द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही थे। ये राष्ट्रीयतावाद, गणतन्त्रात्मक राज्य, वर्गसंघर्ष एवं पूँजीवाद से मुक्त जनतन्त्र, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करनेवाले प्रभुत्वपूर्ण राज्य, धर्मनिरपेक्षतावाद तथा क्रान्तिवाद के सिद्धान्त थे। इन सिद्धान्तों के आधार पर ही कमाल पाशा एवं उसके सहयोगियों ने तुर्की में राजनीतिक एवं आर्थिक क्रान्ति की।

कमाल पाशा को मदिरा पीने की बुरी आदत थी। इसी से १० नवम्बर, १९३८ को इस्तानबुल में उनकी मृत्यु हो गयी।

अध्याय ३

मिस्र [संयुक्त अरब गणराज्य]

मिस्र का स्वतन्त्रता संग्राम :

जैसा द्वितीय अध्याय में बताया जा चुका है, १९५८ में मिस्र और सीरिया के संगठन के फलस्वरूप मिस्र 'संयुक्त अरब गणराज्य' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। यद्यपि सितम्बर, १९६१ में सीरिया अरब गणराज्य से पृथक् हो गया, तथापि कर्नल नासिर ने अपने देश का नाम मिस्र के स्थान पर संयुक्त अरब गणराज्य ही रहने दिया। आज वह संसार में इसी नाम से प्रसिद्ध है। मिस्र का कुल क्षेत्रफल ३, ८६, १९८ वर्ग मील है और जनसंख्या साढ़े तीन करोड़ से भी अधिक है। इसकी राजधानी काहिरा है।

बहुत लम्बे समय तक मानव सभ्यता का यह प्राचीन देश तुर्की के आटोमन साम्राज्य का अङ्ग-विशेष बना रहा। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिस्र के तुर्की पाशा मेहमत अली ने खदीव की उपाधि ग्रहण करके स्वतन्त्र मिस्र की स्थापना की, पर तुर्की का प्रभाव उसपर बना रहा।

मेहमत अली खदीव की १८४९ में मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारी निर्बल और अयोग्य थे। विदेशी शक्तियों ने मिस्र में अपने निजी लाभ हेतु धन लगाना आरम्भ कर दिया। बिगड़ती हुई आर्थिक दशा के कारण मेहमत अली के उत्तराधिकारी विदेशी वित्तदाताओं को ऐसा करने से रोक नहीं सके, और स्वयं भी उनके साथ मिलकर मिस्र का आर्थिक विकास करना चाहा। अंग्रेज और फ्रांसीसी वित्तदाताओं ने खदीवों से अपनी मिस्र में लगाई हुई धनराशि पर बहुत अधिक सूद लिया। इस प्रकार मिस्र इंग्लैण्ड और फ्रांस के वित्तदाताओं की चाल-बाजी का शिकार बन गया। इसी बीच स्वेज़ नहर का निर्माण हुआ। इसका निर्माण बेगारी के द्वारा तथा श्रमिकों के साथ बहुत ही अमानवीय व्यवहार करके

किया गया। १८६९ में यह व्यापार और आवागमन के लिये खोल दी गई। भारत और पूर्व के देशों के साथ व्यापार करने की दृष्टि से स्वेज नहर इंग्लैण्ड के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई। अतः इंग्लैण्ड ने इसे और मिस्र को अपने अधिकार में लेने की योजना बनाई।

१८७५ में इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री डिजरायली (Disraeli) ने निर्धन खदीवों से, उन्हें चालाकी से फुसलाकर, बहुत ही कम कीमत पर स्वेज नहर के अधिकांश भाग खरीद लिये। कुछ हिस्से फ्रांस ने खरीद लिये। इससे इंग्लैण्ड को न केवल आर्थिक लाभ हुआ, प्रत्युत स्वेज नहर पर आर्थिक दृष्टि से उसका बहुत कुछ अधिकार हो गया। फ्रांस और इंग्लैण्ड ने भागीदारी में इसपर नियन्त्रण किया और इससे प्राप्त हुए आर्थिक लाभ को आपस में बाँटा। आर्थिक दृष्टि से खदीवों का नहर पर कोई नियन्त्रण नहीं रह गया।

१८७९ से इंग्लैण्ड ने मिस्र पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने की दृष्टि से उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। इससे मिस्रियों में विद्रोह की भावना फैल गई। मिस्र में एक राष्ट्रीय दल (Nationalist Party) का उदय हुआ, जिसने बाहरी शक्तियों को मिस्र से बाहर खदेड़ने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये।

इस दल का नेता युवा सैनिक अरबी पाशा था। अरबी पाशा श्रमिक वर्ग से सम्बन्ध रखता था, जो मिस्र की सेना में एक सामान्य सैनिक के रूप में भर्ती हो गया था। उसका प्रभाव मिस्र की जनता पर धीरे धीरे बढ़ता गया और वह युद्ध-मन्त्री बन गया। युद्ध-मन्त्री के रूप में उसने अंग्रेजों और फ्रांसीसी अधिकारियों के आदेशों को मानने से इन्कार कर दिया। इसका अर्थ था युद्ध। १८८२ में अंग्रेजों के जहाजी बेड़े ने आक्रमण कर दिया। बम वर्षा की गई और अलक्जेन्ड्रिया (जिसे अब सिकन्दरिया कहा जाता है) को जलाकर भस्म कर दिया गया। युद्ध में मिस्र परास्त हुआ, और उसपर अंग्रेजों का पूर्ण अधिकार हो गया।

अन्तरराष्ट्रीय विधि की दृष्टि से यह एक विचित्र स्थिति थी। मिस्र तुर्की साम्राज्य का एक भाग था, जिसपर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया था। अंग्रेजों ने मिस्र के प्रशासन की देखरेख के लिये वहाँ अपना एक एजेन्ट रख दिया। इसके सामने खदीव और उसके मन्त्रीगण असहाय थे। बहुत कुछ मिस्र की स्थिति भारत की रियासतों जैसी थी। प्रथम एजेन्ट मेजर बेरिंग (Major Baring) था, जिसने पच्चीस वर्षों तक मिस्र पर शासन किया और जो बाद में लार्ड क्रोमर बन गया। २५ वर्षों के बाद भी मिस्र पर उतना ही ऋण शेष रहा जितना पहले था।

फ्रांसीसी अंग्रेजों के मिस्र पर अधिकार से प्रसन्न नहीं थे, क्योंकि लूट में उन्हें कोई हिस्सा प्राप्त नहीं हुआ था। वास्तव में कोई भी अंग्रेजों के मिस्र पर अधिकार से प्रसन्न नहीं था। अंग्रेजों ने सबको सन्तुष्ट रखने के लिये यही कहा कि वे शीघ्र ही मिस्र से हट जाएँगे, अतः किसी को भी चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने इस बात को बार बार कहा, पर मिस्र पर से अपना आधिपत्य समाप्त नहीं किया।

फ्रांस को सन्तुष्ट करने के लिये १९०४ में अंग्रेजों ने उसके साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार उन्होंने फ्रांस को मोरक्को में पूरी छूट (free hand) दे दी और बदले में फ्रांस ने मिस्र पर इंगलैण्ड का अधिकार स्वीकार कर लिया। तुर्की से, जिसके साम्राज्य में मिस्र था, इस सम्बन्ध में कोई सलाह नहीं ली गई। मिस्र से तो इस सम्बन्ध में पूछने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। यह सौदा पूर्णतः लेन देन का था।

मिस्र में विदेशी व्यापार की प्रगति के साथ साथ नये मध्यम वर्ग का उदय हुआ। ऐसा १९वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ। इस वर्ग का एक सदस्य था साद जग्लुल (Saad Zaghlul)। यह उस समय, जब कि अरबी पाशा ने अंग्रेजों के विरुद्ध (१८८१-८२ में) संघर्ष किया था, एक युवक था। उसने अरबियों के अधीन कार्य किया था। उस समय से लेकर १९२७ तक, जब उसकी मृत्यु हुई, उसने मिस्र की स्वतन्त्रता के लिये बहुत कार्य किया और मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेता बन गया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात्, शांति स्थापित होने पर, १९१८ में मिस्र में राष्ट्रवादी पुनः सक्रिय हो गये जिन्हें प्रथम महायुद्ध के मध्य अंग्रेजों ने मार्शल ला के अधीन दबा दिया था। राष्ट्रवादियों ने पेरिस में होनेवाले शांति सम्मेलन में मिस्र की स्वतन्त्रता के प्रश्न को रखना चाहा। इसके लिये उन्होंने साद जग्लुल पाशा के नेतृत्व में लन्दन और पेरिस अपना प्रतिनिधि मण्डल भेजने का निश्चय किया। इसके लिये मिस्र में वफद (Wafd) पार्टी का निर्माण हुआ। वफद का अर्थ होता है प्रतिनिधि की नियुक्ति (Deputation)। अंग्रेजों ने प्रतिनिधि मण्डल को लन्दन जाने से रोका और जग्लुल पाशा को मार्च, १९१९ में बन्दी बना लिया गया। इससे मिस्र में हिंसात्मक आन्दोलन फैल गया। कुछ अंग्रेजों को कत्ल कर दिया गया और काहिरा और कुछ अन्य स्थान आन्दोलन कमेटी के हाथ में चले गये। इस हिंसात्मक आन्दोलन में विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों ने बड़ा भाग लिया। यद्यपि हिंसात्मक आन्दोलन को दबा दिया गया, तथापि राष्ट्रवादी चुप नहीं बैठे। उन्होंने अपने आन्दोलन का स्वरूप बदल दिया। अब उन्होंने शांतिपूर्ण

ढंग से अपना आन्दोलन चलाया। फलस्वरूप इंगलैण्ड ने लॉर्ड मिलनर के नेतृत्व में एक कमीशन भेजा, जिसका मिस्रियों ने पूर्ण बहिष्कार किया। कमीशन ने राष्ट्रवादियों के मनोबल से प्रभावित होकर कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशें कीं, पर इंगलैण्ड ने उन्हें ठुकरा दिया।

यह आन्दोलन तीन वर्षों तक चलता रहा। इस बीच जग्लुल पाशा को मुक्त कर दिया गया, पर १९२१ में उन्हें पुनः बन्दी बनाकर देश से निष्कासित कर दिया गया। इससे स्थिति और गम्भीर हो गई। हारकर अंग्रेजों को समझौते के लिये बाध्य होना पड़ा। प्रथम महायुद्ध के बीच तुर्की के जर्मनी से मिल जाने पर ब्रिटेन ने मिस्र को तुर्की के नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त करके अपने संरक्षण में ले लिया था। पर राष्ट्रवादियों के आन्दोलन से थककर २८ फरवरी, १९२२ को ब्रिटेन ने अपना संरक्षण समाप्त करके उसे सर्वोच्च प्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र राज्य बना दिया। लेकिन यह निर्णय भी किया गया कि जब तक दोनों में निम्न विषयों पर कोई समझौता नहीं हो जाता तब तक इनपर इंगलैण्ड का पूर्ण अधिकार माना जायेगा—(१) मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य के मार्गों की सुरक्षा, (२) प्रत्यक्ष या परोक्ष विदेशी आक्रमणों और हस्तक्षेप से मिस्र की रक्षा, एवं (३) मिस्र और सूडान में विदेशी हितों तथा अल्पसंख्यकों का संरक्षण। परन्तु मिस्र निवासी इससे सन्तुष्ट नहीं थे और उन्होंने विदेशी प्रभाव से पूर्ण मुक्ति का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। मिस्र निवासियों का आन्दोलन चलता रहा और मिस्र और इंगलैण्ड में किसी समझौते पर पहुँचने के लिये वार्ताएँ चलती रहीं। अगस्त, १९३६ में दोनों पक्षों में यह सन्धि हुई कि युद्धकाल में एक दूसरे से सहयोग करेंगे और मिस्र युद्ध के समय ब्रिटेन को सब सुविधाएँ प्रदान करेगा, परन्तु शान्तिकाल में ब्रिटेन के दस हजार सैनिकों और चार सौ चालकों से अधिक सेना स्वेज नहर के उत्तरी सिरे पर नहीं रहेगी। सूडान पर मिस्र और ब्रिटेन का संयुक्त शासन रहेगा। यह सन्धि २० वर्षों तक लागू रहेगी।

द्वितीय महायुद्ध में यद्यपि मिस्र ने धुरी राष्ट्रों (Axis Powers) के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की, तथापि ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों (Allies) ने इस देश का सैनिक छावनियों की भाँति प्रयोग किया। बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माण के लिये होनेवाले सानफ्रान्सिस्को सम्मेलन में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की दृष्टि से मिस्र ने जर्मनी और जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् :

द्वितीय महायुद्ध के बाद मिस्र के सम्बन्ध ब्रिटेन के साथ सुधरने की बजाय

और बिगड़ गये। मिस्र के राष्ट्रवादियों ने अपनी भूमि से सभी ब्रिटिश सेनाएँ हटाई जाने की माँग की। उनका मत था कि १९३६ की सन्धि तुरन्त रद्द कर दी जाय तथा स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण हो। उन्होंने सूडान पर से ब्रिटिश नियन्त्रण हटाये जाने तथा उसपर मिस्र की प्रभुता स्थापित होने की भी माँग की। ब्रिटेन इन माँगों को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। अतः दोनों देशों के सम्बन्ध कटुतर होते गये।

१९४६ में मिस्री प्रधान मन्त्री सिदकी का ब्रिटिश विदेश-मन्त्री बेविन के साथ एक समझौता हुआ जिसके अनुसार ब्रिटिश सेना का काहिरा और सिकन्दरिया से ३१ मार्च, १९४७ तक तथा शेष भाग से सितम्बर, १९४९ तक हट जाना तय हुआ। पर यह समझौता क्रियान्वित नहीं हो सका। अतः ८ जुलाई, १९४७ को मिस्र ने अपना मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष पेश किया। सुरक्षा परिषद् से मिस्र ने कहा कि ब्रिटेन मिस्र की जनता की इच्छा के विरुद्ध उसकी भूमि पर अपनी सेनाएँ रखे हुए है। अतः सुरक्षा परिषद् उन्हें अविलम्ब पूर्ण रूप से मिस्र से निकलवाने तथा सूडान में ब्रिटिश शासन समाप्त करने के आदेश दे। ब्रिटेन का कहना था कि क्योंकि १९३६ की सन्धि २० वर्षों के लिये की गयी थी, अतः उसे मिस्र में अपनी सेनाएँ रखने का अधिकार है। सूडान के सम्बन्ध में ब्रिटेन ने दलील दी कि क्योंकि उसने (सूडान से) सम्बन्धित १९४६ की सन्धि मिस्र ने रद्द कर दी है, अतः उसमें पहली सन्धि की व्यवस्थाएँ यथापूर्व चल रही हैं। ५ अगस्त से लेकर १० सितम्बर, १९४७ तक विचार करने के बाद भी सुरक्षा परिषद् किसी निर्णय पर पहुँचने में असफल रही। ब्रिटेन अपनी जिद पर अड़ा रहा, और उसने अपनी सेना मिस्र से नहीं हटाई।

ब्रिटेन के इस विवेकहीन व्यवहार के कारण मिस्र में ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन उग्र हो गया। इसी बीच १९४८ में फिलिस्तीन के एक बड़े भाग को इजरायल नामक एक नवीन राज्य के रूप में संगठित किया गया। इस राज्य का निर्माण यहूदी राष्ट्रीयता की माँग को पूरा करने के लिए किया गया। इससे अरब राष्ट्रों की भावनाओं पर एक भारी आघात पहुँचा।

अब मिस्रवासियों की दो प्रमुख माँगें उग्रतम रूप में प्रकट होने लगीं—

१. मिस्र से सभी ब्रिटिश सेनाओं की वापसी और
२. सूडान को मिस्र के साथ मिलाना। ब्रिटिश सरकार ने दोनों माँगों को अनुचित बताकर इनकी अवहेलना की। फलस्वरूप मिस्र के तत्कालीन प्रधान मन्त्री नहस पाशा ने अक्टूबर, १९५१ में १९३६ की सन्धि को रद्द घोषित कर दिया। ब्रिटेन ने इसपर आपत्ति प्रकट करते हुए

माँग की कि सन्धि की शर्तों पर पुनः विचार किया जाय। साथ ही उसने स्वेज क्षेत्र मे अपनी सैन्य शक्ति बढा दी। इसका परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण मिस्र मे ब्रिटेन विरोधी दगे भडक उठे। इससे मिस्र की राजनीतिक स्थिति चिन्ताजनक हो गयी।

मिस्र में राजतन्त्र का अन्त एवम् सैनिक क्रान्ति

मिस्र मे राष्ट्रवादियो का जोर बढता गया। देश मे दगो के कारण स्थिति इतनी बिगडी कि जनवरी, १९५२ मे मार्शल लॉ की घोषणा करनी पडी, और जून, १९५२ तक चार प्रधान मन्त्री बदल गये। जुलाई २६, १९५२ को मिस्र की राजधानी काहिरा मे सहसा एक सैनिक क्रान्ति हो गई, जिसके नेता थे जनरल नगीब और कर्नल नासिर। मन्त्रिमण्डल भग कर दिया गया और शाह फारुग मिस्र छोडकर भाग गये। सैनिक नेताओ ने क्रान्ति का उद्देश्य शासन मे स्थिरता लाना बताया और स्वार्थी तत्वों को समाप्त करके लोककल्याण की दृष्टि से शासन का सचालन किया गया, क्योंकि पिछले १० वर्षों मे मिस्र मे १६ सरकारे बदल चुकी थी और जनता मन्त्रिमण्डलो और राजा से ऊब चुकी थी। क्रान्ति के नेताओं ने एक क्रान्ति-परिषद् की स्थापना की जिसने वास्तव मे सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक पद्धतियो मे बडे सुधार किए।

क्रान्ति के पश्चात् जनरल नगीब राष्ट्रपति बने। फरवरी, १९५३ मे मिस्र और ब्रिटेन के बीच एक सन्धि हुई जिसके द्वारा मिस्र मे स्वशासन की स्थापना की गई और सूडान का धीरे धीरे आत्मनिर्णय का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। जुलाई, १९५४ मे ब्रिटेन ने यह स्वीकार कर लिया कि अगले २० महीनों मे वह अपने ८० हजार सैनिक मिस्र से हटा लेगा।

उपर्युक्त सन्धि होने के कारण जनरल नगीब के रुख मे पश्चिम के प्रति पर्याप्त नरमी आ गई जिसे उग्र सैनिक नेताओं और राष्ट्रवादियों ने ठीक नही समझा। इसी समय राष्ट्रपति नगीब ने क्रान्ति-परिषद् से यह माँग की कि वह उन्हे यह अधिकार प्रदान कर दे कि आवश्यकता पडने पर वह परिषद् के निर्णय को भी रद्द कर दें। इस माँग से सैनिक क्रान्ति-परिषद् अप्रसन्न हो गई। राष्ट्रपति जनरल नगीब को देशद्रोह का अभियोग लगाकर अपदस्थ कर दिया गया, और अक्टूबर, १९५४ मे शासन की सम्पूर्ण सत्ता कर्नल नासिर को सौप दी गई। इससे पूर्व १९५३ मे सूडान मे चुनाव कराये जा चुके थे और ९ जनवरी, १९५४ मे वहाँ स्वतन्त्र शासन की स्थापना कर दी गई थी। शीघ्र ही मिस्र और सूडान मे निकट सम्बन्धो की स्थापना हुई, और दोनो मे पारस्परिक सहयोग का सूत्रपात हुआ।

पूर्ण शक्ति ग्रहण करने के बाद कर्नल नासिर ने ब्रिटिश फौजों को अपने देश से हटाया और अपने देश की उन्नति की ओर ध्यान दिया। उन्होंने आस्वान बाँध के निर्माण की एक योजना बनाई, और इसके लिये अमेरिका से विपुल धनराशि प्राप्त करनी चाही। इसी बीच कर्नल नासिर ने सोवियत गुट से शस्त्रास्त्र प्राप्त करने के प्रयास किये और चेकोस्लोवाकिया से उन्हें रुई के बदले शस्त्र प्राप्त भी हो गए। उन्होंने यह भी दावा किया कि सोवियत संघ आस्वान बाँध के लिए धनराशि देने को तैयार है। मिस्र को साम्यवादी देशों की ओर झुकते हुए देखकर अमेरिका अप्रसन्न हो गया, और उसने मिस्र को आर्थिक सहायता देने से इनकार कर दिया। इससे कर्नल नासिर का पश्चिमी देशों की ओर रुख और भी अधिक कठोर हो गया। उन्होंने २६ जुलाई, १९५६ को स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया, और इसके मुनाफे को आस्वान बाँध में लगाने की घोषणा कर दी। मिस्र को इसके परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड, फ्रान्स और इज़रायल से संघर्ष करना पड़ा, जिसमें वह पूर्णतः विजयी हुए। यहीं से मिस्र की वास्तविक शक्ति एवं प्रगति का इतिहास आरम्भ होता है, जिसका वर्णन कर्नल नासिर के राजनीतिक विचारों एवम् उसकी योजनाओं पर दृष्टिपात करते समय किया जायगा।

साद जग़लुल पाशा (१८६०-१९२७) :

साद जग़लुल पाशा मिस्र के एक कुशल राजनीतिज्ञ, देशभक्त तथा २०वीं शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्रीय दल (वफ्द पार्टी) के प्रधान नेता के रूप में जाने जाते हैं। उनका जन्म १८६० में मिस्र के अल-ग़रबिया (Al Gharbiyah) प्रान्त में हुआ था तथा वे मिस्र के किसान वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। उनकी शिक्षा काहिरा के मुस्लिम विश्वविद्यालय अल-अज़हर में हुई थी। उन्होंने आन्तरिक मामलों के मन्त्रालय में एक अधिकारी के रूप में जीवन प्रारम्भ किया। १८८२ में, ब्रिटेन द्वारा मिस्र पर नियन्त्रण स्थापित करने के पश्चात्, उन्हें खदीव त्युफिक के आदेश से कुछ समय के लिए नजरबन्द कर दिया गया। मुक्त होने के पश्चात् उन्होंने वकालत आरम्भ की, और १८९३ में वे अपीली अदालत में न्यायाधीश बन गये। इससे उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। उन्होंने फ्रान्सीसी भाषा का अध्ययन किया और तुर्की अधिकारी वर्ग के साथ उठना बैठना आरम्भ कर दिया। बड़े लोगों से सम्बन्ध स्थापित होने के बाद भी उन्होंने राष्ट्रवादियों के कार्यक्रमों में भाग लेना नहीं छोड़ा।

१९०६ में वे शिक्षामन्त्री और १९१० में न्यायमन्त्री बने। १९१३ में वे चेम्बर के उपाध्यक्ष निर्वाचित हुए, जिसकी स्थापना नवीन संविधान के अनुसार

की गई थी। शीघ्र ही वे राष्ट्रीय पार्टी (Nationalist Party) के प्रमुख वक्ता के रूप में माने जाने लगे।

यद्यपि जग्लुल पाशा राजनीति में सयम रखने की बात कहते थे, तथापि प्रथम महायुद्ध के मध्य देश में भारी असन्तोष फैला। अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन द्वारा प्रतिपादित १४ सिद्धान्तों की घोषणा के तुरन्त बाद नवम्बर, १९१८ में ब्रिटेन और फ्रांस ने सयुक्त रूप से यह सूचित किया कि तुर्की के अधिकार से मुक्त होनेवाले सभी राष्ट्रों को आत्मनिर्णय दे दिया जायगा। १५ नवम्बर को जग्लुल पाशा ने अपने दो साथियों–अब्दुल अजीज वे फाहमी और शरावी पाशा–के साथ ब्रिटिश हाई कमिश्नर रेजिनाल्ड विंगेट से भेंट की। प्रतिनिधि-मण्डल ने रेजिनाल्ड से मिस्र को स्वतंत्रता प्रदान करने और इग्लैण्ड के साथ सहयोग करने की मांग की, और यह प्रार्थना की कि उन्हें लन्दन जाकर ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपने विचार रखने की अनुमति प्रदान की जाए। पर इग्लैण्ड सरकार ने रेजिनाल्ड को सूचित किया कि किसी भी राष्ट्रवादी को मिस्र छोडने की अनुमति प्रदान न की जाय। इससे राष्ट्रवादियों में असन्तोष व्याप्त हो गया।

जनवरी, १९१९ में रेजिनाल्ड विंगेट को लन्दन बुला लिया गया, जहाँ उन्होंने मिस्री स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में प्रयास किये। लार्ड कर्जन ने, जो उस समय अस्थायी रूप से विदेश विभाग सँभाल रहे थे, रेजिनाल्ड के प्रयासों का विरोध किया। ब्रिटिश सरकार अन्ततः इस बात के लिए सहमत हो गई कि मिस्री सरकार के दो मन्त्री लन्दन आकर अपना मामला सरकार के समक्ष रख सकते हैं। लेकिन मिस्री सरकार का कोई भी मन्त्री बिना राष्ट्रवादियों के नेता को साथ लिए लन्दन जाने को तैयार नहीं था। सुल्तान ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया, पर वह जग्लुल पाशा को साथ में ले जाने के विचार से सहमत नहीं था। जग्लुल पाशा को वह सन्देह की दृष्टि से देखता था, क्योंकि उसने सरक्षण देनेवाली सरकार के विरुद्ध विद्रोह में भाग लिया था। इसका राष्ट्रवादियों ने तथा अधिकांश मिस्री जनता ने विरोध किया, और परिणाम स्वरूप पूरे मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। सुल्तान के लिये नया मन्त्रिमण्डल बनाना कठिन हो गया। अतः उसने ब्रिटिश सरकार से रक्षा के हेतु प्रार्थना की। ८ मार्च, १९१९ को जग्लुल पाशा को, उसके तीन अन्य साथियों के सहित बन्दी बना कर माल्टा भेज दिया गया। हाई कमिश्नर के रूप में लार्ड एलनबी की नियुक्ति (ब्रिटिश सरकार द्वारा) की गई। लार्ड एलनबी शान्ति की नीति पर अमल करनेवाले व्यक्ति थे, अतः उन्होंने तीनों माल्टा के बन्दियों को मुक्त कर दिया। मुक्त होने पर जग्लुल पाशा, अपने अन्य दो साथियों सहित, मिस्र का स्वतन्त्रता सम्बन्धी मामला लेकर पेरिस गये, जहाँ पर शान्ति

यद्यपि आरम्भ में कर्नल नासिर प्रशासन के कार्य में अनुभवहीन थे, तथापि शीघ्र ही उन्होंने राष्ट्रीय एवम् अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में ख्याति अर्जित कर ली। उनकी पहली सफलता थी उनके द्वारा १९५४ में ब्रिटिश सेनाओं को स्वेज नहर के क्षेत्र से वापसी से सम्बन्धित वातचीत करके ठोस निर्णय पर पहुँचना। उनकी दूसरी सफलता थी उनके द्वारा २६ जुलाई, १९५६ को स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा करना। उनके इस कार्य से अरब राज्यों में उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। इस प्रतिष्ठा के फलस्वरूप फरवरी, १९५८ में सीरिया और मिस्र का संगठन स्थापित हुआ, जिसने संयुक्त अरब गणराज्य को जन्म दिया। संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति बने कर्नल नासिर। परन्तु जैसा अध्याय १ में बताया गया है, इसमें सम्मिलित होनेवाले देशों की अस्थिर आन्तरिक राजनीति के कारण नासिर का अरब एकता का स्वप्न पूरा नहीं हो सका। परन्तु १९६४ में आस्वान बाँध का निर्माण पूरा हो गया। आस्वान बाँध की पूर्ति पर जो उत्सव मनाया गया उसमें रूस के प्रधान मन्त्री निकिता ख्रुश्चेव तथा यमन, अल्जीरिया और ईराक के राष्ट्रपतियों ने भाग लिया।

कर्नल नासिर के प्रशासन की अन्य विशेषताएँ हैं—उनकी इजरायल के प्रति बढ़ती हुई शत्रुता; उनकी उपनिवेशवाद के विरुद्ध नीति; उनकी तटस्थ राष्ट्रों के प्रति सहयोग की भावना; उनका सोवियत संघ के प्रति स्पष्ट झुकाव तथा उसके साथ अस्त्रास्त्र एवम् आर्थिक सहायता की प्राप्ति के लिए समझौते; अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों से सहायता-प्राप्ति के लिए समय समय पर उनके द्वारा किये गये प्रयत्न; नये उभरते हुए अफ्रीकी राष्ट्रों के नायकत्व के लिए उनके द्वारा किये गये प्रयत्न; तथा उनके द्वारा अपने विचारों के प्रसारण हेतु काहिरा आकाशवाणी का स्वतन्त्र रूप से निरन्तर प्रयोग।

उन्होंने अरब समाजवाद के सिद्धान्तों की घोषणा करते हुए संयुक्त अरब गणराज्य की अर्थ-व्यवस्था में निम्नलिखित क्रान्तिकारी परिवर्तन किये :

१. मिस्र के ७७ बड़े बैंकों, बीमा व्यावसायिक कम्पनियों आदि का राष्ट्रीयकरण किया।
२. ७९ बड़ी निजी कम्पनियों के ५२ प्रतिशत शेयर सरकार ने अपने हाथ में ले लिये।
३. शेष कम्पनियों के संचालकों की संख्या ७ तक सीमित कर दी जिसमें एक श्रमिकों का एवं स्टाफ का प्रतिनिधि होना आवश्यक है। इनका वेतन भी पाँच हजार मिस्री पौण्ड से अधिक नहीं हो सकता तथा एक व्यक्ति एक से अधिक कम्पनी का डायरेक्टर नहीं हो सकता।

४. कोई भी व्यक्ति सौ एकड से अधिक भूमि नही रख सकता ।
५ दस हजार पौण्ड से अधिक की आय पर ९० प्रतिशत कर लगा दिया गया ।
६. कम्पनियो की आर्थिक बचत का ५० प्रतिशत श्रमिकों के कल्याण के लिए सुरक्षित कर दिया गया ।

सरकार की उपर्युक्त नीतियो के कारण ४०० से भी अधिक बडी उद्योग-वाणिज्य संस्थाएँ सरकारी क्षेत्र मे आ गयी । यह उल्लेखनीय है कि अरब समाजवाद रूस और चीन के समाजवाद से भिन्न है । राष्ट्रपति नासिर और उनके साथी रूसी और चीनी समाजवाद को देश के लिए हानिकर मानते थे । राष्ट्रपति नासिर का कहना था कि *साम्यवादी नेता कल के कल्पित स्वर्ग को लाने के लिए आज* जनता को अनावश्यक कष्ट पहुँचा रहे हैं । कर्नल नासिर साम्यवादियों की भाँति धर्म को 'जनता की अफीम' नही मानते थे ।

कर्नल नासिर के अन्य राजनीतिक एवम् आर्थिक विचारो की झलक उनके नेतृत्व से निर्मित १९५८ के संविधान से मिलती है । ५ मार्च, १९५८ के अस्थायी संविधान (Provisional Constitution) के अनुसार सयुक्त अरब गणराज्य को जो एक 'प्रजातन्त्रात्मक, स्वतन्त्र एवम् प्रभुसत्ता सम्पन्न गणतन्त्र' घोषित किया गया उसकी आधार-शिला सुव्यवस्थित अर्थ-व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय उत्पादन मे निरन्तर वृद्धि करना तथा जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना है । कानून की सीमाओ के अन्दर जनता को अपनी सम्पत्ति एवम् अन्य अधिकारो के उपयोग की स्वतन्त्रता रहेगी । न्यायाधीश पूर्ण स्वतन्त्र होंगे तथा उन्हे अपने पद से नही हटाया जा सकता । प्रत्येक मिस्री के लिए सैनिक प्रशिक्षण अनिवार्य रखा गया है । कार्यकारी सत्ताधिकारी राष्ट्रपति होगा, जो सेना का अध्यक्ष भी रहेगा । राष्ट्रपति को न केवल उप-राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल के सदस्यो की नियुक्ति तथा उन्हें उनके पद से हटाने का अधिकार होगा, प्रत्युत उसे राष्ट्रीय सभा (National Assembly) के आधे सदस्यो को नामजद करने का भी अधिकार रहेगा । साथ ही उसे विधानो या कानूनो का सूत्रपात करने तथा उन्हे प्रचारित करने और राष्ट्रीय सभा को बुलाने एवम् उसे स्थगित और भंग करने का भी अधिकार होगा । उसे अन्य राष्ट्रो के साथ सन्धि करने तथा राष्ट्रीय सभा के अवकाश के समय आदेश प्रसारित करने का अधिकार होगा, परन्तु इन आदेशो को राष्ट्रीय सभा बाद में अपने दो-तिहाई मत से रद्द भी कर सकती है । २१ फरवरी, १९५८ को कर्नल नासिर लोकमत-संग्रह द्वारा सर्वानुमति से संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए ।

राष्ट्रीय सभा को सन्धियों को स्वीकृत एवम् अस्वीकृत करने, मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से प्रश्न पूछने तथा उनके प्रति अविश्वास प्रस्ताव पास करके उन्हें उनके पद से हटाने, और सरकार की नीतियों पर चर्चा करने का अधिकार दिया गया। राष्ट्रीय सभा के आधे सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा किया जाना तथा आधे सदस्यों का निर्वाचन राष्ट्रीय संघ (National Union) द्वारा किया जाना स्वीकार किया गया। संविधान के अनुसार राष्ट्रीय सभा का उद्देश्य लोगों को राजनीतिक शिक्षा देना तथा सरकार के कार्यों में उनके सक्रिय भाग लेने के लिए प्रयत्न करना निश्चित किया गया। मिस्र में केवल एक ही राजनीतिक दल की आवश्यकता समझी गई और उस दल को राष्ट्रीय संघ की संज्ञा प्रदान की गई। ८ जुलाई, १९५९ को मिस्री और सीरियाई मतदाताओं ने १६ हजार स्थानीय कौंसिलों के सदस्यों का निर्वाचन किया; स्थानीय कौंसिलों ने प्रान्तीय कौंसिलों का निर्वाचन किया और अन्त में प्रान्तीय कौंसिलों ने राष्ट्रीय संघ की साधारण सभा (General Congress of the National Union) के सदस्यों को निर्वाचित किया जिसमें से राष्ट्रीय सभा के ५० प्रतिशत सदस्यों की नियुक्ति की गई। संयुक्त अरब गणराज्य का स्वरूप संघात्मक के स्थान पर संगठनात्मक रखा गया, जिसमें केवल एक ही राजनीतिक दल को मान्यता प्रदान की गई। इसके अनुसार सीरिया में साम्यवादी दल को भंग कर दिया गया। जैसा पहले बताया जा चुका है, यह संगठन शीघ्र ही समाप्त हो गया। अप्रैल, १९६३ में मिस्र, ईराक और सीरिया का पुनः एक संगठन बना, जिसके स्वरूप को (मिस्र और सीरिया के १९५८ के संगठन के विपरीत) संघात्मक रखा गया।

आर्थिक क्षेत्र में कर्नल नासिर मिलीजुली अर्थ-व्यवस्था के पक्ष में थे। उनके अनुसार मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था का अर्थ है—अधिक नियन्त्रण एवम् अधिक पूँजीवाद (much control and much capitalism)। आस्वान बाँध के निर्माण हेतु तथा अन्य योजनाओं के लिए उन्होंने सोवियत संघ, चेकोस्लोवाकिया आदि साम्यवादी देशों से आर्थिक समझौते किये। मिस्र के आर्थिक विकास के लिए उन्होंने पश्चिमी देशों से भी वित्तीय सहायता प्राप्त की, किन्तु उनका झुकाव पश्चिमी देशों की अपेक्षा साम्यवादी देशों की ओर अधिक था। १९६७ में इसरायल और अरब राष्ट्रों के बीच हुए युद्ध के पश्चात् मिस्र का पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति रुख कठोर हो गया। सोवियत संघ के साथ उसके सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ एवम् मैत्री-पूर्ण हो गए। इसरायल और अरब राष्ट्रों के बीच संघर्ष में, जिसका अगुआ मिस्र है, सोवियत रूस ने अरब राज्यों को पूरा पूरा समर्थन दिया है। यद्यपि प्रारम्भ में रूस का रवैया इसरायल समर्थक था, लेकिन शनैः शनैः मध्य पूर्व में साम्यवादी

प्रभाव बढ़ाने की आकांक्षा से उसका रूस अरब राष्ट्रों के पक्ष में होता गया, जिसकी सबसे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति १९५६ के स्वेज संकट के समय हुई। १९६७ के संकट के बाद तो वह सब प्रकार से अरब राष्ट्रों की सहायता कर रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी रूस संयुक्त अरब गणराज्य तथा अन्य अरब राष्ट्रों की ढाल का काम कर रहा है।

कर्नल नासिर की सबसे अधिक उपलब्धियाँ भूमि-सुधार के क्षेत्र में मानी जाती हैं। १९५४ तक मिस्र में ६,२०,००० (छः लाख बीस हजार) एकड़ भूमि धनिक भूमिपतियों अथवा जमींदारों से छीनकर दरिद्र किसानों में वितरित कर दी गई। १९६१ में विदेशी भूमिपतियों की समस्त कृषिभूमि (लगभग एक लाख चालीस हजार एकड़) का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, और उसी वर्ष एक आदेश प्रसारित किया गया जिसके अनुसार अधिक से अधिक भूमि की सीमा १०० एकड़ निश्चित कर दी गई। आज भी मिस्र में स्थिति वही है।

१९६७ का वर्ष मिस्र के लिए बहुत ही कठिन परीक्षा का वर्ष था। इजरायल से हुए संघर्ष ने उसकी अर्थ-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। कर्नल नासिर की घोषणा के अनुसार मिस्र की पंचवर्षीय योजना को सात-वर्षीय योजना में परिवर्तित कर दिया गया। इस योजना के पूरा होने पर दूसरे चरण में एक अन्य तीन-वर्षीय योजना रखी गई, जिसे 'प्राप्ति योजना' (Achievement Plan) की संज्ञा दी गई।

अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में कर्नल नासिर की नीति, भारतीय विदेशनीति के समान, तटस्थता की रही। सभी गुटों से अलग रहकर अपने देश का आर्थिक विकास करने में उनका विश्वास था। उनके नेतृत्व में, भारत, यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, सोवियत संघ, साम्यवादी चीन आदि देशों के साथ मिस्र के सम्बन्ध अधिकाधिक सुमधुर हुए। उनका सबसे बड़ा शत्रु था इजरायल। २८ सितम्बर, १९७० को राष्ट्रपति नासिर की मृत्यु हो गयी।

वर्तमान में मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सआदत हैं। यद्यपि वे अभी तक कर्नल नासिर की नीतियों का ही अनुसरण कर रहे हैं तथा मिस्र की प्रगति एवं उसकी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील हैं, तथापि उनका व्यक्तित्व स्वर्गीय नासिर के व्यक्तित्व की तुलना में अत्यन्त कमजोर है। अनवर सआदत स्वभाव से उदार व्यक्ति दिखाई देते हैं। यही कारण है कि उनका रुख पश्चिमी शक्तियों के प्रति नरम हुआ है। उन्होंने इजरायल के अस्तित्व को भी स्वीकार कर लिया है। इससे पश्चिमी एशिया में शान्ति की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं।

अध्याय ४

सीरिया

सीरिया अरब जगत् का एक छोटा-सा राज्य है। यह भारत के दो या तीन बड़े जिलों के बराबर है। यहाँ का क्षेत्रफल लगभग ७१,४९८ वर्गमील और जनसंख्या अनुमानतः ५५ लाख है। सीरिया के उत्तर में तुर्की, पश्चिम में लेबनान और भूमध्य सागर, दक्षिण में फिलस्तीन एवं ट्रान्स जोर्डन और दक्षिणपूर्व में ईराक हैं। इसका दक्षिणी भाग एक विस्तृत रेगिस्तान है। सीरिया के अधिकांश निवासी अरबी भाषा बोलते हैं और अपने आपको अरब मानते हैं। इस देश की लगभग आधी जनसंख्या कृषि-व्यवसाय में लगी हुई है। जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग खानाबदोश है और शेष नगर-निवासी।

फ्रान्स के संरक्षण में :

सीरिया १९१८ तक प्राचीन तुर्की साम्राज्य का एक अंग था। तुर्की साम्राज्य के अरब प्रदेशों में स्वतन्त्रता की भावना जागृत होने में कुछ समय लगा। सर्वप्रथम अरब लोगों में उनकी अपनी सभ्यता तथा अरबी भाषा एवम् साहित्य के पुनर्जागरण की भावना जागृत हुई। पुनर्जागरण के चिह्न सीरिया में १८६० के लगभग दिखाई दिये। यह पुनर्जागरण की भावना सीरिया से मिस्र तथा अन्य अरबी भाषी प्रदेशों में पहुँची। तुर्की में हुए १९०८ के तुर्क आन्दोलन तथा सुल्तान अब्दुल हमीद के पतन के बाद अरब प्रदेशों में राजनीतिक चेतना जागृत हुई। अरब लोगों में (मुस्लिम एवम् ईसाई दोनों ही में) राष्ट्रीय भावना द्रुत गति से फैली, और अरब देशों ने, तुर्की साम्राज्य से स्वतन्त्र होकर, एक संगठित अरब राज्य बनाने के स्वप्न को साकार करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। मिस्र यद्यपि अरबी भाषी देश था तथापि राजनीतिक दृष्टि से वह अरब राज्यों से बहुत कुछ पृथक् था। अतः इच्छित एक अरब राज्य में उसका (मिस्र का) सम्मिलित होना सन्देहात्मक था।

संगठित अरब राज्य में अरेबिया, सीरिया, फिलस्तीन और ईराक राज्यों का सम्मिलित होना लगभग निश्चित था। अरब राज्य खलीफा के पद को ऑटोमन साम्राज्य से हटाकर अरब राजवंश को देना चाहते थे, जिसमें वे स्वयं धार्मिक नेतृत्व (इस्लाम धर्म के) को ग्रहण कर सकें। इस धार्मिक भावना को भी वे अपनी राष्ट्रीयता का ही एक अंग समझते थे।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व ही ब्रिटेन ने अरब राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ चालाकी से सौदेबाजी करना आरम्भ कर दिया था। युद्ध के मध्य उसने अरब साम्राज्य की स्थापना हेतु अरब राष्ट्रों को झूठे आश्वासन दिये। मक्का के शेरिफ हुसेन ने, इस आशा में कि उसे बननेवाले बड़े अरब साम्राज्य का शासक एवम् खलीफा नियुक्त किया जायगा, ब्रिटेन के साथ सहयोग किया और तुर्कों के विरुद्ध अरब आन्दोलन को भड़काया। इस आन्दोलन में अरबों ने अपने जीवन तक को उत्सर्ग कर दिया। आन्दोलनकारियों के अनेक नेताओं को तुर्कों ने मौत की सजाएँ दीं। दमिश्क और बैरूत में ६ मई को उन्हें फाँसी पर चढ़ाया गया। सीरिया में ६ मई का दिन आज भी शहीद दिवस के रूप में मनाया जाता है।

अरब आन्दोलन ब्रिटेन की गुप्त सेवा के कार्यकर्ता कर्नल लॉरेन्स के सहयोग एवम् बुद्धिमत्ता के कारण पूर्णरूपेण सफल हुआ। युद्ध की समाप्ति तक साम्राज्य के सभी अरब उपनिवेश अंग्रेजों के संरक्षण में आ गये। तुर्की साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े हो गये।

युद्ध की पूर्ण समाप्ति के बाद अरब देशों के भविष्य का निर्णय किया जाना था। विजेता ब्रिटेन और फ्रान्स की सरकारों ने संयुक्त रूप से यह घोषित किया कि उनका उद्देश्य उन सभी लोगों को, जिनका लम्बे समय तक तुर्कों ने शोषण किया है, पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करना तथा उनकी अपनी अपनी राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना करना है। इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए धूर्ततापूर्वक ब्रिटेन और फ्रान्स ने अरब राज्यों को आपस में बाँट लिया। वास्तव में इस पवित्र उद्देश्य की घोषणा के पीछे इन दोनों ही साम्राज्यवादी शक्तियों के अपने अपने निहित स्वार्थ थे। राष्ट्रसंघ (League of Nations) के आशीर्वाद से ब्रिटेन और फ्रान्स को संरक्षक राज्य (Mandatory States) घोषित किया गया। संरक्षण-व्यवस्था साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा निर्बल राष्ट्रों को हथियाने का एक नवीन तरीका था। इस संरक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत फ्रान्स को सीरिया प्राप्त हुआ, और इंग्लैण्ड को फिलस्तीन और ईराक। इस प्रकार एक संगठित अरब राज्य स्थापित किये जाने के सम्बन्ध में ब्रिटेन और फ्रान्स की प्रतिज्ञाओं के बावजूद, अरब राज्यों को एक दूसरे से पृथक् करके 'संरक्षक राज्यों' के संरक्षण में रख दिया गया।

सीरिया का स्वतन्त्रता आन्दोलन :

१९२० के आरम्भ में हेजाज के राजा हुसैन का पुत्र अमीर फ़ैजल (Emir Feisal) को सीरिया का सम्राट् घोषित किया गया। सीरिया की राष्ट्रीय कांग्रेस ने संगठित सीरिया के लिये एक प्रजातन्त्रात्मक संविधान की रचना की। लेकिन यह सब कुछ ही महीनों का दिखावा था। १९२० के ग्रीष्म में सीरिया फ्रान्स के संरक्षण में चला गया। अमीर फैजल को सीरिया का परित्याग करना पड़ा और बाद में वह ईराक में गद्दीनशीन हुआ।

सीरिया यद्यपि बहुत ही छोटा-सा देश है, तथापि फ्रान्स के लिए इसे संरक्षण में रखना कठिन हो गया। सीरिया फ्रान्स के संरक्षण से मुक्ति का आकांक्षी था, और यहाँ के राष्ट्रवादी मुक्ति के लिए फ्रान्सीसियों से संघर्ष करने लगे। निरन्तर स्थानीय आन्दोलन, एक के बाद दूसरे स्थान पर, होते रहे और उन्हें दबाने के लिए फ्रान्स सरकार को एक बहुत बड़ी सेना सीरिया में रखनी पड़ी। साथ ही फ्रान्स सरकार ने परम्परागत साम्राज्यवादी नीति "राज्य करने के लिए विभाजित करो" का अनुसरण किया। छोटा होते हुए भी सीरिया को पाँच राज्यों में विभक्त कर दिया गया। पश्चिमी समुद्रतट पर तथा लेबनान पर्वतों के समीप लेबनान राज्य का निर्माण किया गया। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या मैरोनाइट्स (Maronites, ईसाइयों का एक पंथ) की थी। फ्रान्स सरकार ने उनकी सहानुभूति प्राप्त करने तथा उन्हें अरबों के विरुद्ध भड़काने हेतु उनके लिए एक विशेष राजनीतिक दर्जा दिया। तट के साथ ही, लेबनान के उत्तर में, एक अन्य छोटे-से पृथक् राज्य की स्थापना की गयी, जिसमें अलविस (Alawis) नामक मुसलमान रहते थे। उत्तर में ही कुछ दूरी पर एक तीसरे अलेक्जेन्ड्रेटा (Alexandretta) नामक राज्य की स्थापना की गयी। यह राज्य तुर्की से लगा हुआ था तथा इसमें अधिकांश तुर्की भाषा भाषी लोग रहते थे।

इस प्रकार सीरिया, जो पहले ही एक छोटा-सा राज्य था, और भी छोटा कर दिया गया तथा उसके कई अत्यन्त उपजाऊ भाग उससे पृथक् कर दिये गये। साथ ही उसे समुद्र-तट से भी दूर कर दिया गया। बहुत कुछ उसे रेगिस्तानों से संघर्ष करने के लिए छोड़ दिया गया। इसमें से भी एक पर्वतीय भाग काटकर एक नवीन जेबल इद द्रुज (jebel ed Druz) राज्य का निर्माण किया गया।

आरम्भ से ही सीरिया के लोग फ्रान्सीसी संरक्षण के विरुद्ध होने के कारण अपनी स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन करने लगे। इस आन्दोलन में सीरिया की स्त्रियों ने भी भाग लिया। फ्रान्सीसी सरकार ने अल्पसंख्यकों को अरबों के विरुद्ध भड़काकर (जैसा कि अंग्रेजों ने भारत में किया) परिस्थिति को और भी अधिक

गम्भीर कर दिया। राष्ट्रवादी आन्दोलन को कुचलने के लिए फ्रान्स की सरकार ने अनेक आन्दोलनकारियों को कड़ी से कड़ी सजाएँ दी। सीरिया की जनता से उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता एवम् अधिकारों को छीन लिया गया और ये सब अत्याचार वहाँ की जनता को राजनीतिक दृष्टि से उन्नत करने तथा उसे राजनीतिक स्वतन्त्रता के योग्य बनाने के पवित्र उद्देश्य से किया गया। अंग्रेज लोग भी भारत में ऐसा ही प्रचार करते थे। वास्तव में यह राष्ट्रसंघ तथा संसार को धोखा देने का एक विचित्र तरीका था।

सीरिया में राजनीतिक स्थिति बिगड़ती गई। जेबल-इद-द्रुज के लड़ाकू लोगों में फ्रान्स के विरुद्ध असन्तोष पैदा हो गया। फ्रान्सीसी गवर्नर ने इसी समय एक घिनौना कार्य किया। उसने जेबल-इद-द्रुज के नेताओं को निमन्त्रण देकर अपने पास वार्ता के लिए बुलाया और उन्हें बन्दी बना लिया। यह घटना १९२५ के ग्रीष्म में घटी। इससे जेबल-इद-द्रुज में विद्रोह भड़क उठा। यह स्थानीय विद्रोह शीघ्र ही सारे सीरिया में फैल गया। फ्रान्स सरकार ने इस विद्रोह को दबाने के लिए निर्ममता से काम लिया। अक्तूबर, १९२५ में दमिश्क पर बम-वर्षा करके उसे नष्ट करने का प्रयास किया गया। सारा सीरिया फ्रान्सीसी सैनिकों की छावनी सा प्रतीत होने लगा। पर फ्रान्स की सैन्य शक्ति सीरिया के लोगों के विद्रोह को न दबा सकी।

राष्ट्रसंघ (The League of Nations) के संरक्षण आयोग ने फ्रेन्च सरकार के इस दमन कार्य की निन्दा की। जुलाई, १९२७ में फ्रान्स ने पासो को सीरिया का नया हाई कमिश्नर बनाकर भेजा, जिसने पद ग्रहण करते ही सीरिया के लिए एक संविधान बनाने की दिशा में कार्य करना आरम्भ कर दिया। १९२८ में एक संविधान सभा का आयोजन किया गया, किन्तु उसमें बहुमत राष्ट्रवादियों का था। जब उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की तथा संविधान के मसविदे में अनेक फ्रेन्च विरोधी उपबन्ध प्रस्तुत किये तो सभा को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया। मई, १९३० में पासो ने (सीरिया के लिए) स्वयं एक संविधान की रूप-रेखा प्रस्तुत की जिसे सीरिया को, फ्रान्स के दबाव के कारण, स्वीकार करना पड़ा। १९३२ में इस संविधान के अनुसार चुनाव हुए और सीरियायी राष्ट्रवादियों को मिलाकर एक मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई।

इस समय पड़ोसी राष्ट्रों की राजनीति से प्रभावित होकर सीरिया के राष्ट्रवादी भी फ्रान्स के साथ सम्मानजनक सम्बन्धों की स्थापना करने को सचेष्ट हुए। उनकी मान्यता थी कि सीरिया निवासी स्वायत्त शासन के लिए पर्याप्त योग्य हो गये थे। सीरियनों के आक्रोश को सन्तुष्ट करने के लिए फ्रान्स ने १९३३ में

सीरिया की अपनी कठपुतली सरकार के साथ सन्धि-वार्ता की जिसके अनुसार सीरिया की सुरक्षा और परराष्ट्र नीति २५ वर्षों तक फ्रान्स के नियन्त्रण में रहने-वाली थी। सीरिया के राष्ट्रवादियों ने सन्धि का घोर विरोध किया और सीरियायी संसद् ने इसका अनुमोदन करने से इनकार कर दिया। जब फ्रेन्च अधिकारियों ने संसद् का अनुमोदन प्राप्त करना असम्भव समझा तो उन्होंने संसद को अनिश्चित काल तक के लिए भंग कर दिया तथा सीरिया के संविधान को निलम्बित कर दिया गया। इस प्रकार की घटनाओं से सीरिया के राष्ट्रवादियों ने विक्षुब्ध होकर फ्रान्सीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध मिस्री राष्ट्रवादियों के समान ही विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। फ्रान्सीसियों और सीरियनों के बीच मुठभेड़ें होने लगीं और आम हड़तालें शुरु हो गयीं। अन्त में बाध्य होकर फ्रान्सीसी हाई कमिश्नर को राष्ट्रवादियों को मिलाकर एक सरकार का संगठन करना पड़ा तथा सीरियायी विद्रोह से बचने के लिए फ्रान्स ने सीरियायी प्रतिनिधि-मण्डल को सन्धि-वार्ता हेतु पेरिस आमन्त्रित किया। ९ सितम्बर, १९३६ को सीरिया और फ्रान्स के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सीरिया को तीन वर्षों बाद स्वतन्त्रता प्रदान की जानी थी। सन्धि के अनुसार सीरिया को राष्ट्रसंघ की सदस्यता, इस सन्धि के अनुमोदन के तीन वर्ष के भीतर, प्राप्त करायी जानी थी। सन्धि के द्वारा फ्रान्स को सीरिया की भूमि पर सेना तथा सीरियायी परराष्ट्र-नीति पर नियन्त्रण रखने का अधिकार होता। इस सन्धि पर भी लेबनान के साथ की गई सन्धि की घटना की पुनरावृत्ति हुई, अर्थात् महायुद्ध को सन्निकट देख फ्रान्स की संसद् ने सन्धि का अनुमोदन करने से इनकार कर दिया और दूसरी ओर सीरिया के उग्र राष्ट्रवादियों ने भी पूरी तरह इसका विरोध किया। इसके बाद फ्रान्स और सीरिया के सम्बन्ध तेजी से बिगड़ने लगे, जिसका एक अन्य प्रमुख कारण यह था कि फ्रान्स अलेक्जेंड्रिया का जिला तुर्की को देने की बातचीत कर रहा था। जून, १९३९ में फ्रान्स ने तुर्की के साथ एक समझौता भी कर लिया, जिसके अनुसार यह जिला तुर्की को इस शर्त पर सौंप दिया गया कि वह सीरिया पर अपने सभी दावों को छोड़ देगा और उस देश में फ्रान्स विरोधी कोई भी कार्यवाही नहीं करेगा। सीरिया के विभाजन की नीति के फलस्वरूप सीरिया के लोगों ने पुनः उपद्रव आरम्भ कर दिये तथा ७ जुलाई, १९३९ को सीरिया के राष्ट्रपति ने फ्रेन्च नीति के विरोध में पदत्याग कर दिया। इसके पश्चात् सीरिया की संसद् भंग कर दी गई और फ्रान्सीसी हाई कमिश्नर का निरंकुश शासन आरम्भ हो गया।

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। फ्रांस के पतन के साथ सीरिया ने जर्मनी के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। १९४१ में सीरिया की सरकार ने,

जो जर्मनी के सामने आत्मसमर्पण कर चुकी थी, अपने हवाई अड्डे जर्मनी के लिए खोल दिये। परिणामस्वरूप एक ब्रिटिश सैन्य टुकड़ी ने भयंकर आक्रमण करके सीरिया पर अपना अधिकार कर लिया, हालाँ कि इसी समय ब्रिटेन और "स्वाधीन फ्रांस" (Free France) ने यह घोषणा की कि यथाशीघ्र सीरिया का शासन उसके देशवासियों को ही सौंप दिया जायगा। १९४१ में फ्रेंच जनरल कार्ट्रो (Cartraux) ने भी सीरिया को शीघ्र ही स्वतन्त्र कर देने की घोषणा की। परन्तु जैसे जैसे युद्ध मित्रराष्ट्रों के अनुकूल होता गया वैसे वैसे फ्रान्स सीरिया में अपना साम्राज्यवादी अंकुश पुनः मजबूत करता गया। परिणामस्वरूप सीरिया में पुनः उपद्रव भड़क उठा। फ्रांसीसी सेना ने दमिश्क पर (१९४५ में) बम वर्षा करके आतंक फैला दिया। इस स्थिति से ब्रिटेन ने, मध्यपूर्व में अपने हितों को ध्यान में रखते हुए, सीरियायी मामलों में हस्तक्षेप किया। दिसम्बर, १९४५ में फ्रान्स और ब्रिटेन के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सीरिया से फ्रेंच सैनिक टुकड़ियों के निष्कासन की व्यवस्था की गई। सीरिया को सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन में (अप्रैल, १९४५ में) भाग लेने की अनुमति पहले ही प्रदान की जा चुकी थी। १९४६ में इसे पूर्ण स्वतन्त्रता की मान्यता प्राप्त हो गई। सीरिया को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भी जब फ्रान्स ने दिसम्बर, १९४५ में हुए समझौते का पूरी तरह पालन नहीं किया, तो संयुक्त राष्ट्रसंघ से १९४६ में हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की गई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से अप्रैल, १९४६ तक सभी ब्रिटिश और फ्रान्सीसी सैनिक सीरिया से हटा दिये गये।

द्वितीय महायुद्ध के बाद राजनीतिक स्थिति :

ब्रिटेन और सीरिया के मध्य जो पारस्परिक सद्भावना १९४१ के बाद स्थापित हो गयी थी वह युद्धोत्तर वर्षों में तेजी से क्षीण होती गई। इसका मूल कारण ब्रिटेन द्वारा यहूदियों को सहयोग प्रदान करना था। पश्चिम के साथ उसके सम्बन्धों का बिगाड़ शुरू हुआ तो वह साम्यवादी देशों, विशेषतः सोवियत संघ, की ओर आकर्षित हुआ। यह बात सभी अरब राज्यों के साथ है। १९५६ से सीरिया ने सोवियत संघ से शस्त्रास्त्र लेना आरम्भ कर दिया। अगस्त, १९५७ में सीरिया और रूस के बीच एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार सोवियत संघ ने सीरिया को बिना किसी शर्त के प्राविधिक सहायता देना स्वीकार कर लिया। इस समझौते के अन्तर्गत दोनों देशों ने समानता, पारस्परिक आर्थिक लाभ, एक दूसरे की राष्ट्रीयता के प्रति सम्मान तथा एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्तों की घोषणा की।

यदि एक ओर सीरिया के सम्बन्ध रूस के साथ मैत्रीपूर्ण होते चले गये, तो दूसरी ओर पश्चिम के साथ उसके सम्बन्ध १९५६ से और भी अधिक तनाव होते गये। जब १९५६ में अक्टूबर के अन्त में ब्रिटेन और फ्रान्स ने इजरायल के साथ संयुक्त होकर मिस्र पर आक्रमण किया, तो सम्पूर्ण अरब जगत् में पश्चिम के प्रति विरोध की कटुतम भावनाएँ व्याप्त हो गयीं। सीरिया ने ब्रिटेन और फ्रान्स से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिये। इतना ही नहीं, वरन् ईराक तेल कम्पनी की पाइप लाइन भी काट दी गई। १३ नवम्बर से १५ नवम्बर, १९५६ तक मिस्र से ब्रिटिश एवं फ्रेंच सेनाओं के निष्कासन की माँग करने के लिये बेरुत में अरब-राष्ट्राध्यक्षों का जो सम्मेलन हुआ उसमें सीरिया के राष्ट्रपति शुकरि-अल-क्वातली (Shukri Al Kuwatli) ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। राष्ट्रसंघ में हंगरी पर चल रहे वादविवाद में २१ नवम्बर, १९५६ को अकस्मात् हस्तक्षेप करते हुए सीरियायी प्रतिनिधि ने शिकायत की कि उसे अपनी सरकार से तार द्वारा सूचना प्राप्त हुई है कि ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल की सेनाएँ संयुक्त रूप से सीरिया पर शीघ्र ही आक्रमण करनेवाली हैं। बाद में सीरिया द्वारा यह आरोप भी लगाया गया कि उपर्युक्त तीनों राष्ट्रों के वायुयान सीरियायी वायुसीमा का अतिक्रमण कर रहे हैं।

अगस्त, १९५७ में सीरिया में अनेक सैनिक अधिकारियों को पदच्युत करके साम्यवाद-समर्थक कर्नल अफीफ बिजरी को सेनाध्यक्ष बनाया गया। सीरिया की सरकार ने यह गम्भीर आरोप लगाया कि अमेरिका उसे उलटने के लिये प्रयत्नशील है। यह भी घोषणा की गई कि वफादार सैनिक अधिकारियों की सहायता से सरकार का तख्ता उलटने के एक अमेरिकन षड्यन्त्र का पता लगा लिया गया है। इसी आरोप के आधार पर सीरिया की सरकार ने अमेरिका के दूतावास के तीन अधिकारियों को २४ घण्टे में सीरिया छोड़ देने के आदेश प्रसारित कर दिये। प्रतिशोध स्वरूप १४ अगस्त, १९५७ को अमेरिकी सरकार ने भी वाशिंगटन स्थित सीरियायी राजदूत को "अवांछनीय व्यक्ति" (persona non-grata) घोषित कर दिया। यह भी घोषणा की गई कि अब अमेरिकन राजदूत दमिश्क नहीं भेजा जायेगा। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने एक प्रेस-सम्मेलन में कहा कि ऐसा प्रतीत होता है कि सीरिया सोवियत संघ के प्रभाव में अधिकाधिक आता चला जा रहा है। इसी प्रकार का आरोप सितम्बर, १९५७ में अमेरिका के विदेश-मन्त्री डलेस ने लगाया। बाद में दोनों देशों में यद्यपि कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना हो गई, तथापि पारस्परिक अविश्वास का वातावरण यथावत् बना रहा। १९६३

के बाद तो इजरायल के प्रश्न पर सीरिया के सम्बन्ध पश्चिमी राष्ट्रों के साथ और भी अधिक बिगड़ने लगे।

अपनी सीमाओं पर असुरक्षा के वातावरण को देखकर सीरिया ने १ फरवरी, १९५८ को मिस्र के साथ मिलकर एक सघ का निर्माण किया, जिसे संयुक्त अरब गणराज्य के नाम से पुकारा गया। परन्तु सितम्बर, १९६१ में सीरिया में क्रान्ति हुई और उसने अपने को सयुक्त अरब गणराज्य सघ से पृथक् कर लिया। सघ से पृथक् होने के पश्चात् सीरिया ने सयुक्त राष्ट्रसघ और अरब लीग मे "सीरियन अरब गणतन्त्र" (Syrian Arab Republic) के रूप मे सदस्यता ग्रहण की। मार्च, १९६२ मे सीरिया मे एक और क्रान्ति हुई तथा सीरिया के सविधान को निलम्बित कर दिया गया। १९६२ के मध्य मे सीरिया ने अरब लीग से संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र) के विरुद्ध यह शिकायत की कि वह उसके आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप कर रहा है। मार्च, १९६३ मे पुन सीरिया मे एक और रक्त-हीन क्रान्ति हुई, *जिसके द्वारा सीरिया की सरकार का तख्ता उलट दिया गया* और बाथ दल सत्तारूढ हुआ। ईराक, मिस्र, जोर्डन, यमन और अल्जीरिया आदि ने नई सरकार को तुरन्त मान्यता प्रदान कर दी। सऊदी अरब, कुवैत, लेबनान, ट्यूनीसिया और सूडान ने भी ऐसा ही किया। राष्ट्रपति नासिर ने इस क्रान्ति को "अरब एकता की विजय" की सज्ञा प्रदान की। अप्रैल, १९६३ मे संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र), सीरिया और ईराक के प्रतिनिधियो ने एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये। इस घोषणापत्र में तीनों देशो को मिलाकर बनाये जानेवाले एक "संयुक्त अरब गणराज्य" नामक संघ का प्रस्तावित विधान दिया गया। इस सघ और पहले के सघ (मिस्र और सीरिया के संघ) में केवल अन्तर इतना था कि इसका ढांचा संघीय था और इसकी सदस्यता के द्वार अन्य गणराज्यो के लिये भी खुले हुए थे, परन्तु यह भी कार्यान्वित नही हो सका। सितम्बर, १९६३ में सीरिया और ईराक द्वारा घोषणा की गई कि वे मिलकर एक "लोकप्रिय समाज-वादी प्रजातन्त्रीय सरकार" की स्थापना करेंगे। इस नये राज्य की कोई जन्म-तिथि निर्धारित नही की गई। यह भी घोषणा की गई कि इस नये राज्य की सदस्यता के द्वार सभी अरबराष्ट्रो, विशेषकर मिस्र, के लिए खुले रहेंगे। सीरिया के अन्य अरब राष्ट्रो से एकीकरण के प्रयास वहाँ के अस्थिर प्रशासन के कारण सफल नही हो सके।

१९६३-६४ के मध्य सत्ता अधिकाधिक सैनिक दल के हाथों में आती गयी, जिसके नेता लेफ्टिनेन्ट जनरल अमीन अल हाफिज थे जो प्रेसिडेंशियल कौंसिल के अध्यक्ष बन गये। इनका सम्बन्ध बाथ दल से था। बाद मे जनरल अमीन अल

हाफिज प्रधान मन्त्री एवं वास्तविक राष्ट्राध्यक्ष (De facto President) बन गये। बाथ सरकार ने, जनरल अमीन अल हाफिज के नेतृत्व में, आर्थिक नियन्त्रण की नीति का अनुसरण किया। सरकार ने युफरेट बांध के निर्माण हेतु फ्रान्स एवं पश्चिमी जर्मनी से आर्थिक सहायता प्राप्त करने के प्रयत्न किये, लेकिन इसके निर्माण का कार्य अन्त में सोवियत संघ को सौंपा गया। १९६४ में बाथ सरकार ने उद्योग, वाणिज्य तथा तेल वितरण के व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करना आरम्भ किया, जिससे सीरिया में कुछ असन्तोष फैला। २५ अप्रैल, १९६४ को एक अस्थायी संविधान की घोषणा की गयी, जिसके अनुसार सीरिया को समाजवादी जन-प्रजातन्त्रीय गणतंत्र में परिवर्तित किया जाना निश्चित किया गया। अगस्त, १९६५ में एक राष्ट्रीय क्रान्तिकारी संघ की स्थापना की गयी, जिसे देश के लिए स्थायी संविधान बनाने का कार्य सौंपा गया।

जनवरी, १९६६ में उग्र बाथिस्टों के स्थान पर, जिनके नेता यूसुफ जेएन (Yussef Zayen) ने पिछले महीने ही पदत्याग कर दिया था, उदारवादी सलाह अल बितर (Salah Al Bitar) के नेतृत्व में २६ व्यक्तियों की एक मन्त्रि-परिषद् की स्थापना की गयी। फरवरी, १९६६ के अन्त में सीरियाई सेना के वामपंथी तत्वों एवं बाथ दल ने एक खूनी क्रान्ति (bloody coup) द्वारा सत्ता पर अधिकार कर लिया, तथा हाफिज एवं बितर दोनों को ही प्रतिक्रियावादी बताकर उनकी भर्त्सना की। अब बाथ दल दो भागों में विभक्त हो गया, जिनमें से एक का समर्थन शासक दल को रहा। इस सैनिक क्रान्ति में शासक बाथ दल के अनेक नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया, और सीरिया के प्रतिरक्षा मन्त्री एवं वायु-सेना के अध्यक्ष जनरल हफीजल हसद ने सत्ता पर अधिकार कर लिया। सत्ता हथियाने के तुरन्त बाद नये शासकों ने सोवियत संघ को चेतावनी दी कि वह सीरिया के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे। साथ ही इसरायल के विरुद्ध युद्ध के लिए तैयारियों का कार्यक्रम अपनाने की बात कही गई। १९६७ में प्रेसीडेन्सी कौंसिल के अध्यक्ष नूरुद्दीन अल अत्तासी (Nureddin Al Attassi) बने और प्रधान मन्त्री का पद यूसफ जेएन को सौंपा गया। अरब-इसरायल संघर्ष में सीरिया ने अरब राष्ट्रों का साथ दिया है, तथा अन्य अरब राष्ट्रों की भांति उसके सम्बन्ध भी पश्चिमी देशों के साथ तनावपूर्ण बने हुए हैं।

अध्याय ५

लेबनान

जैसा पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, फ्रान्स द्वारा लेबनान राज्य का निर्माण, प्रथम महायुद्ध के पश्चात्, सीरिया के एक भाग को काटकर किया गया था। यहाँ की अधिकांश जनता मेरोनाइट्स (ईसाइयों का एक पंथ) की थी। पृथक् लेबनान राज्य फ्रान्स की "विभाजित करके राज्य करो" नीति का ही परिणाम था। सीरिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने की दृष्टि से ही फ्रान्स ने इसके पाँच भाग कर दिये, जिनमें से एक भाग को लेबनान राज्य की संज्ञा प्रदान की गयी।

लेबनान राज्य का क्षेत्रफल ४००० वर्गमील तथा इसकी जनसंख्या २१ लाख के लगभग है। यह भूक्षेत्र वर्तमान में अरब जगत् का एक महत्वपूर्ण राज्य माना जाता है और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में यह महाशक्तियों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। लेबनान समकोण चतुर्भुज की शक्ल में है। इसके उत्तर में वर्तमान सीरिया, पश्चिम में भूमध्य सागर, दक्षिण में जोर्डन और फिलस्तीन है। इसके अधिकांश निवासी अरबी भाषा बोलते हैं और अपने आपको पूर्ण अरब मानते हैं, जो स्वाभाविक है। इसकी लगभग आधी जनसंख्या कृषि व्यवसाय करती है। जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग खानाबदोश है, और शेष नगर-निवासी।

स्वतन्त्रता आन्दोलन :

सीरिया का एक अभिन्न अंग होने के नाते १९१८ तक लेबनान भी प्राचीन तुर्की साम्राज्य का ही एक अंग था। बाद में फ्रान्स ने सीरिया को अपने संरक्षण में लेने के पश्चात् लेबनान को सीरिया से पृथक् कर दिया। लेबनान की राजनीतिक स्वतन्त्रता का आरम्भ, सीरिया की भाँति, प्रथम महायुद्ध के बाद लोमाने की सन्धि

के अनुसार हुआ। यद्यपि इसकी आन्तरिक दशा सीरिया से अच्छी थी, तथापि इस देश के राष्ट्रवादी फ्रान्स के संरक्षण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने लगे। लेबनान में गणतन्त्र सरकार की स्थापना कर दी गयी थी, जो फ्रान्सीसी सहायता से अपना कार्य करती थी। फ्रान्स का व्यवहार भी लेबनान में बहुसंख्यक ईसाइयों के साथ अच्छा था। अतः छोटी-मोटी शिकायत के होते हुए भी यह राज्य फ्रेन्च संरक्षण से प्रायः सन्तुष्ट था, हालाँ कि यहाँ के राष्ट्रवादियों और फ्रान्स में शान्ति-वार्ता चलती रहती और इसी बीच कभी-कभी दंगे और प्रदर्शन भी होते रहते। १९२५ में लेबनान के लिए एक विधान बनाया गया, जिसके अनुसार वहाँ संसदीय शासन की व्यवस्था की गयी। किन्तु इसके पश्चात् लेबनान के अरबों और ईसाइयों में राजनीतिक तनाव प्रारम्भ हो गया। अतः १९३४ में पुनः लेबनान के लिए एक नवीन संविधान बनाया गया, जिसके द्वारा संसद की प्रतिनिधित्व प्रणाली में कुछ उलट-फेर कर लिया गया। शनैः शनैः लेबनान में यह प्रथा आरम्भ हो गयी कि वहाँ का राष्ट्रपति ईसाई होगा और प्रधान मंत्री मुसलमान। नवम्बर, १९३६ में फ्रान्स और लेबनान के मध्य एक संधि हुई, जो १९३० की आंग्ल-ईराकी संधि के अनुरूप थी। यह सन्धि २५ वर्षों के लिए की गई, जिसके अनुसार फ्रान्स ने यह आश्वासन दिया कि संधि की पुष्टि हो जाने के उपरान्त तीन वर्ष के अन्दर ही वह लेबनान को राष्ट्रसंघ में प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करेगा। उसके बदले में लेबनान इस बात पर सहमत हो गया कि सन्धिकाल में फ्रान्स लेबनान में हर प्रकार के शस्त्रों की स्थलीय सेनाएँ रख सकेगा और उनपर स्थान एवं संख्या सम्बन्धी किसी भी प्रकार का कोई बन्धन नहीं रहेगा। किन्तु द्वितीय महायुद्ध की आशंका के कारण फ्रान्सीसी संसद् ने इस सन्धि की पुष्टि नहीं की।

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। १९४० में फ्रान्स की युद्ध में पराजय हुई, और इससे उसका लेबनान पर नियन्त्रण ढीला पड़ गया। महायुद्ध के मध्य १९४३ में वहाँ स्वतन्त्र निर्वाचन कराये गये और इसे स्वतन्त्र देश के रूप में स्वीकार कर लिया गया। मार्च, १९४५ में लेबनान एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के रूप में अरब लीग और संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। इसी वर्ष फ्रान्स और लेबनान के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार १९४६ के अन्त तक लेबनान से फ्रेन्च सेनाएँ पूर्ण रूप से हटा ली गईं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् लेबनान :

लेबनान ने भी, अन्य अरब राज्यों की भाँति, यहूदी राज्य की स्थापना का विरोध किया, और १९४८ में इसरायल के विरुद्ध अरब राज्यों के संघर्ष में उसका

पूर्ण समर्थन किया। लेबनान ने फिलस्तीन का प्रश्न और आरब-मिस्री विवाद मे अरब लीग की नीति का अनुसरण किया और मध्य-पूर्वी प्रतिरक्षा-सगठन मे भाग लेने से इन्कार कर दिया। स्वेज सघर्ष मे लेबनान ने मिस्र का समर्थन किया, और अरब देशो के प्रधानो का सम्मेलन नवम्बर, १९५६ मे बेरुत में ही किया गया।

मार्च, १९५७ मे लेबनान के तत्कालीन राष्ट्रपति कैमून (President Chamoun) ने जब 'आइजनहावर सिद्धान्त' का समर्थन किया और अमेरिका ने लेबनान की सेनाओ को सुदृढ बनाने के लिए कुछ अनावश्यक साजसामान देना स्वीकार कर लिया, तो अरब राष्ट्रो ने इसका विरोध किया। अरब राष्ट्रो को, विशेषत. मिस्र और सीरिया को, कैमून की पश्चिमवादी नीति ठीक नही लगी। अत. उन्होने (अरब राष्ट्रों ने) लेबनान की सरकार के विरोधी तत्वो को उकसाना आरम्भ कर दिया। अगस्त, १९५७ मे लेबनान की सरकार ने मिस्र, सीरिया एव रूस पर चुनावो मे सरकार विरोधी दल की सहायता करने के आरोप लगाये। मई, १९५८ मे लेबनान मे सरकार विरोधी उपद्रव फैल गये। त्रिपोली, बेरुत, सिडोन आदि क्षेत्र उपद्रवियो के गढ बन गये। ये उपद्रव मुख्यत सरकार की पश्चिमवादी नीति के मुस्लिम विरोधियो और नासिर तथा सयुक्त अरब गणराज्य के समर्थको द्वारा भडकाये गये थे। राष्ट्रपति कैमून की पश्चिमपक्षीय नीति को केवल लेबनानी ईसाइयो एवं कुछ अन्य लोगों का समर्थन प्राप्त था, अन्यथा देश की अधिकाश मुस्लिम जनता इस नीति के विरुद्ध थी।

मई, १९५८ मे लेबनानी विदेश मन्त्री ने उपर्युक्त उपद्रवो के लिये सीधे सयुक्त अरब-गणराज्य को दोषी ठहराया और उसपर लेबनान के आन्तरिक मामलो में 'भारी हस्तक्षेप' करने का आरोप लगाया। राष्ट्रपति कैमून ने भी इन आरोपो को दोहराया। लेबनान ने सुरक्षा परिषद् और अरब लीग से भी शिकायत की कि संयुक्त अरब गणराज्य उसके आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप कर रहा है। लेबनान की इस तथाकथित संघर्ष की स्थिति का सामना करने के लिये सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने शस्त्रास्त्र और टैंक देना स्वीकार कर लिया। १५ जुलाई, १९५८ को राष्ट्रपति आइजनहावर ने घोषणा की कि लेबनानी राष्ट्रपति कैमून की अत्यावश्यक अपील पर सयुक्त राज्य अमेरिका की सेना वहाँ भेजी जा रही है। अमरीकी सेना ने लेबनान मे हो रहे विरोधी दलो के उपद्रवो को दबा दिया। सुरक्षा परिषद् में लेबनान की समस्या पर विचार चलता रहा, और इसी बीच ३१ जुलाई, १९५८ को लेबनान की ससद् ने प्रधान सेनापति फुआद शेहाब को नया राष्ट्रपति चुन लिया। विरोधी दलो की पश्चिम के कट्टर समर्थक कैमून को हटाने की मुख्य माँग पूरी हो जाने पर लेबनान का आन्तरिक विद्रोह भी शान्त हो

गया। राष्ट्रपति चेहाव ने २३ सितम्बर को अपने पद का कार्यभार सँभाला। नयी लेबनानी सरकार ने अमेरिकन सेनाओं और टैंकों की वापसी की माँग की, जिसके परिणाम-स्वरूप वाशिंगटन को अपनी सेनाएँ लेबनान से हटानी पड़ीं। २६ अक्टूबर, १९५८ तक अमरीकी सेनाओं ने लेबनान खाली कर दिया।

लेबनान का नवीन प्रशासन देश में शान्ति कायम करने तथा अरब देशों के साथ अपने सम्बन्धों को पुनः स्थापित करने में सफल हो गया। चेहाव और नासिर के बीच वार्ता हुई, और दोनों ने मैत्री की घोषणा की। वर्तमान में लेबनान में गृहयुद्ध की सी स्थिति है। फिलस्तीन मुक्ति सैनिक लेबनान क्षेत्र से इसरायली सैनिक अड्डों पर आक्रमण करते हैं और इसी कारण सरकारी सैनिकों से उनकी झड़पें होती हैं। लेबनान क्षेत्र से छापामारों की कार्यवाही का अर्थ इसरायल से शत्रुता ही है।

अध्याय ६

जोर्डन

जोर्डन नदी के पार, फिलस्तीन से मिला हुआ, एक अन्य छोटा-सा राज्य है, जिसकी अंग्रेजो ने प्रथम महायुद्ध के बाद स्थापना की।[1] १९५० से पहले इस राज्य को ट्रान्स-जोर्डन (Trans-jordan) कहा जाता था। सीरिया और अरेबिया के मध्य रेगिस्तान के किनारे स्थित यह एक छोटा-सा क्षेत्र है, जिसकी जनसंख्या लगभग २१½ लाख और क्षेत्रफल ३७,७३७ वर्गमील है। यदि ब्रिटिश सरकार चाहती तो इसे फिलस्तीन के साथ जोड़कर एक बड़े राज्य का निर्माण कर सकती थी, परन्तु विभाजन करने की साम्राज्यवादी नीति के कारण अंग्रेजो ने ऐसा न करते हुए, इसे एक नवीन राज्य का रूप दे दिया।

स्वायत्त शासन की स्थापना :

प्रथम महायुद्ध तक तुर्की साम्राज्य द्वारा जोर्डन का आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण किया जाता रहा। युद्ध के पश्चात् अंग्रेजो के संरक्षण में चले जाने से, (जोर्डन के) राष्ट्रवादियों की स्वाधीनता सम्बन्धी आशाएँ टूट गयी। उनमें असन्तोष भड़क उठा। परिणामस्वरूप जोर्डन में भी, अन्य बड़े अरब राज्यों की भाँति, प्रजातान्त्रिक संसद् की माँग तीव्रतर होती गयी। इस माँग के समर्थन में बड़े-बड़े

---

१. प्रथम महायुद्ध में सुल्तान की शक्ति के पतन तक ट्रान्स-जोर्डन तुर्की साम्राज्य का एक भाग था। अप्रैल, १९२० में सैन रिमो सम्मेलन (San Remo Conference) द्वारा ब्रिटेन को फिलस्तीन पर संरक्षण प्रदान किया गया। यहूदियों की इच्छाओं के अनुसार ट्रान्स-जोर्डन भी इसमें सम्मिलित कर दिया गया। परन्तु भौगोलिक दृष्टि से जोर्डन नदी के पूर्व के भाग को ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन के साथ न मिलाकर एक पृथक् ट्रान्स-जोर्डन राज्य के रूप में रखना अधिक ठीक समझा।

प्रदर्शन हुए, पर उन्हें ब्रिटिश सरकार ने कठोरता से दबा दिया। अनेकों राष्ट्रवादियों को देश से निष्कासित कर दिया गया तथा अन्यों को कड़ी से कड़ी सजाएँ दी गईं। चालाकी से ब्रिटिश सरकार ने १९२२ में अमीर अब्दुल्लाह (हैजाज के राजा हुसैन का दूसरा पुत्र एवं फीजल का भाई) को ट्रान्स-जोर्डन का शासक बना दिया। अमीर अब्दुल्लाह अंग्रेजों के नियन्त्रण में एक कठपुतली की भाँति था। उसकी स्थिति भारतीय नरेशों जैसी ही थी।

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से जोर्डन स्वतन्त्र राज्य माना जाता था, तथापि अब्दुल्लाह द्वारा फरवरी, १९२८ में अंग्रेजों के साथ की गई सन्धि के अनुसार ब्रिटिश सरकार को जोर्डन के सैनिक एवं वैदेशिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार दे दिया गया। वास्तव में, ट्रान्स-जोर्डन ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग मात्र ही था। इस सन्धि का ट्रान्स-जोर्डन की जनता ने (मुस्लिम तथा ईसाई दोनों ही) भारी विरोध किया, पर उस विरोध को कठोरता से दबा दिया गया। जिन समाचार-पत्रों ने जनता के विद्रोह का समर्थन किया, उन्हें बन्द कर दिया गया। पर उस विद्रोह की चिनगारी सुलगती रही, और अब्दुल्लाह के शासन तथा अंग्रेजों के नियन्त्रण के विरुद्ध असन्तोष अन्दर ही अन्दर बढ़ता रहा। राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, और उसमें सन्धि की भर्त्सना की गई। नये निर्वाचन कराये जाने के लिए जो मतदाता सूचियाँ तैयार की जा रही थीं उनका अधिकांश जनता ने बहिष्कार किया। लेकिन ब्रिटिश सरकार और अमीर अब्दुल्लाह ने मिलकर कुछ लोगों को अपनी ओर मिला लिया और दिखावे के रूप में सन्धि का अनुमोदन करा लिया गया। ट्रान्स-जोर्डन और ब्रिटेन के मध्य सम्बन्ध निश्चित हो गये। इसके अनुसार ब्रिटेन ने ट्रान्स-जोर्डन को स्वाधीन मान लिया, और अमीर अब्दुल्लाह ने वैदेशिक सम्बन्धों में ब्रिटिश सरकार के परामर्श से संचालित होना स्वीकार कर लिया। इस सन्धि द्वारा ब्रिटिश सरकार को सैनिक तथा अन्य सुविधाएँ भी प्राप्त हो गयीं। २ जून, १९३४ को ट्रान्स-जोर्डन को अरब राज्यों में राजदूत के रूप में प्रतिनिधि नियुक्त करने की अनुमति प्राप्त हो गयी। मई, १९३९ में ट्रान्स-जोर्डन के लिए एक मन्त्रिमण्डल नियुक्त करने की व्यवस्था हुई। इसके बाद देश पूर्ण स्वायत्त शासन की ओर बढ़ने लगा।

द्वितीय महायुद्ध के मध्य ट्रान्स-जोर्डन के शाह ने जुलाई, १९४१ में ब्रिटेन को स्पष्ट रूप से यह अधिकार प्रदान कर दिया कि वह ट्रान्स-जोर्डन के रक्षार्थ अपनी सेनाएँ रख सकेगा और वहाँ के लोगों को सेना में भर्ती कर सकेगा। इसके बाद १९४६ में ट्रान्स-जोर्डन के शाह अब्दुल्लाह और ब्रिटेन की सरकार के बीच एक और सैनिक सन्धि हुई, जिसे १९४८ में पुनः दुहराया गया। यह सन्धि २०

वर्षों के लिए की गई। इसके अन्तर्गत दोनों देशों के मध्य पारस्परिक सुरक्षा के लिए गठबन्धन हुआ तथा ट्रान्स-जोर्डन में ब्रिटिश सेनाओं के रखने और ब्रिटिश रसद को देश के जल, थल और वायु मार्गों से लाने ले जाने की व्यवस्था की गई। इसी बीच २५ मई, १९४६ को ट्रान्सजोर्डन को औपचारिक रूप से स्वाधीन कर दिया गया। उसने तुर्की, ईराक, ईरान और अफगानिस्तान आदि देशों के साथ मैत्रीसन्धियाँ स्थापित कर लीं। १९४८ में ही ट्रान्स-जोर्डन के 'अमीर' (शाह) को 'जोर्डन के हाशिमी राजतन्त्र' का शाह घोषित कर दिया गया। देश के इस नये नाम को १९४९ में अन्तरराष्ट्रीय मान्यता प्रदान कर दी गई। १९५० में शाह अब्दुल्लाह ने स्पेन की यात्रा की और उसके साथ सांस्कृतिक समझौता किया।

जोर्डन में सत्ता-परिवर्तन एवं शाह हुसैन

१४ मई, १९४८ को ब्रिटेन ने फिलस्तीन से अपना शासन-प्रबन्ध हटा लिया, जिसकी घोषणा १५ मई को की गई। १४ मई, १९४८ को ही यहूदियों ने फिलस्तीन में इसरायल राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। इस घोषणा से क्रुद्ध होकर शाह अब्दुल्लाह की सेनाओं ने, अन्य अरब देशों की सहायता से, फिलस्तीन पर आक्रमण कर दिया और उसके मध्य भाग पर, जिसमें अरब जाति के लोगों की बहुलता थी, अधिकार कर लिया। परन्तु अरब सेनाओं ने जेरूसलम में तब तक प्रवेश नहीं किया जब तक उन्हें यह विश्वास नहीं हो गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ नगर को यहूदियों के अधिकार में जाने से बचाने के लिए कोई कार्यवाही नहीं करेगा। अन्त में संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से नियुक्त मध्यस्थ के प्रयास से अप्रैल, १९४९ में इसरायल और ट्रान्स-जोर्डन के मध्य युद्धबन्दी समझौता हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अप्रैल, १९५० में मध्य फिलस्तीन को ट्रान्स-जोर्डन में विलय कर दिया गया। तत्पश्चात् देश का नाम ट्रान्स-जोर्डन के स्थान पर जोर्डन रख दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने शाह अब्दुल्लाह के सुविस्तृत राज्य को तुरन्त ही मान्यता प्रदान कर दी।

शाह अब्दुल्लाह की फिलस्तीन नीति से उसके 'अरब लीग' के साथी बहुत नाराज थे। फिलस्तीन में भी उसके विरुद्ध घोर आक्रोश छाया हुआ था। वहाँ के अरब निवासी एक स्वतन्त्र फिलस्तीन प्रदेश की स्थापना करने के इच्छुक थे। इस असन्तोषपूर्ण वातावरण में २० जुलाई, १९५१ को फिलस्तीन के एक युवक ने शाह अब्दुल्लाह की हत्या कर दी। सितम्बर, १९५१ में उसका वरिष्ठ पुत्र तलाल गद्दी पर बैठा। उसने तुरन्त एक संशोधित संविधान को, जिसके द्वारा राजनीतिज्ञों को अधिकाधिक शक्तियाँ प्रदान की गई थीं, स्वीकार कर लिया।

इस संविधान को ८ जनवरी, १९५२ से देश में लागू कर दिया गया। इसके बाद तलाल की अत्यधिक रुग्णावस्था को देखकर अगस्त, १९५२ में संसद् ने उसके १७ वर्षीय पुत्र हुसैन को उसका उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। तलाल के शासन को समाप्त कर दिया गया, और वयस्क होकर २ मई, १९५३ को सत्तारूढ़ होने तक की अवधि के लिए तीन वयोवृद्ध राजनीतिज्ञों की एक "रीजेंसी कौंसिल" बना दी गई।

निश्चित समय पर युवक शाह हुसैन (Husain Ibn Talal) सत्तारूढ़ हुआ। सत्तारूढ़ होते ही उसे देश में विविध गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी समस्या थी देश को एक सूत्र में बाँधकर सुदृढ़ करने की तथा उसे आर्थिक दृष्टि से उन्नत बनाने की। फिलस्तीन से आये हुए हजारों अरब शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या भी बहुत जटिल थी। एक अन्य समस्या थी इजराइल से सटी हुई जोर्डन की लम्बी सीमा की सुरक्षा-व्यवस्था। साथ ही जेरूसलम के भूतपूर्व मुफ्ती हजअमीनलहसनशाह अब्दुल्लाह को, जो जोर्डन नदी के पश्चिमी तट पर एक पृथक् फिलस्तीन राज्य की स्थापना करने की योजना बना रहा था, शत्रुतापूर्ण गतिविधियों से देश को बचाने की भी विकट समस्या थी। इन समस्याओं से निपटने के लिए आवश्यक था शाह हुसैन द्वारा उचित नीतियों का अपनाया जाना।

देश के प्रशासन को स्थिरता एवं शक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से शाह हुसैन ने प्रारम्भिक वर्षों में विदेशी शक्तियों से (अरब एवं पश्चिमी दोनों ही से) हर प्रकार की सहायता ली और उनके साथ निकट सम्बन्ध स्थापित किये। जून-जुलाई, १९५४ में जेरूसलम में हुई लड़ाई पर जोर्डन ने सभी अरब राष्ट्रों से वित्तीय एवं सैनिक सहायता की अपील की। इसके उत्तर में तुर्की और प्रायः सभी अरब देशों ने उसे सहायता देना आरम्भ कर दिया।

इसरायल के साथ अरब राष्ट्रों के सीमा-विवादों को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने युद्ध-विराम आयोगों की स्थापना करने की नीति अपनाई। जोर्डन-इसरायल सीमा-संघर्ष को समाप्त करने के हेतु एक जोर्डन-इसरायल मिश्रित युद्ध-बन्दी आयोग स्थापित किया गया जो निरन्तर इस बात की चेष्टा करता रहा कि दोनों देशों के बीच युद्ध न होने पाये। परन्तु फिर भी दोनों देशों के बीच छुट-पुट संघर्ष होते रहे। जून, १९६७ के अरब इसरायल संघर्ष के बाद स्थिति और भी अधिक विकट हो गई है। इस संघर्ष में इसरायल ने अरब राष्ट्रों के विरुद्ध निर्णात्मक विजय प्राप्त की तथा इन देशों के एक बहुत बड़े क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया है। इसरायल ने जेरूसलम पर भी अपना अधिकार कर लिया है। यह

नगर ईसा मसीह का जन्मस्थान माना जाता है, जो जोर्डन और इसरायल के बीच बँटा हुआ है। इस नगर का विभाजन जोर्डन और इसरायल के मध्य संघर्ष का मुख्य कारण माना जाता है। वर्तमान में इसके ऊपर इसरायली सेनाओं ने अधिकार कर रखा है और वे उसके पुन विभाजन को स्वीकार न करने के लिए कटिबद्ध दिखाई पडते है। जोर्डन और इसरायल के बीच संघर्ष का एक अन्य कारण भी है। जोर्डन प्रदेश को जीवन प्रदान करनेवाली जोर्डन नदी इसरायल प्रदेश में स्थित तिबेरिस झील से निकलकर जोर्डन से होती हुई मृत सागर में गिरती है। इसरायल इस नदी को इसके उद्गम स्थान के पास से मोडकर अपने रेगिस्तानी क्षेत्र को सींचना चाहता है। यदि ऐसा होता है तो जोर्डन एव सीरिया के लिए महान् जलसकट पैदा हो जायेगा। इससे लेबनान की आर्थिक स्थिति पर भी बहुत बुरा प्रभाव पडेगा। जोर्डन तथा अरब राष्ट्रों और इसरायल के बीच संघर्ष का अन्त क्या होगा, यह तो भविष्य ही बतलायेगा।

यद्यपि जोर्डन के अरब देशों के साथ सम्बन्ध, विशेषत इसरायल समस्या के कारण, मैत्रीपूर्ण रहे है और वे बहुत कुछ एक ही प्रकार की वैदेशिक नीतियों का पालन करते देखे गये है, तथापि एक समय ऐसा भी आया है जब जोर्डन के अरब देशों के साथ, विशेषकर मिस्र के साथ, सम्बन्ध बिगडे भी है। यही बात जोर्डन और पश्चिमी देशों के सम्बन्धों के बारे में भी कही जा सकती है। जोर्डन की नीतियाँ समय-समय पर परिवर्तित होती रही हैं।

अरब जगत् में शाह हुसैन और कर्नल नासिर के बीच प्रतिद्वन्द्विता चलती रही है। परन्तु १९६३ में जब अरब समाजवादी 'बाथ' नामक दल का प्रभाव जोर्डन में भी बढा और उसकी कार्यवाहियाँ तीव्र हो गई तो शाह हुसैन ने परेशान होकर 'बाथ' दल के दूसरे शत्रु कर्नल नासिर की ओर मित्रता का हाथ बढाना आरम्भ किया। साथ ही शाह हुसैन अपने देश की आर्थिक निर्भरता को (ब्रिटेन और अमेरिका पर) भी समाप्त करने के इच्छुक थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जोर्डन ने सोवियत सघ के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए। जनवरी, १९६४ में जोर्डन और संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र) ने यह घोषणा की कि दोनो देशों के मध्य पुन. मैत्री सम्बन्धों की स्थापना की जायेगी। १९६७ मे इसरायल के साथ अरब जगत् के सघर्ष के कारण जोर्डन और सयुक्त अरब गणराज्य और भी अधिक एक दूसरे के निकट आ गये। अन्य अरब राज्यों के साथ भी जोर्डन के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो गये।

२७ जून, १९७० को जोर्डन में अब्देल मोनिम रीफाई के प्रधान मन्त्रित्व में नई सरकार की स्थापना की गई है।

अध्याय ७

फिलस्तीन

एशिया के पश्चिमी नोक पर तथा भूमध्य सागर के तट पर सीरिया से सटा हुआ एक छोटा-सा देश है, जिसे फिलस्तीन कहा जाता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ (The League of Nations) ने इसे ब्रिटेन के संरक्षण में रख दिया था। यद्यपि यह एक बहुत ही छोटा देश है, तथापि इसके प्राचीन इतिहास एवं सम्बन्धों के कारण प्रायः संसार के सभी लोगों को, विशेषकर पश्चिमी एवं मध्य पूर्व के लोगों को, यह अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। ईसाइयों, यहूदियों तथा मुस्लिम अरबों, तीनों जातियों के लिये यह पूजनीय एवं पवित्र देश माना जाता है। इसरायल राज्य के निर्माण से पूर्व इसकी राजधानी जेरुसलम थी। सुदीर्घ काल तक फिलस्तीन की भौगोलिक सीमाएँ निश्चित नहीं थीं। १९४९ में लेबनान, सीरिया, मिस्र और जोर्डन के बीच एक संधि हुई, जिसके अनुसार फिलस्तीन की सीमाएँ मोटे रूप में सुनिश्चित कर दी गई।

जियोनवाद :

फिलस्तीन मध्य पूर्व के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में लगभग ६००० वर्षों से महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है। यह देश विभिन्न विदेशी शासकों के अन्तर्गत रहा है, जैसे ६५ ई० पू० से ६३४ ई० तक रोमन साम्राज्य का अंग रहा और बाद में लगभग १०० वर्षों (१०९८-११८७) तक ईसाइयों के प्रभुत्व में रहकर यह तुर्की साम्राज्य के अधीन हो गया। लेकिन अन्य अरब राज्यों की भाँति फिलस्तीन में भी स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के लिये आन्दोलन आरम्भ हो गया। पर वहाँ आन्दोलन संगठित फिलस्तीन की स्वतन्त्रता के लिये न होकर, उसमें स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना के लिए किया गया। यह आन्दोलन, जिसे 'यहूदीवाद' (Zionism) कहा जाता है, १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रारम्भ

हुआ। इस आन्दोलन ने १९वी शताब्दी के अन्त तक एक विकसित एव सुसगठित आन्दोलन का रूप धारण कर लिया, और बहुत से यहूदी यूरोप तथा अन्य स्थानों से आकर फिलस्तीन मे बस गये।

यह आन्दोलन 'जियोनवाद' अथवा यहूदीवाद इसलिए कहलाया क्योंकि बाइबल के वर्णनासार 'जियोन' (Zion) *जेरुसलम की उस पहाडी का नाम है जहाँ* यहूदियो के प्रसिद्ध राजा दाऊद और उनके उत्तराधिकारियो का राजकीय निवास-स्थान था, और इस दृष्टि से 'जियोनवाद' यहूदियो के लिये जेरुसलम तथा फिलस्तीन की पवित्र भूमि मे लौटने के लिये स्पष्ट आह्वान था। यहूदी लोग पिछली शताब्दी में यूरोप के विभिन्न राज्यो मे तथा अमेरिका मे बसे हुए थे। रूस और रूमानिया मे १८८१ मे इनपर भीषण अत्याचार हुए थे, और इन्हे वहाँ से भागना पडा था। इस प्रकार इनका न कोई अपना देश था, न राज्य। क्योंकि फिलस्तीन यहूदियों का मूल निवासस्थान था और जेरुसलम उनकी पवित्र भूमि, अत. उन्होंने विभिन्न देशों के अत्याचारो से पीडित होकर अब पुन. इसे प्राप्त करने के लिए और वहाँ अपना राज्य स्थापित करने के लिए आन्दोलन आरम्भ किया।

'जियोनवादी' अथवा यहूदीवादी आन्दोलन का सगठनकर्ता लियो पायेन्सकर (Leon Pinsker) था, जो रूस में एक यहूदी चिकित्सक था। वही प्रथम यहूदी था, जिसने १८८२ मे पहली बार एक स्वतन्त्र और प्रभुत्व-सम्पन्न यहूदी राज्य के निर्माण के लिये यहूदीवादी आन्दोलन को गठित किया। उसके बाद आस्ट्रिया के यहूदी पत्रकार थियोडोर हार्ज्ल (Theodor Harzl) ने यहूदियो के राजनीतिक आन्दोलन का समारम्भ किया, और १८९७ मे बेसेल (Basel) मे प्रथम "विश्व-जियोनवादी काग्रेस" (World Zionist Congress) आमन्त्रित की। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप यहूदियो मे अपने पृथक् राज्य के लिए प्रबल उत्कण्ठा जागृत हो गई। *थियोडोर हार्ज्ल ने अपनी 'एक यहूदी राज्य 'नामक* पुस्तक मे बडे ही सन्तुलित, दृढ और आत्मविश्वासपूर्ण शब्दो मे लिखा है कि यहूदियों का चरित्र बहुत ही ऊँचा रहा है। इनकी राष्ट्रीयता को समाप्त नही किया जा सकता। यहूदियो की समस्या एक राष्ट्रीय समस्या है, और विश्वव्यापी समस्या बनाकर ही इसका समाधान किया जा सकता है।

यहूदियो के आन्दोलन ने शनै शनै प्रभावकारी रूप धारण कर लिया और १९१४ तक फिलस्तीन मे लगभग एक लाख यहूदी बस गये। ब्रिटेन को, अपने राजनीतिक स्वार्थों की दृष्टि से, यहूदी आन्दोलन के प्रति काफी सहानुभूति थी। वह अरबों के मध्य एक ऐसे देश का सृजन करना चाहता था जो सुगमता से ब्रिटेन

के प्रभाव में रह सके। इसके अतिरिक्त एक और घटना ने यहूदियों के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण को सहयोगी बनाने में मदद की। ब्रिटेन में प्रसिद्ध रसायन शास्त्री डॉ० वीजमैन (Weizmann) यहूदी राष्ट्र के आन्दोलन के प्रबल पक्षपाती थे। प्रथम महायुद्ध में उन्होंने टी० एन० टी० के प्रसिद्ध विस्फोटक के निर्माण की नई प्रक्रिया के आविष्कार द्वारा ब्रिटिश सरकार को बहुमूल्य सहायता पहुँचाई। जब पुरस्कार-स्वरूप ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कुछ माँगने को कहा तो उन्होंने यही प्रार्थना की कि फिलस्तीन में यहूदियों का राज्य स्थापित कर दिया जाय। लॉयड जार्ज ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। प्रथम महायुद्ध में फिलस्तीन का विस्तृत भूभाग अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। २ नवम्बर, १९१७ को ब्रिटिश विदेश मन्त्री लॉर्ड बॉल्फोर ने ब्रिटिश संसद् में यह घोषणा की कि 'ब्रिटिश सरकार फिलस्तीन में यहूदियों के लिए एक राष्ट्रीय निवासस्थान की स्थापना के पक्ष में है और इस उद्देश्य की सिद्धि सरलता से कराने के लिए वह भरसक प्रयत्न करेगी। पर यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि फिलस्तीन में विद्यमान वर्तमान गैर-यहूदी जनसमूहों के दीवानी और धार्मिक अधिकारों की हानि पहुँचानेवाला किसी भी प्रकार का कोई कार्य नहीं किया जायेगा।' लॉर्ड बॉल्फोर की इस घोषणा को ही प्रसिद्ध 'बाल्फोर घोषणा' के नाम से जाना जाता है। इस घोषणा का यहूदियों द्वारा स्वागत किया गया। परन्तु फिलस्तीन की बहुसंख्यक जनता ने, जिसमें अरबी, गैर-अरबी, ईसाई तथा अन्य जातियों के भी लोग थे, इस घोषणा का विरोध किया। उनके लिए आर्थिक दृष्टि से यह जीवन-मरण का प्रश्न था। उन्हें भय था कि यदि फिलस्तीन में यहूदियों का राज्य स्थापित कर दिया गया, तो वे आर्थिक दृष्टि से यहूदियों के दास बन जाएँगे। अतः अरबों ने, ईसाइयों तथा अन्य गैर-यहूदी जातियों के सहयोग से, देश के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की जाने तथा उसमें स्वायत्त प्रशासन की स्थापना की माँग रखी। उनका मत था कि देश में यहूदियों के राज्य की स्थापना की अपेक्षा उसे स्वतन्त्र कर दिया जाय। उन्होंने बाहर से आकर फिलस्तीन में नये बसनेवाले यहूदियों का भी विरोध किया। अरब लोगों का कहना था कि 'जियोनवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भागीदार रह चुका है; प्रमुख एवं उत्तरदायी जिओनवादी नेताओं ने शक्तिशाली यहूदी राष्ट्रीय राज्य को सदैव भारत के मार्ग की सुरक्षा की दृष्टि से अंग्रेजों के लिए अत्यन्त महत्व-पूर्ण बताया है, क्योंकि यहूदी राष्ट्रवाद सदैव अरब राष्ट्रीय भावनाओं की विरोधी शक्ति के रूप में कार्य करेगा।'[१]

---

१. "Zionism had been an accomplice of British imperialism;

परन्तु यहूदी राज्य की स्थापना का मार्ग इतना सरल न था। फिलस्तीन १९१७ में तुर्की साम्राज्य का एक अंग था, जिसकी लगभग ९० प्रतिशत जनसंख्या अरब थी। प्रथम महायुद्ध में तुर्की ने जर्मनी की ओर से मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध किया था, अतः ब्रिटेन तुर्की के विरुद्ध अरबों के समर्थन का आकांक्षी था। सम्भवतः इसी उद्देश्य से २४ अक्टूबर, १९१५ को मिस्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर हेनरी मैकमेहोन ने अरब स्वातन्त्र्य आन्दोलन के नेता मक्का के शरीफ हुसेन को एक पत्र में 'फिलस्तीन को एक स्वतन्त्र अरब राज्य का भाग' बनाने का वचन दे दिया। क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए यहूदियों और अरबों की सहायता चाही थी, अतः उसने एक ही क्षेत्र के लिए दोनों को परस्पर विरोधी आश्वासन दे दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों फिलस्तीन को अपना विशेष प्रदेश समझने लगे।

ब्रिटेन ने न केवल यहूदियों और अरबों को परस्पर विरोधी आश्वासन दिये थे, प्रत्युत फ्रान्स से भी एक पृथक् वादा किया। १६ मई, १९१६ को ब्रिटेन ने फ्रान्स के साथ एक समझौता किया, जिसे 'साइक्स-पिकोट' (Sykes-Picot) समझौते के रूप में जाना जाता है। इस समझौते के द्वारा ब्रिटेन ने फ्रान्स को यह संकेत दिया कि अरबों को दिये गए आश्वासन को दिखावा मात्र समझा जाय। ब्रिटेन और फ्रान्स ने सीरिया तथा ईराक को अपने प्रभाव क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया था। फिलस्तीन यद्यपि सीरिया का एक अंग था, तथापि इसे अपनी स्वयं की विशिष्ट अन्तरराष्ट्रीय सरकार के अन्तर्गत रखा गया। इस प्रकार की विशिष्ट शासन-व्यवस्था मित्रराष्ट्रों के बीच परस्पर विरोधी स्वार्थों में एक प्रकार का समझौता था।

"साइक्स-पिकोट समझौता" अरबों को दिये गये आश्वासन के विरुद्ध था। "बालफोर घोषणा" से अरब पहले ही सशंकित थे तथा उसका विरोध कर रहे थे। जब रूसियों द्वारा "साइक्स-पिकोट समझौते" का रहस्योद्घाटन किया गया तो अरब ब्रिटिश इरादों के प्रति विशेष रूप से सशंकित हो गये। फिलस्तीन के

responsible Zionist leaders had constantly urged what an advantage a strong Zionist National Home would be to the English in guarding the road to India, just because it was a counteracting force to Arab National aspirations."—जवाहरलाल नेहरु, "विश्व इतिहास की झलक", एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६७, पृ० ७९०.

ऊपर अरब अपना अधिकार समझते थे। उनका तर्क था कि फिलस्तीन में उनकी जनसंख्या ९० प्रतिशत के लगभग थी और वे १३०० वर्षों से उस भूमि पर निवास करते आ रहे थे। अतः वह उनकी पवित्र भूमि थी और उसे ब्रिटिश सरकार को किसी भी विशेष वर्ग को देने का अधिकार नहीं था, भले ही ब्रिटिश सरकार ने उसे आधिपत्य में ले लिया हो। अरबों के इस तर्क में निश्चय ही वजन था। अंग्रेजी सरकार के इस व्यवहार से अरबों में निराशा एवं रोष व्याप्त हो गया। मक्का के हुसैन शरीफ ने ब्रिटेन से "बालफोर घोषणा" का स्पष्टीकरण माँगा। इसके प्रत्युत्तर में ८ फरवरी, १९१८ को ब्रिटिश सरकार द्वारा यह सूचित किया गया कि "बालफोर घोषणा" द्वारा यहूदियों को दिया गया समर्थन उसी हद तक मान्य होगा जिस हद तक यह वर्तमान जनसाधारण की आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों ही स्वतन्त्रताओं के अनुकूल होगा।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यहूदी आन्दोलन :

जुलाई, १९१९ में अरबों ने दमिश्क में एक सम्मेलन (Arab Congress) बुलाया। उसमें एक प्रस्ताव पास किया गया, जिसके द्वारा जियोनवादियों के फिलस्तीन में यहूदी राज्य स्थापित करने के दावे का खण्डन किया गया तथा यहूदियों के आप्रवास (Immigration) का विरोध किया गया। अरबों ने जियोनवादियों के दावों को अपने आर्थिक, राष्ट्रीय एवं राजनीतिक जीवन के लिये एक बहुत बड़ा खतरा समझा। उन्होंने घोषणा की कि यहूदी लोग फिलिस्तीन में, अपने सभी अधिकारों का स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग करते हुए, हमारे भाइयों की भाँति रह सकते हैं, परन्तु उनके (यहूदियों के) यहूदी राष्ट्र की स्थापना के स्वप्न को कभी भी साकार नहीं होने दिया जायेगा।

उसके बाद राष्ट्रपति विल्सन तथा शाह फीजल के आग्रह पर एक कमीशन की नियुक्ति की गई। कमीशन के सदस्य दो अमरीकी—डॉ० हेनरी किंग और चार्ल्स क्रेन थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में उग्र जियोनवादियों की यहूदी राष्ट्र की स्थापना से सम्बन्धित कार्यवाहियों की तीव्र आलोचना की। रिपोर्ट में कहा गया कि यहूदी राष्ट्र का अर्थ यहूदी राज्य नहीं होता, तथा यहूदी राज्य की स्थापना से गैर-यहूदी जातियों की नागरिकता एवं स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायेंगी। कमीशन के सदस्यों ने, यहूदियों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए, अन्त में कहा कि जियोनवादियों के प्रोग्राम को केवल आंशिक रूप में ही क्रियान्वित करना श्रेयस्कर होगा और वह भी धीरे-धीरे एवं शांति-सम्मेलन द्वारा किया जाना

चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ था यहूदियों के आप्रवास को सीमित करना तथा यहूदी राज्य की स्थापना के विचार को तिलाञ्जलि देना।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद लगभग दो वर्ष तक फिलस्तीन ब्रिटिश सैनिक अधिकार में रहा और २४ अप्रैल, १९२० को उसे सॅन रेमो (San Remo) में होनेवाली प्रधान सम्मिलित परिषद् (Supreme Allied Council) की बैठक में ब्रिटिश संरक्षण में रख दिया गया। ब्रिटिश संरक्षता २९ सितम्बर, १९२३ से प्रभावकारी हुई। संरक्षण के अनुच्छेद २ के अनुसार ब्रिटेन पर यह उत्तरदायित्व डाला गया कि वह फिलिस्तीन देश का प्रशासन इस प्रकार करे तथा उसमें इस प्रकार की राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करे जिससे यहूदी राष्ट्रीय देश की स्थापना हो सके और साथ ही फिलस्तीन के सभी निवासियों के नागरिक एवं धार्मिक अधिकारों की रक्षा भी हो सके।

परन्तु फिलस्तीन को ब्रिटिश संरक्षित राज्य बना देने से उसकी समस्या का हल नहीं हो सका। यहूदी नेता डॉ० वीजमैन का स्पष्ट मत था कि यहूदी आन्दोलन का उद्देश्य फिलस्तीन को उसी प्रकार यहूदियों का बना देना है जिस प्रकार इंग्लैण्ड अंग्रेजों का है। इस प्रकार यदि "यहूदी राष्ट्रीय देश" की स्थापना की जाती थी, तो अरबों के अधिकारों की रक्षा होना असम्भव था। यद्यपि ब्रिटेन यहूदियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखता था, तथापि उसने यहूदियों और अरबों की विरोधी अभिलाषाओं के समन्वय का प्रयत्न किया। परन्तु ब्रिटेन अपने प्रयास में असफल रहा, क्योंकि अरब लोग यहूदी आव्रजन के पूर्ण विरोधी थे और यहूदी आव्रजन पर लगाई जानेवाली किन्हीं भी सीमाओं को बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे। यहूदियों का आव्रजन फिलस्तीन के बहुसंख्यक अरबों को इस कारण रुचिकर नहीं था कि यहूदी प्रत्येक दृष्टि से उनसे बढ़े-चढ़े थे और इन्हें भय था कि कहीं आगे चलकर वे पिछड़े हुए अरबों पर अपना आधिपत्य न स्थापित कर लें। इन परिस्थितियों में फिलस्तीन शीघ्र ही जातिगत विरोध की अग्नि-ज्वालाओं में धधकने लगा। यहूदियों और अरबों ने अपने-अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये आतंकवादी साधनों को अपनाया और ब्रिटेन के शांति स्थापित करने के सभी प्रयत्नों के बावजूद फिलस्तीन संघर्ष उपद्रवों तथा हिंसात्मक कार्यवाहियों का रंगमंच बना रहा। १९१९ से १९३३ तक ये जातिगत विद्रोह होते रहे और दोनों पक्षों के, विशेषकर यहूदी पक्ष के, बहुत से लोगों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

१९१९ के बाद फिलस्तीन में शांति स्थापित करने तथा उसकी समस्याओं को सुलझाने के लिये अनेक प्रयास किये गये। जैसा बताया जा चुका है, १९१९

में "किंग-क्रैन आयोग" की नियुक्ति फिलस्तीन की समस्या को सुलझाने के लिए की गई। परन्तु क्योंकि इस आयोग की सिफारिशें यहूदियों के हितों के विरुद्ध थीं, अतः उन्हें प्रकाशित नहीं किया गया और समस्या में किसी प्रकार का सुधार नहीं हो सका। १९२१ में "हे-क्रैफ्ट आयोग" (Hay-Craft Commission) की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने बताया कि अरबों का घोर यहूदी विरोधी आचरण ही संघर्ष का मुख्य कारण है। १९२२ में फिलस्तीन के प्रथम ब्रिटिश हाई कमिश्नर हर्बर्ट सैमुअल ने फिलस्तीन के लिये एक नया संविधान घोषित किया। इस संविधान के अन्तर्गत एक हाई कमिश्नर, एक आंशिक रूप में निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा और एक नामांकित कार्यकारिणी कमेटी की व्यवस्था की गई। परन्तु अरबों ने, संविधान का बहिष्कार करते हुए, चुनावों में भाग लेने से इनकार कर दिया। परिणामस्वरूप हाई कमिश्नर सैमुअल ने नामांकित कार्यकारिणी कमेटी के साथ शासन की बागडोर अपने हाथ में ग्रहण कर ली। परन्तु यह व्यवस्था न तो यहूदियों को और न अरबों को रुचिकर लगी। यहूदी इस कारण अप्रसन्न थे कि उन्हें तथाकथित यहूदी राज्य प्राप्त न हो सका, और दूसरी ओर यहूदी राज्य-स्थापना की कोई भी योजना अरबों को स्वीकार नहीं थी। तत्पश्चात् ३ जून, १९२२ को 'चर्चिल श्वेतपत्र' (Churchill White Paper) प्रकाशित हुआ, जिसने इस बात की पुष्टि की कि फिलस्तीन में यहूदियों का स्थान साधिकार है, किसी कृपा के आधार पर नहीं। चर्चिल श्वेतपत्र ने तीन बातें प्रस्तुत कीं—(१) ब्रिटेन का ऐसा कोई इरादा नहीं है कि वह पूर्णतः यहूदी फिलस्तीन का निर्माण करे अथवा वहाँ अरब लोगों की संस्कृति अथवा भाषा को नष्ट करे; (२) फिलस्तीन में यहूदियों को कानून एवम् अधिकार के आधार पर विशेष स्थान प्राप्त होगा, एवम् (३) यहूदी जाति को इस देश की आर्थिक क्षमता के अनुकूल देशान्तर के द्वारा अपनी संख्या बढ़ाने की अनुमति प्रदान की जायेगी। इस श्वेतपत्र से अरब जाति और भी अधिक असन्तुष्ट हो गई। अरबों द्वारा उस संविधान का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया जिसमें २२ सदस्यों की उस धारा-सभा की व्यवस्था की गई थी, जिसमें १० सरकारी सदस्यों और दो निर्वाचित यहूदी प्रतिनिधियों के कारण अरबों का अल्पमत होना निश्चित था।

जैसे जैसे ब्रिटिश सरकार फिलस्तीन समस्या को सुलझाने का प्रयास करती गई, वैसे वैसे ही यहूदीवादी आन्दोलन उग्र होता गया। इसका कारण था ब्रिटेन का यहूदियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण। ब्रिटेन के प्रच्छन्न तथा प्रकट प्रोत्साहन के कारण फिलस्तीन में यहूदी बाहर से आ-आकर बसते गये, और फिलस्तीन की समस्याएँ सुलझने की बजाय और अधिक उलझती गईं। १९२३

से लेकर १९२८ तक यहूदियों और अरबों के बीच इतनी अधिक प्रतिक्रियाएँ हुईं कि यहूदी राष्ट्रवाद और अरब राष्ट्रवाद संघर्ष की स्थिति में पहुँच गये। १९२८ में विभिन्न अरब संगठन 'अरब कांग्रेस' में संगठित हो गये, और उन्होंने अधिकार के रूप में (as of right) प्रजातन्त्रात्मक संसदीय शासन-व्यवस्था की माँग प्रस्तुत की। उन्होंने (सभी अरब संगठनों ने संयुक्त रूप से) यह स्पष्ट रूप से घोषित किया—'फिलस्तीन की जनता सरकार की वर्तमान उपनिवेशवादी व्यवस्था को न तो सहन कर सकती है और न ही करेगी'।[१] इस अरब राष्ट्रवाद की विशेषता यह थी कि यह आर्थिक प्रश्नों पर आधारित था।

१९२९ में अरबों और यहूदियों में बहुत बड़े संघर्ष हुए। इसका वास्तविक कारण था यहूदियों के प्रति अरबों की शत्रुता। यहूदियों की बढ़ती हुई सम्पन्नता एवं जनसंख्या से अरब जाति शंकित थी तथा उसकी यह शंका यहूदियों द्वारा अरबों की स्वतन्त्रता की माँग का विरोध किये जाने के कारण (उनके प्रति) शत्रुता में परिवर्तित हो चुकी थी। लेकिन यहूदियों और अरबों के बीच संघर्ष का एक तत्क्षण कारण था 'वेलिंग वाल' (Wailing Wall) विवाद। यह 'वेलिंग वाल' (विलाप करती हुई अथवा दुःख प्रकट करती हुई दीवार) उस दीवार का भाग थी जो प्राचीन काल में हेरोद के मन्दिर (Herod's temple) के चारों ओर फैली हुई थी। अतः यह यहूदियों के लिए एक पवित्र दीवार के रूप में भग्नावशेष था, जो सदैव उन्हें (यहूदियों को) उनके प्राचीन गौरव का स्मरण कराता था। बाद में वहाँ एक मस्जिद की स्थापना कर दी गई और उस दीवार (वेलिंग वाल) को मस्जिद में सम्मिलित कर लिया गया। यहूदी लोग उस दीवार के समीप प्रार्थना करते थे और जोर-जोर से विलाप करते थे। इसी कारण इस दीवार को 'वेलिंग वाल' कहा जाता था। अरब मुस्लिम अपनी मस्जिद के समीप यहूदियों के चिल्लाने पर आपत्ति करते थे। इस विवाद को लेकर प्रदर्शन, हत्याएँ, लूट खसोट आदि की घटनाएँ घटित हुईं।

हालाँ कि उपद्रवों को दबा दिया गया, परन्तु संघर्ष अन्य प्रकार से चलता रहा। इस संघर्ष की आश्चर्यजनक विशेषता यह थी कि अरबों को फिलस्तीन के सभी ईसाई चर्चों की सहानुभूति प्राप्त थी। हड़तालों एवं प्रदर्शनों में मुसलमानों एवं ईसाइयों ने मिलकर (यहूदियों के विरुद्ध) भाग लिया। यहाँ तक कि स्त्रियों

---

१. "The people of Palestine connot and will not tolerate the present absolute colonial system of government"—जवाहरलाल नेहरू, "विश्व इतिहास की झलक", पृ० ७९१.

ने भी इस संघर्ष में भाग लिया। इससे एक बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है, और वह यह कि समस्या धार्मिक न होकर आर्थिक थी। वास्तविक संघर्ष नये आकर बसनेवाले यहूदियों एवं फिलस्तीन के पुराने निवासियों के मध्य था। राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) ने ब्रिटिश प्रशासन की आलोचना करते हुए कहा कि उसने अपने संरक्षक के कर्तव्यों को ठीक प्रकार से निभाया नहीं है तथा वह १९२९ के उपद्रवों को रोकने में असफल रहा है।

ब्रिटिश सरकार ने उपद्रवों की जांच के लिये शॉ आयोग (Shaw Commission) की नियुक्ति की। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि दोनों पक्षों में से किसी ने भी जातिगत सम्बन्धों में सुधार करने के लिए गम्भीर प्रयास नहीं किये हैं। शॉ आयोग की सिफारिशों के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन की कृषि सम्बन्धी समस्या की विशेषज्ञ स्तर पर जांच करने के लिए 'होप सिम्पसन आयोग' (Hope Simpson Commission) की नियुक्ति की। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि यद्यपि फिलस्तीन में कृषि के विकास और अधिक यहूदियों के पुनर्वास के लिए पर्याप्त स्थान है, तथापि जब तक यह विकासपूर्ण न हो जाय, तब तक यहूदी प्रवासियों के आव्रजन पर रोक लगायी जानी चाहिए। शॉ आयोग और होप सिम्पसन आयोग की रिपोर्टों के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया, जिसमें यहूदियों के आव्रजन पर नियन्त्रण की व्यवस्था की गई, यहूदियों और अरबों के प्रति ब्रिटिश सरकार के कर्तव्यों पर बल दिया गया तथा यहूदियों द्वारा भूमि-विक्रय पर नियंत्रण रखने के लिये विकास विभाग की व्यवस्था की गयी। श्वेतपत्र में यह भी सुझाव दिया गया कि सम्पूर्ण उपलब्ध भूमि को भूमिहीन अरब खेतिहरों को बसाने के लिए पृथक् कर दिया जाय। क्योंकि यह श्वेतपत्र यहूदियों के उद्देश्यों के प्रतिकूल था अतः उन्होंने इसका विरोध किया। यहूदियों ने इंग्लैण्ड के कुछ यहूदी समर्थक नेताओं की सहानुभूति का पूरा लाभ उठाया। इन नेताओं ने ब्रिटिश नेताओं की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इनकी ओर से बाल्डविन और चर्चिल ने रैम्जे मैकडोनल्ड पर काफी दबाव डाला। प्रधान मन्त्री मैकडोनल्ड ने यहूदी नेता वीजमैन को लिखे गये पत्र में अपनी नीति में परिवर्तन का संकेत दिया। अपने पत्र में उपर्युक्त श्वेतपत्र की सरकारी व्याख्या करते हुए मैकडोनल्ड ने कहा कि ब्रिटिश सरकार का ऐसा कोई इरादा नहीं है कि यहूदियों द्वारा भूमि-क्रय पर प्रतिबन्ध लगाया जाय अथवा यहूदियों के आव्रजन को सीमित किया जाय। इस प्रकार ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने यहूदियों को फिलस्तीन में बसने की छूट दे दी। इस पत्र को 'काले पत्र' (Black Letter) के नाम से जाना जाता है।

१९२९ के बाद से यरोप की राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी।

यूरोप के विभिन्न देशो मे निवास करनेवाले यहूदी लोग धन, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से यूरोप की अन्य जातियो के लोगो से कही अधिक उन्नत थे। अत जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड आदि देशो के लोग यहूदियों को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे, और उन्हे अपने देशो से भगाने के लिये प्रयत्नशील थे। हिटलर यहूदियों का कट्टर शत्रु था। उसकी मान्यता थी कि प्रथम महायुद्ध में जर्मन-पराजय का प्रमुख कारण यहूदियों की विरोधी गतिविधियाँ थी। अत उसने उनपर अत्याचार करने आरम्भ कर दिये। ऐसी परिस्थिति मे यहूदियो के लिए अनिवार्य हो गया कि वे शीघ्रातिशीघ्र जर्मनी छोड़कर फिलस्तीन में जाकर बस जाएं। अन्य देशो से भी यहूदियो ने भागना आरम्भ कर दिया। अत फिलस्तीन मे यहूदियो का आव्रजन इतनी तीव्र गति से हुआ कि १९३० मे जो आव्रजन नौ हजार प्रतिवर्ष था, वह १९३३ मे ३० हजार और १९३४ मे ४२ हजार प्रति वर्ष तक पहुँच गया। जहाँ १९१९ में फिलस्तीन मे यहूदियो की संख्या एक लाख से भी कम थी, वहाँ १९३४ मे चार लाख के लगभग हो गयी। इससे अरब लोगों का भयभीत होना स्वाभाविक था। प्रतिक्रिया-स्वरूप १९३५ से पुन अरबो का राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। उस समय मिस्र और सीरिया में राष्ट्रवादी आन्दोलन को सफलता प्राप्त हो रही थी। इससे फिलस्तीन के अरबो को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। अपने पड़ोसी देशो मे चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलनो से प्रेरणा ग्रहण कर नवम्बर, १९३५ में फिलस्तीन के अरबो के विविध राजनीतिक दलो ने मिलकर एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया तथा ब्रिटिश सरकार के समक्ष निम्नलिखित माँगं प्रस्तुत की .

१. फिलस्तीन मे अविलम्ब प्रजातान्त्रिक शासन स्थापित किया जाय।
२ ऐसा कानून बनाया जाय जिससे भविष्य मे कोई यहूदी फिलस्तीन में भूमि नही खरीद सके, एवम्
३. फिलस्तीन मे यहूदियो के प्रवेश या आव्रजन पर पूर्णत रोक लगा दी जाय।

ब्रिटिश सरकार ने, जो स्पष्टतः यहूदियो के प्रति सहानुभूति रखती थी, इन माँगो को अस्वीकृत कर दिया।

ब्रिटिश सरकार के अनुदारतापूर्ण रवैये से चिढ़कर फिलस्तीन के अरबों ने अप्रैल, १९३६ में आम हड़ताल कर दी, जो लगभग छह मास तक चलती रही। ब्रिटिश सरकार ने उसे तथा उससे पैदा हुई हिंसात्मक स्थिति को दबाने के लिए भरसक प्रयत्न किये, पर वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सकी। अन्त में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड पील की अध्यक्षता में समस्या की जाँच के लिए एक आयोग की नियुक्ति

की। 'पील आयोग' (Peel Commission) की नियुक्ति २९ जुलाई, १९३६ को की गई। आठ महीनों की जाँच पड़ताल और दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों की बातें सुनने के बाद आयोग ने ब्रिटेन लौटकर जुलाई, १९३७ में एक रिपोर्ट प्रकाशित की। रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से कहा गया कि संरक्षण-व्यवस्था पूर्णतः असफल हो चुकी है, अतः उसे समाप्त करके तीन भागों में विभक्त कर दिया जाय—एक अरब राज्य (फिलस्तीन के एक बड़े भाग में), एक यहूदी राज्य (समुद्र के समीप फिलस्तीन का एक छोटा भाग) तथा जाफा से जेरूसलम तक के क्षेत्र को मिलाकर एक ब्रिटिश क्षेत्र। यह ब्रिटिश क्षेत्र वह था जहाँ अरब और यहूदी दोनों बड़ी संख्या में निवास करना चाहते थे। इसीलिए इस क्षेत्र को स्थायी रूप से ब्रिटिश सरकार के अधिकार में रखने की व्यवस्था की गई थी और समुद्र-तट से इसका सम्बन्ध रखने के लिए जाफा बन्दरगाह तक एक गलियारे का प्रबन्ध किया गया। यहूदी सार्वभौम राज्य का निर्माण गैलिली तथा समुद्रतटीय मैदानों को मिलाकर किया जाना था, और शेष भाग को ट्रान्स-जोर्डन के साथ मिलाकर अरब राज्य का निर्माण होना था। पील आयोग ने यह भी प्रस्ताव रखा कि सम्पूर्ण योजना को संरक्षक राज्य, ट्रान्स-जोर्डन, फिलस्तीन के अरबों और यहूदियों के बीच मैत्री सन्धियों द्वारा पक्का कर दिया जाय, फिलस्तीन के यहूदी और अरब राज्य पूर्णतः स्वतन्त्र माने जाएँ तथा इन दोनों राज्यों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दिलाने का प्रयत्न किया जाय।

फिलस्तीन विभाजन की यह योजना अरबों को पूर्णतः अमान्य थी, अतः उन्होंने इसे ठुकरा दिया और सम्पूर्ण फिलस्तीन पर अपने अधिकार का प्रतिज्ञापन किया। राष्ट्रसंघ के संरक्षण राज्य आयोग, जिसके समक्ष पील आयोग की योजना रखी गयी, ने भी इसे पसन्द नहीं किया। यहूदी लोग विभाजन की योजना को अपना राज्य बनने की आशा से ही स्वीकार करने को उद्यत थे, अन्यथा उन्हें भी योजना के प्रति विशेष आपत्तियाँ थीं। उनकी एक प्रमुख आपत्ति यह थी कि प्रस्तावित यहूदी राज्य में औद्योगिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण केन्द्र, जैसे जोर्डन नदी पर जलविद्युत् स्टेशन और मृत सागर (Dead Sea) पर पोटाश का कारखाना सम्मिलित नहीं थे। उन्होंने हल्फा और गैलिली के अन्य नगरों पर ब्रिटिश शासन को अनिश्चित काल तक बनाये रखने पर भी आपत्ति की। अरबों का सम्पूर्ण फिलस्तीन पर तो दावा था ही, किन्तु उनका यह प्रहार भी था कि योजना को स्वीकार करने का अर्थ गैलिली के अपने अन्य भाइयों से बिछुड़ जाना और भूमध्य सागर के बन्दरगाहों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाना था। इस प्रकार "पील आयोग रिपोर्ट" गम्भीर आलोचना का शिकार बनी। इस रिपोर्ट ने अरब आन्दो-

लन को पुन गम्भीर रूप से भड़का दिया। स्थान-स्थान पर दंगे हुए और उन दंगों में न केवल यहूदी और अंग्रेज ही उनके क्रोध का शिकार बने, प्रत्युत उन अरबों की भी हत्याएँ की गईं जो प्रस्तावित योजना के पक्ष में थे।

पील रिपोर्ट को यद्यपि ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया था, तथापि ब्रिटिश संसद् को वह ग्राह्य नहीं थी। अत उसकी जाँच करने के हेतु एक अन्य आयोग की नियुक्ति की गयी, जिसके अध्यक्ष सर जान वुडहेड (Sir John Woodhead) थे। इस आयोग ने अक्तूबर, १९३८ में अपनी रिपोर्ट पेश की। आयोग ने निर्णय दिया कि विभाजन योजना को कार्यान्वित करना सम्पूर्ण देश में यहूदियों और अरबों के व्यापक बिगराव के कारण असम्भव है। आयोग का निष्कर्ष था कि यदि विभाजन सम्बन्धी कोई भी योजना लागू की गयी तो दोनों भागों में अल्पसंख्यकों की जटिल समस्या उत्पन्न हो जायेगी। इस आयोग की रिपोर्ट के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन विभाजन की योजना का परित्याग कर दिया। अरबों और यहूदियों में समझौता कराने की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार ने लन्दन में एक गोलमेज परिषद् का आयोजन किया। इसमें यहूदियों और अरबों को ब्रिटेन के समक्ष अपना मामला पृथक् रूप से रखने के लिए आमंत्रित किया गया। अन्य पड़ोसी अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया गया। परन्तु अरबों और यहूदियों में इतना अधिक मतभेद था कि वे किसी भी बात पर सहमत नहीं हो सके। अरबों की माँग थी कि उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की जाय और फिलस्तीन में यहूदी आव्रजन पर रोक लगा दी जाय। इसके विपरीत यहूदियों की माँग थी कि "बाल्फोर घोषणा" को क्रियान्वित किया जाय। ब्रिटिश सरकार के समझौता कराने के सभी प्रयत्न असफल रहे और कुछ सप्ताहों के बाद गोलमेज सम्मेलन भंग हो गया।

अन्त में ब्रिटिश सरकार ने अपना ही निर्णय थोपने का निश्चय किया। भावी युद्ध में अरबों का समर्थन प्राप्त करने की आशा से १७ मई, १९३९ को ब्रिटेन ने एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया। इस श्वेतपत्र में कहा गया कि दस वर्षों के बाद फिलस्तीन को एक स्वतंत्र राज्य बना दिया जायेगा। इस स्वतन्त्र राज्य के बारे में स्पष्ट करते हुए कहा गया कि यह नवीन फिलस्तीन राज्य यहूदियों के राष्ट्रीय भूमि के अधिकार की रक्षा सुनिश्चित करने के लिये ब्रिटेन के साथ संधि करेगा, इस नवीन राज्य के प्रशासन में अरब और यहूदी दोनों भाग लेंगे, नवीन राज्य स्थापित होने तक फिलस्तीन में यहूदी आव्रजन सीमित रहेगा तथा जब यहूदी और अरब दोनों आपसी समझौते की स्थिति में पहुँच जाएँगे तो फिलस्तीन के नवीन स्वतंत्र राज्य का संविधान तैयार किया जाएगा। यह स्पष्ट था कि इस श्वेतपत्र

का यहूदियों द्वारा विरोध किया जाएगा। उन्होंने ही केवल इसकी निन्दा नहीं की, प्रत्युत राष्ट्रसंघ के संरक्षण आयोग (Mandate Commission) ने भी इसे संरक्षण का उल्लंघन बताया। चर्चिल ने इसे "बाल्फोर घोषणा का भंग और उल्लंघन" बताया, तथा १९३९ के श्रमिक दल सम्मेलन तक ने इसे "बाल्फोर घोषणा और मैनडेट में दिये गये वचनों का गम्भीर उल्लंघन" कहा। अरब लोग भी इस श्वेतपत्र से सन्तुष्ट नहीं थे। इस अनिश्चय और विरोध की अवस्था के मध्य द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया और ब्रिटेन ने इस मामले को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया।

यद्यपि युद्ध के मध्य यहूदियों ने, अपने कट्टर शत्रु हिटलर के विरुद्ध, मित्रराष्ट्रों को पूरा सहयोग प्रदान किया, तथापि युद्ध के पश्चात् उनमें ब्रिटिश-विरोधी भावना उग्र हो गयी। संयुक्त राज्य अमेरिका में यहूदियों का प्रभाव पहले से ही बना हुआ था, अतः अमेरिका समय-समय पर उनके (यहूदियों के) पक्ष में समस्या का हल ढूँढ़ने के लिए ब्रिटेन पर प्रभाव डालता रहा। १९४५ तक मध्य पूर्वीय राजनीति में अमरीकी प्रशासन की पूर्ण रुचि जागृत हो गयी और अमरीकी विदेश नीति में फिलस्तीन की समस्या एक प्रमुख तत्व बन गयी। अक्टूबर, १९४५ में अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ब्रिटिश सरकार से यूरोप में विस्थापित एक लाख यहूदियों का फिलस्तीन में देशान्तरण करने की अनुमति प्रदान करने का अनुरोध किया। १३ नवम्बर, १९४५ को बेविन ने यह घोषणा की कि फिलस्तीन समस्या का सर्वांगीण निरीक्षण करना आवश्यक है। अतः इसके लिए एक ब्रिटिश अमेरिकन जाँच समिति नियुक्त की जा रही है। इस घोषणा ने फिलस्तीन की सारी समस्या को एक नवीन रूप दे दिया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इसरायल की स्थापना :

ब्रिटेन और अमेरिका के सारे प्रयत्नों के बाद भी अरबों और यहूदियों के बीच समझौता न हो सका। दोनों जातियों के मध्य संघर्ष जारी रहा। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् फिलस्तीन की समस्या अन्तरराष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति के लिए एक गम्भीर खतरा बन गयी, जिसमें यहूदी, इस्लाम और ईसाई मतावलम्बी ही नहीं फँसे हुए थे, वरन् ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और अरब लीग के स्वार्थ भी निहित थे।

फरवरी, १९४७ को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा कर दी कि उसके लिए इस मैंडेट के शासन प्रबन्ध को चलाना सम्भव नहीं है। २ अप्रैल, १९४७ को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के समक्ष ब्रिटेन ने फिलस्तीन पर से मैंडेट हटाने की घोषणा

की। महासभा ने फिलस्तीन समस्या पर २८ अप्रैल और १५ मई के बीच विचार किया, और १५ मई, १९४७ को उसने एक ११ सदस्यीय विशेष समिति की नियुक्ति की, जिसने ३१ अगस्त, १९४७ को अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि फिलस्तीन को दो भागों में बाँट दिया जाय—एक भाग में अरब राज्य की स्थापना हो और दूसरे में यहूदी राज्य की। इसके पश्चात् जेरुसलम के एक विशेष क्षेत्र की रचना की जाए, जिसमें अन्तरराष्ट्रीय शासन की व्यवस्था हो। एक अन्य सिफारिश भी की गयी जिसके अनुसार अरब राज्य और यहूदी राज्य को मिलाकर एक स्वतन्त्र संघात्मक राज्य का निर्माण किया जाय और जेरुसलम को उस राज्य की राजधानी बनाया जाय। परन्तु महासभा का दृष्टिकोण इस सिफारिश के पक्ष में नहीं था। अतः विभाजन की योजना को स्वीकार करते हुए महासभा ने, इसे क्रियान्वित करने के हेतु, एक फिलस्तीन आयोग की नियुक्ति की। ब्रिटेन ने २६ सितम्बर, १९४७ को यह घोषणा कर दी कि १५ मई, १९४८ को अपने मैंडेट की अवधि पूर्ण होने पर वह फिलस्तीन से हट जायेगा।

विभाजन की योजना को यहूदियों ने स्वीकार कर लिया, परन्तु अरबों ने इसे अस्वीकृत कर दिया। इस कठिन परिस्थिति में आयोग ने अपना कार्य आरम्भ किया। फरवरी १९४८ में आयोग ने राष्ट्रसंघ को सूचित किया कि यहूदियों और अरबों के बीच तनाव के कारण महासभा के प्रस्ताव की कार्यान्विती प्रायः सम्भव नहीं है। स्थिति बाद में और भी अधिक चिन्ताजनक हो गयी और इस पर विचार करने के लिए महासभा का एक विशेष अधिवेशन १६ अप्रैल, १९४८ को बुलाया गया, जिसमें कोई निर्णय नहीं लिया जा सका। महासभा ने अपने अधिवेशन में न्यास परिषद् (Trustee ship Concil) से प्रार्थना की कि वह फिलस्तीन में व्यवस्था स्थापना करने के उपाय खोज कर बताये।

न्यास परिषद् के प्रयत्नों से अरबों और यहूदियों के प्रतिनिधियों के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार युद्ध बन्द कर देना और विराम सन्धि किया जाना निश्चित हुआ। २७ अप्रैल, १९४८ को फिलस्तीन में शान्ति स्थापना का कार्य पूरा करने के लिए विराम-सन्धि आयोग नियुक्त किया गया, परन्तु स्थिति में सुधार न हो सका। १४ मई, १९४८ को महासभा ने मामला सुरक्षा परिषद् को सौंप दिया। इसी दिन ब्रिटेन ने फिलस्तीन से अपना शासन प्रबन्ध हटा लिया (जिसकी घोषणा १५ मई, को की गयी)और यहूदियों ने फिलस्तीन में इसरायल राज्य की स्थापना कर दी। बदले में मिस्र, ट्रान्स-जोर्डन, लेबनान तथा ईराक ने फिलस्तीन पर आक्रमण कर दिया।

इस अप्रत्याशित आक्रमण से इसरायल बोखला उठा। यद्यपि आरम्भ में

अरबों को कुछ सफलता अवश्य मिली, परन्तु बाद में इसरायल ने उन्हें पीछे खदेड़ दिया, और वे (अरब) केवल उसी भाग को अपने नियंत्रण में रख सके जो यहूदियों के अधिकार में नहीं था। इससे परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी। २० मई, १९४८ को स्वीडन की रेड क्रॉस सोसायटी के अध्यक्ष काउण्ट फॉक बर्नाडोट (Count Folke Bernadotte) को फिलस्तीन में युद्ध-विराम के प्रबन्ध के लिये संयुक्त राष्ट्रीय मध्यस्थ नियुक्त किया गया। २२ मई, १९४८ को सुरक्षा परिषद् ने अरबों एवं यहूदियों से सैनिक कार्यवाहियाँ बन्द करने के लिये प्रार्थना की। ११ जून को बर्नाडोट के प्रयत्नों से चार सप्ताह के लिये दोनों पक्षों में युद्ध-विराम हो गया। ७ जुलाई को सुरक्षा परिषद् ने दोनों पक्षों से प्रार्थना की कि वे युद्ध-विराम को उस समय तक बनाये रखें जब तक सुरक्षा-परिषद्, मध्यस्थ बर्नाडोट की सहमति से, उसे बनाये रखना आवश्यक समझती है। इसरायल सरकार युद्ध-विराम की अवधि बढ़ाने को तैयार हो गयी, परन्तु अरबों ने इस प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। इससे उपद्रव पुनः भड़क उठे और १७ सितम्बर-१९४८ को मध्यस्थ बर्नाडोट और मुख्य फ्रांसीसी निरीक्षक कर्नल आन्द्रे सेरोत (Colonel Andre Serot) गोली से उड़ा दिये गये। सुरक्षा परिषद् ने अब डॉ० रैल्फ जे. बन्च (Ralph j. Bunche) को कार्यवाहक मध्यस्थ नियुक्त किया। २९ दिसम्बर को तीसरी बार युद्धविराम स्थापित हुआ। बन्च ने ७ जनवरी, १९४९ को सभी क्षेत्रों में युद्धबन्दी की सीमा निश्चित की। महासभा ने एक 'संयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग' (U. N. Conciliation Commission) की नियुक्ति की, जिसने अनेक विकट प्रश्नों को सुलझाया। अन्त में इसरायल और पड़ोसी राज्यों के मध्य युद्धबन्दी समझौते हुए। २४ फरवरी, १९४९ को इसरायल और मिस्र के बीच रोड्स (Rhodes) स्थान पर; लेबनान और इसरायल के मध्य २३ मार्च को रस-एन-नकोरा (Ras en Naquora) स्थान पर; ट्रान्स-जोर्डन और इसरायल के बीच ३ अप्रैल को रोड्स में; तथा सीरिया और इसरायल के मध्य २० जुलाई को मनहनायिम (Manhanayim) नामक स्थान पर। ११ अगस्त, १९४९ को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें सभी पक्षों से अपील की गई कि वे या तो स्वयं अथवा 'फिलस्तीन समझौता आयोग' के माध्यम से अन्तिम शांति स्थापित करने का प्रयत्न करें, जिससे कार्य-वाहक मध्यस्थ को अपने उत्तरदायित्वों से मुक्त अथवा बरी किया जा सके तथा, यदि आवश्यक हो तो, युद्ध विराम को स्थायी रखने तथा शांति सन्धियों को क्रिया-न्वित कराने के लिये राष्ट्रसंघ के निरीक्षकों की नियुक्ति की जा सके। इससे पूर्व मई, १९४९ में इसरायल को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो चुकी थी।

संयुक्त राष्ट्रसघ के मध्यस्थ रैल्फ बन्च के प्रयत्नो से जब १९४६ मे दोनो पक्षो मे युद्ध बन्द हुआ तो इसरायल के पास राष्ट्रसघ द्वारा तैयार की गयी विभाजन योजना से दो हजार वर्गमील से भी कही अधिक प्रदेश था। इस युद्ध मे मिस्री सेनाओ ने गाजा तथा बीरशेबा पर अधिकार कर लिया था और जेरूसलम के उत्तरवर्ती भागो से यहूदियो को भगा दिया था। सयुक्त राष्ट्रसघ के हस्तक्षेप से जो समझौता हुआ उसके अनुसार मिस्र को गाजापट्टी मिली, जिसमे शरणार्थी अरबो को बसाने की व्यवस्था की गयी। जेरूसलम नगर दो भागो मे बँट गया। लगभग एक लाख की आबादीवाला बडा भाग जोर्डन के अधिकार मे रहा। इस प्रकार दोनो राज्यो की सीमा इस नगर मे से होकर गुजरती हुई रखी गयी। इसरायल ने भागे हुए अरबो को वापस लौटने की अनुमति नही दी। उसकी नीति के कारण लगभग १० लाख अरबो को १९५३ तक इसरायली प्रदेश छोड-कर अन्य अरब देशो मे शरणार्थी बनकर रहना पड़ा, और बदले मे यूरोप, अफ्रीका एव मध्यपूर्व के विभिन्न देशो से छह लाख से भी अधिक यहूदी आकर वहाँ बस गये। इस समय इसरायल का क्षेत्रफल ७९९३ वर्गमील है तथा जनसख्या (१९६७ की जनगणना के अनुसार) २६ लाख २५ हजार से कुछ कम है।

अध्याय ८

सऊदी अरब

सऊदी अरब के उत्तर में जोर्डन, ईराक और कुवैत हैं, पूर्व में फारस की खाड़ी है, पश्चिम में लाल सागर तथा दक्षिण में रब-अल-खली का रेगिस्तान है। इसका क्षेत्रफल ८ लाख ७३ हजार ९ सौ ७२ वर्ग मील तथा जनसंख्या (१९६६ की जनगणना के अनुसार) ६८ लाख ७० हजार है। इसकी राजधानी रियाद है। यद्यपि यह देश मुख्यतः कृषिप्रधान है, तथापि इसकी अधिकांश आय का साधन तेल उद्योग है। तेल की दृष्टि से यह विश्व भर में सबसे अधिक समृद्ध माना जाता है। यह देश अरब प्रायद्वीप के ⅘ भाग में फैला हुआ है।

सऊदी अरब का निर्माण तथा इब्न सऊद :

सऊदी अरब के वर्तमान शाह फैजल सऊद (Faisal Saud) हैं। वर्तमान शाह के पिता शाह अब्दल अजीज ने, जो इब्न सऊद (Ibn Saud) के नाम से विख्यात थे, २६ दिसम्बर, १९१५ को ब्रिटेन के साथ एक सन्धि की, जिसके द्वारा ब्रिटेन ने नेज्द (Nejd) की स्वतन्त्रता तथा उसकी प्रादेशिक अखण्डता को स्वीकार किया और इब्न सऊद ने प्रथम महायुद्ध में तटस्थ रहने तथा हेजाज (Hejaz) के शाह हुसैन पर आक्रमण न करने का वचन दिया। परन्तु जब अमीर हुसैन (शाह हुसैन) ने १९१६ में स्वयं को अरबों का शासक घोषित किया तो इब्न सऊद के साथ उसका व्यवहार शत्रुतापूर्ण हो गया। चूंकि ब्रिटेन अरब के अन्य देशों को स्वतन्त्रता प्रदान करने का वायदा कर चुका था, अतः वह अमीर हुसैन के स्वयं आरोपित दावे को स्वीकार न कर सका और उसने यह घोषित किया कि वह अमीर हुसैन को केवल हेजाज का सम्राट् मानता है। युद्ध के मध्य मिस्र स्थित ब्रिटिश हाई कमीशन ने हुसैन को यह आश्वासन दे डाला कि युद्ध की समाप्ति पर उसके शासन के अन्तर्गत अरब स्वतन्त्रता प्रदान की जायेगी। इब्न

सऊद को शाह अमीर हुसैन के दावे तथा ब्रिटिश हाई कमीशन द्वारा हुसैन को दिये गये वचन आदि से बड़ा असन्तोष हुआ और उसने पड़ोसी देशो को उकसाना चालू किया कि वे हेजाज से अपने सम्बन्ध तोड दे। इन कार्यवाहियो के फलस्वरूप हुसैन और इब्न सऊद मे १९१८ मे खुला संघर्ष हुआ, जिसमे १९१९ मे तुरावा के स्थान पर शाह हुसैन की पराजय हुई। किन्तु चूँकि ब्रिटेन का समर्थन इब्न सऊद और शाह हुसैन दोनो को ही प्राप्त था, अत ब्रिटेन का समर्थन खो बैठने के भय से इब्न सऊद ने कुछ समय तक सयमपूर्ण व्यवहार किया।

आगे चलकर शाह हुसैन के ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध खराब हो गये। ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने हुसैन से यह वायदा किया था कि युद्ध-समाप्ति के बाद उसके शासन के अन्तर्गत अरब जगत् को स्वतन्त्रता प्रदान की जायेगी, किन्तु महायुद्ध के बाद फिलस्तीन और सीरिया मे क्रमश ब्रिटेन और फ्रास का सरक्षण स्थापित कर दिया गया। इससे शाह हुसेन को बहुत ठेस लगी। कुपित होकर शाह हुसैन ने वर्साइ की सन्धि की पुष्टि करने तथा लोसाने सम्मेलन मे सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्र उससे रुष्ट हो गये। शाह हुसैन ने और भी अनुचित कार्य किये। उसने मक्का जानेवाले मिस्री तीर्थयात्रियो पर प्रतिबन्ध लगा दिये, जिससे मिस्र भी नाराज हो गया। साथ ही शाह हुसैन ने १९२४ मे "खलीफा" की उपाधि धारण करके सम्पूर्ण मुस्लिम जगत् की भावनाओ को आघात पहुँचाया। हुसैन के मुस्लिम धर्मविरोधी कार्यों से इब्न हुसैन और भी अधिक चिढ गया और उसने, मौके से लाभ उठाते हुए, शाह हुसैन पर आक्रमण कर दिया। शाह हुसैन को ३ अक्टूबर को अपने पद का त्याग करना पडा। शाह हुसैन के पुत्र अली ने शासन की बागडोर अपने हाथ मे ली, लेकिन वह भी सऊदी सेनाओ के सामने अधिक नही टिक सका। शाह अली परास्त हुआ और उसने भागकर ईराक में शरण ली। २२ दिसम्बर, १९२५ को जिद्दा सऊदी सेनाओ के आधिपत्य मे चला गया। ८ जनवरी, १९२६, को इब्न सऊद हेजाज का शाह बन बैठा। अपनी सूझ-बूझ पूर्ण कूटनीति और युद्धनीति का सहारा लेकर यह अरब राष्ट्रवाद का नेता बन गया तथा अरब प्रायद्वीप को उसने एक सूत्र मे बाँध दिया। १९२६ मे उसने (हेजाज का राजा बनने के पश्चात्) मक्का मे एक इस्लामी सम्मेलन बुलाया। उस सम्मेलन मे इब्न सऊद ने विरोधी मुस्लिम विचारधारा को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया तथा पवित्र स्थानो की यात्रा करने-वाले मुस्लिम यात्रियो के साथ न्यायोचित एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने का वचन दिया। अब इब्न सऊद ने पड़ोसी राज्यो पर अपना प्रभाव बढाना आरम्भ किया, किन्तु शीघ्र ही सऊदी अरब तथा ट्रान्स-जोर्डन के मध्य सीमाकन करने की समस्या

को लेकर, इब्न सऊद और ब्रिटेन के मध्य विवाद उठ खड़ा हुआ। लेकिन १९२७ में जब दोनों देशों के मध्य पुनः शान्ति स्थापित हो गयी जब सऊदी अरब और ब्रिटेन के बीच 'जिद्दा की संधि' पर हस्ताक्षर हो गये, जिसके द्वारा ब्रिटेन ने इब्न सऊद को हेजाज, नेज्द और उसकी अधिराज्यों का प्रभुत्व-सम्पन्न स्वाधीन शासक स्वीकार किया। ट्रान्स-जोर्डन के सरहदी संघर्ष इसी मित्रता पर निर्भर करते थे। जिद्दा की संधि द्वारा इब्न सऊद ने ब्रिटेन के संरक्षण में चले जाने वाले फारस की खाड़ी के सभी शेख साम्राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने का दायित्व लिया। १९२६–१९३१ के मध्य इब्न सऊद को सभी प्रधान यूरोपीय शक्तियों ने (रूस तथा अमेरिका को सम्मिलित करते हुए) मान्यता प्रदान कर दी। सितम्बर, १९३२ में इब्न सऊद ने अपने आपको सऊदी अरब का सम्राट् घोषित कर दिया।

इब्न सऊद के कुशल नेतृत्व में अखिल अरब आन्दोलन (Pan-Arab Movement) धीरे धीरे प्रगति करता गया। किन्तु शीघ्र ही सऊदी अरब और यमन के मध्य संघर्ष उठ खड़ा हुआ। १९३४ में वह यमन के इमाम के साथ युद्ध-रत हो गया। युद्ध में पराजित होकर यमन ने इब्न सऊद के साथ एक संधि कर ली, जो 'इस्लामी मैत्री और अरब भ्रातृत्व की संधि' के नाम से विख्यात है। इस संधि के फलस्वरूप सऊदी अरब की स्थिति दक्षिण में और भी अधिक सुरक्षित हो गई। अरब समाज को संगठित करने की दृष्टि से अप्रैल १९३६ में इब्न सऊद ने 'अरब भ्रातृत्व और मैत्री' नामक संधि ईराक के साथ सम्पन्न की। इसी वर्ष मई में मिस्र के साथ भी एक मैत्री-संधि सम्पन्न की गई।

मार्च, १९४५ में सऊदी अरब 'अरब लीग' का सदस्य बन गया तथा अरब राज्यों के साथ मिलकर यहूदी विरोधी आन्दोलन में सहयोग दिया। परन्तु उसका अरब राज्यों के साथ सहयोग करने का मुख्य उद्देश्य जोर्डन के शाह अब्दुल्ला की जोर्डन और ईराक को मिलाकर वृहत्तर सीरिया स्थापित करने की योजना को फलीभूत न होने देना था। शाह अब्दुल्ला की योजना के प्रति 'अरब लीग' का विरोध संगठित करने में उसने मिस्र का साथ दिया। १९४९ में अरब-फिलस्तीन को जोर्डन में सम्मिलित करने के प्रयास का भी इब्न सऊद ने विरोध किया। १९५१ में शाह अब्दुल्ला की हत्या कर दी जाने के पश्चात् जब उनके उत्तराधिकारी (शाह तलाल और बाद में तलाल के पुत्र शाह हुसैन) जोर्डन के शाह बने, तो दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार हो गया।

इब्न सऊद की ९ नवम्बर, १९५३ को ७४ वर्ष की आयु में मृत्यु हो गयी और उनके बड़े पुत्र शाह सऊद ने शासन की बागडोर सँभाली।

शाह सऊद :

शाह सऊद इब्न सऊद के ज्येष्ठ पुत्र थे, जो १९५३ में सिंहासनारूढ़ हुए। स्वभाव से ये बहुत ही शान्त एवं सरल व्यक्ति थे। इनके शासनकाल में सऊदी अरब में सड़कों, विद्यालयों, चिकित्सालयों, बड़े बड़े भवनों, निवास-स्थानों एवं हवाई अड्डों आदि का निर्माण हुआ। पुराने मिट्टी से बने हुए मकानों का स्थान नये ढंग के आधुनिक मकानों ने ले लिया तथा पुराने ढंग से कार्य करने की पद्धतियों में भी आमूल परिवर्तन किया गया। अमेरिका से मिलनेवाली वित्तीय सहायता से नवीन उद्योगों की स्थापना की गयी तथा देश में सभी क्षेत्रों में प्रगति करने का प्रयास किया गया। फिर भी शाह सऊद अपने देश की पुरानी परिपाटी को छोड़ना अधिक पसन्द नहीं करते थे। इसी कारण उन्होंने आप्रवासी स्त्रियों (Immigrant Wives) के विदेशी ढंग तथा उनके रहन सहन की पश्चिमी पद्धतियों को तो सहन कर लिया, किन्तु स्त्री-स्वतन्त्रता की अनिवार्यता को शासकीय मान्यता प्रदान नहीं की। उनके इस स्वभाव का सऊदी अरब की विदेशनीति पर भी प्रभाव पड़ा। शाह सऊद ने बहुत कुछ अपने पिता इब्न सऊद की नीतियों का ही अनुसरण करने का प्रयास किया तथापि शान्त स्वभाव के कारण वे अपने पिता के विपरीत, अपने देश की सीमाओं की वृद्धि करने के पक्ष में नहीं थे। प्रायः उन्होंने सभी युद्धों से अपने राष्ट्र को दूर रखने के प्रयत्न किए और अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति का अनुसरण किया।

शाह सऊद और उनके भाई राजकुमार फैजल में प्रतिस्पर्धा चलती रही। यदि शाह सऊद शांत और सरल प्रकृति के व्यक्ति थे, तो राजकुमार फैजल पश्चिमी सभ्यता के रंग में रँगे हुए वैभवप्रिय व्यक्ति। मार्च, १९५८ में शाह सऊद ने अत्यधिक दबाव के कारण एक आदेश प्रसारित कर समस्त कार्यकारिणी शक्तियाँ (Executive Powers) राजकुमार फैजल को हस्तान्तरित कर दीं। परन्तु दिसम्बर, १९६० में फैजल को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा और शाह सऊद ने प्रधान मन्त्री का पद स्वयं ग्रहण कर लिया। १९६२-६३ में वातावरण पुन. राजकुमार फैजल के पक्ष में हो गया और उन्हें पुन. कार्यकारिणी शक्तियाँ प्राप्त हो गयीं। अन्त में २ नवम्बर, १९६४ को मन्त्रिमण्डल एवं परामर्शदात्री सभा ने *शाह सऊद को उनके पद (शाह के पद) से हटा दिया और उनके स्थान पर* राजकुमार फैजल को सऊदी अरब का शाह घोषित किया गया। जनवरी, १९६५ में शाह सऊद ने दिखावे के लिए विधिवत् अपने पद का त्याग कर दिया।

अध्याय ६

ईराक

ईराक, जिसे प्रथम महायुद्ध तक मेसोपोटेमिया (Mesopotamia) के नाम से जाना जाता था, एक उपजाऊ प्रदेश है, जो तिग्रिस (Tigris) और यूफ्रेट्स (Euphrates) नदियों के बीच स्थित है। इसके उत्तर में तुर्की, पश्चिम में सीरिया और जोर्डन, दक्षिण में सऊदी अरब, दक्षिण-पूर्व में कुवैत और फारस की खाड़ी के तट का एक छोटा सा भाग तथा पूर्व में ईरान है। ईराक और तुर्की एक दूसरे के साथ कुर्दिस्तान क्षेत्र में मिलते हैं। इसका क्षेत्रफल १,६७,५६८ वर्ग-मील तथा जनसंख्या ८३,३८,००० (१९६९ की जनगणना के अनुसार) है। ईराक की राजधानी बगदाद है तथा उसका धर्म इस्लाम एवं भाषा अरबी है।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व ईराक तुर्की साम्राज्य का एक भाग था परन्तु जब तुर्की ने धुरी राष्ट्रों का साथ देते हुए रूसी बन्दरगाहों पर आक्रमण कर दिया तो मित्र राष्ट्रों ने १९१४ में तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। १९१५ में ब्रिटेन ने ईराक पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इसके पश्चात् १६ मई, १९१६ को ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य एक गुप्त समझौता हुआ, जिसके अनुसार तुर्की को आपस में दो भागों में बाँट लिया गया। फ्रांस को सीरिया, लेबनान और ईराक के कुछ भाग प्राप्त हुए और बगदाद सहित ईराक का शेष भाग ब्रिटेन के अधिकार में चला गया। नवम्बर, १९१८ में ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा एक सम्मिलित घोषणा की गई, जिसमें कहा गया कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद ईराक को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायेगी, परन्तु हुआ इसके विपरीत। मित्र राष्ट्रों ने ईराक को स्वतन्त्रता प्रदान करने की अपेक्षा उसपर अपना अंकुश और अधिक कठोर कर दिया। मई, १९२० में ईराक को, राष्ट्रसंघ के निर्णयानुसार, ब्रिटिश संरक्षता में रख दिया गया। ईराक को ब्रिटिश संरक्षण में रखने का निर्णय तथा उसकी घोषणा सैन रेमो सम्मेलन में की गयी।

यद्यपि ईराक को स्वतन्त्रता प्रदान करने के सम्बन्ध में ब्रिटेन और फ्रांस की संयुक्त घोषणा को (जो ७ नवम्बर, १९१८ को की गयी थी) पुनः दोहराया गया, तथापि ईराकी राष्ट्रवादियों को ईराक को ब्रिटिश संरक्षण में रखे जाने से निराशा हुई। ब्रिटिश संरक्षता का विरोध करते हुए, राष्ट्रवादियों ने माँग की कि ईराक को तुरन्त स्वतन्त्र कर दिया जाय तथा उसे सीरिया में सम्मिलित होने दिया जाय। इस माँग के साथ ही ईराक मे राष्ट्रवादी आन्दोलन आरम्भ हो गया।

राष्ट्रवादी आन्दोलन :

स्वतन्त्रता की माँग को लेकर ईराक में लगभग छह मास तक निरन्तर आन्दोलन चलता रहा। ईराकियों ने अनेक ब्रिटिश अधिकारियों को मौत के घाट उतार दिया। फिर भी ब्रिटिश सरकार, किसी भी कीमत पर, अपने स्वार्थों की रक्षा करना चाहती थी। ब्रिटेन के लिए ईराक का महत्व उसके समृद्ध तेल कूपों तथा भारत और यूरोप के बीच वायुपथ को लेकर था।

परन्तु ईराकी राष्ट्रवादियों के विद्रोह से परेशान होकर ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेज अधिकारियों के परामर्श से कार्य करनेवाली एक अरब कौंसिल (An Arab Council of State) की स्थापना कर, ईराकियों को उनके देश के प्रशासन में भाग लेने का अधिकार प्रदान कर दिया। साथ ही ब्रिटिश सरकार ने शरीफ हुसैन के पुत्र फैजल को ईराक की गद्दी पर बैठने के लिए आमन्त्रित किया, जिसको १९२० में फ्रांसीसियों ने सीरिया से निष्कासित कर दिया था। अमीर फैजल २३ अगस्त, १९२१ को विधिवत् ईराक की गद्दी पर बैठा दिया गया। ईराकी राष्ट्रवादियों को ब्रिटिश सरकार की इन कार्यवाहियों से तनिक भी सन्तोष नहीं हुआ। इसके विपरीत उनका विद्रोह और भी अधिक तीव्र हो गया। फलस्वरूप ब्रिटेन ने ईराक के साथ एक ऐसी सन्धि कर लेना श्रेयस्कर समझा जिसके द्वारा यथासम्भव सम्माननीय ढंग से ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा हो सके। अमीर फैजल ब्रिटेन के प्रति पहले से ही अनुगृहीत था। अतः १० अक्टूबर, १९२२ को दोनों देशों के मध्य एक सन्धि सम्पन्न हुई। इस "आंग्ल ईराकी सन्धि" के अनुसार ईराक स्थित ब्रिटिश हाई कमिश्नर शाह फैजल का परामर्शदाता बना। ब्रिटिश परामर्शदाता का कार्य ईराक के आर्थिक, सैनिक एवं वैदेशिक मामलों में परामर्श देना था। इस सन्धि में "संरक्षण की व्यवस्थाएँ, शत्रु के समर्पण की शर्तों के उन्मूलन की पूर्ति के लिए न्यायालय सम्बन्धी मामलों की गारन्टी और ईराक में ब्रिटेन के विशेष स्वार्थों की गारन्टी" समाविष्ट थी। इस प्रकार इस सन्धि में प्रायः उन सभी अधिकारों का समावेश कर दिया गया जो ब्रिटेन को एक संरक्षक राज्य की हैसियत से प्राप्त हो सकते थे। आरम्भ में यह सन्धि २० वर्षों के लिए की

गयी थी, परन्तु आगे चलकर इसकी अवधि घटाकर चार वर्ष कर दी गयी। जब इस सन्धि द्वारा ईराक में ब्रिटेन के अधिकार सुरक्षित कर दिए गए तो बदले में ब्रिटेन ने ईराक को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनवा देने में अपने प्रभाव का उपयोग किया।

ईराकी राष्ट्रवादियों को इस सन्धि से तनिक भी सन्तोष नहीं था, क्योंकि उनका उद्देश्य तो ईराक को ब्रिटिश दासता से पूर्णतः मुक्त करना था। अतः उन्होंने अपने स्वतन्त्रता-संग्राम को जारी रखा। ब्रिटिश सरकार भी अपने हितों के प्रति पूर्ण सजग थी। अतः मार्च, १९२३ में ईराक में एक संविधान सभा बनायी गयी, जिसने जून में अक्टूबर में १९२२ की सन्धि को स्वीकार कर लिया। २१ मार्च, १९२५ से ईराक में नवीन संविधान लागू होना घोषित कर दिया गया। नवम्बर, १९२३ में राष्ट्रसंघ की परिषद् (Council of the League of Nations) ने मोसल विलायत (Mosul Vilayet) के बहुत बड़े भाग को ईराक को सौंप दिया। नवम्बर, १९२४ में ब्रिटेन, तुर्की और ईराक के मध्य एक सन्धि हुई जिसके अनुसार ईराक की नयी सीमाओं को स्वीकार कर लिया गया। इस सन्धि के अनुसार ईराक ने इस शर्त पर, कि संरक्षण व्यवस्था २५ वर्ष तक लागू रहे बशर्ते ईराक राष्ट्रसंघ का इससे पूर्व ही सदस्य बन जाय, तुर्की को मोसल के तेलों से प्राप्त होनेवाली रॉयल्टी के रूप में धनराशि पर १० प्रतिशत देना स्वीकार किया। बाद में ईराक और तुर्की के बीच और भी कई सन्धियाँ की गईं।

परन्तु ईराकी राष्ट्रवादियों को इन बातों से सन्तोष नहीं हुआ, और उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अपना आन्दोलन जारी रखा। फलस्वरूप १९३० में एक नयी आंग्ल ईराकी सन्धि की गयी, जिसके द्वारा ब्रिटेन ईराक में अपना संरक्षण समाप्त करने और साथ ही ईराक को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त कराने में अपना पूर्ण समर्थन देने के लिए सहमत हो गया। परन्तु इस सन्धि के द्वारा ब्रिटेन ने ईराक में अपने अनेक अधिकार सुरक्षित रखे। इनमें विदेशी मामलों में सहयोग तथा युद्ध की अवस्था में पारस्परिक सहायता की व्यवस्था की गयी जिसमें ब्रिटिश सेनाओं के यातायात एवं अन्य सभी सुविधाओं सम्बन्धी तथा सहायता और मार्ग सम्बन्धी अधिकार भी शामिल थे। ब्रिटेन को बसरा नगर के निकट यूफ्रेट्स (Euphrates) नदी के पश्चिम में हवाई अड्डे बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ तथा हैबानिया (Havvaniyah) और साहिबाह (Sahibah) में ब्रिटिश सेनाएँ रखने का अधिकार भी मिला। इतने व्यापक अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद ब्रिटेन के प्रयासों के फलस्वरूप ३ अक्टूबर, १९३२ को ईराक को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। राष्ट्रसंघ की परिषद् इस शर्त पर ईराक के प्रवेश के लिए सहमत हो गयी कि वह 'अल्पसंख्यकों के अधिकारों, न्याय, अन्तरराष्ट्रीय कानून एवं

अन्य सुरक्षाओं की गारन्टी करे'। ईराक के राष्ट्रसंघ के सदस्य बनने के उपरान्त विधिवत् संरक्षण-व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार सैन रिमो सम्मेलन द्वारा प्रदत्त तीन संरक्षित प्रदेशों में से एक का अन्त हो गया।

जून, १९३० की सन्धि द्वारा ईराक पर इतनी शर्तें लाद दी गयी थीं कि एक स्वतन्त्र राज्य बन जाने पर भी वह वास्तव में प्रत्येक दृष्टि से पूर्णतया ब्रिटेन के संरक्षण में ही रहा। अतः ईराकी राष्ट्रवादियों ने इस सन्धि का विरोध करना निरन्तर जारी रखा। सितम्बर, १९३३ में शाह फैजल की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र गाजी गद्दी पर बैठा, जो अनुभवशून्य होने के कारण शासन करने में असफल रहा। परिणाम यह हुआ कि १९३६ में सेना ने सत्ता अपने हाथ में ले ली। कुछ समय के लिए जनरल बक्र सिद्दिकी के हाथों में शक्ति आ गयी। परन्तु ब्रिटेन और ईराक के पारस्परिक सम्बन्धों में सुधार न हो सका। साथ ही ईराक में कुछ अन्य समस्याएँ भी उठ खड़ी हुईं, जिनमें सबसे कठिन थी वहाँ पर रहनेवाले गैर-अरबी अल्पसंख्यकों की समस्या। एक ओर तो ईराक अपने बीच असीरियन अल्पसंख्यकों को सहन नहीं कर पा रहा था और दूसरी ओर कुछ अल्पसंख्यक अपने लिये कुर्दिस्तान की मांग कर रहे थे। इस असंतोष के वातावरण में ईराकी सेनाओं ने लगभग ५०० असीरियनों की हत्या कर दी, जिसके लिये बाद में ईराकी प्रतिनिधि ने जेनेवा में अत्यन्त दुःख प्रकट किया एवं क्षमायाचना की। कुर्दों के प्रान्तों में विशेष शासन-व्यवस्था लागू करने के लिए ब्रिटेन ने ईराक को फुसलाने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु कुर्दों द्वारा खुला विद्रोह कर दिये जाने के कारण उसका (ब्रिटेन का) यह प्रयत्न सफल न हो सका। ईराकी सेनाओं ने कुर्दों के विद्रोह को बलपूर्वक कुचल दिया।

शनैः शनैः ब्रिटेन और ईराक के सम्बन्ध बिगड़ते गये। १९३६ में सेना द्वारा शक्ति हथिया ली जाने के पश्चात् ईराक में नाजीवाद की भावनाएँ उभर आईं। जर्मन सरकार ने अवसर का लाभ उठाते हुए ईराकी राष्ट्रवादियों में ब्रिटेन के विरुद्ध शत्रुता और तानाशाही राज्यों की प्रशंसा का तीव्र प्रचार करना आरम्भ कर दिया। अप्रैल, १९३९ में सम्राट् गाजी की एक मोटर दुर्घटना में मृत्यु हो गयी और ईराकियों ने यह सन्देह किया कि इसमें ब्रिटेन का हाथ है। गाजी की मृत्यु के बाद फैजल द्वितीय ईराक की गद्दी पर बैठा।

यद्यपि १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर, १९३० की आंग्ल-ईराकी सन्धि के अनुसार, ईराक ने धुरी राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध समाप्त कर दिये, तथापि ब्रिटेन के साथ राजनीतिक मतभेद बने रहे। राष्ट्रवादियों की मांग थी कि युद्ध न किया जाय तथा जर्मनी के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए

जायें। अप्रैल, १९४१ मे ईराक में दूसरी बार सैनिक क्रान्ति हुई और सैनिक अधिकारी रशीद अली किलानी ने सम्राट् से सत्ता छीन ली। नई सरकार ने युद्ध से दूर रहने की इच्छा प्रकट की, परन्तु उसकी सहानुभूति धुरी-राष्ट्रो के साथ थी। इससे ईराक और ब्रिटेन के सम्बन्ध और भी अधिक बिगड गये। १९४२ में ब्रिटिश सेनाओ ने ईराक पर आक्रमण करके रशीद अली की सरकार को उखाड फेंका। सम्राट् फैजल द्वितीय पुन गद्दी पर बैठा दिये गये और इस प्रकार ब्रिटेन ने अपने अनुकूल सरकार की स्थापना कर दी। ब्रिटेन की समर्थक सरकार ने जनवरी, १९४३ मे धुरी-राष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और १९४५ मे राष्ट्रसघ के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ईराक की राजनीतिक स्थिति :

द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम दिनो मे ईराक और ब्रिटेन के सम्बन्धों में तनाव पैदा हो गया। महायुद्ध के पश्चात् ईराक ने ब्रिटेन से सेनाएँ हटाने के लिए कहा। ब्रिटेन ने १९४७ तक केवल दो अड्डो को छोडकर सारे ईराक से अपनी सेनाएँ हटा ली। जनवरी, १९४८ में ब्रिटेन के साथ पुन एक सधि की गई, जिसके द्वारा ब्रिटेन ने ईराकी रेलवे पर से अपने अधिकार हटा लिए तथा बसरा के बन्दरगाह का प्रशासन एव हवाई अड्डा ईराक को सौप दिया। इसके बदले मे ईराक ने ब्रिटेन को वचन दिया कि वह शान्ति-सधियाँ लागू होते ही उसे (ब्रिटेन को) हवाई अड्डो का प्रयोग करने देगा और युद्ध की सम्भावना होने पर उसे सैनिक सुविधाएँ भी प्रदान करेगा। परन्तु ईराकी जनता द्वारा इस सधि का विरोध किए जाने पर इसे रद्द कर दिया गया और इसके परिणाम-स्वरूप ईराकी प्रधान मत्री को त्यागपत्र देना पडा। ईरान की भाँति ईराक में भी तेल उद्योग का प्रश्न उठा और १९५२ मे ईराक को यह आश्वासन प्राप्त हो गया कि उसे प्रति वर्ष दो करोड पौंड की राशि तेल की रायल्टी के रूप में मिलेगी। परन्तु ब्रिटिश और फ्रेन्च तेल कम्पनियो के साथ हुए इस समझौते से सारे ईराक में विद्रोह उठ खडा हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप सन् १९५२ मे सैनिक शासन की स्थापना हुई।

उस समय ईराक ने महसूस किया कि उसे अपने को साम्यवादी प्रभाव से सुरक्षित रखना है। मार्च, १९५० मे ईराक के तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने कहा था कि ईराक को सोवियत प्रभाव से सर्वाधिक खतरा है तथा इस देश को "साम्यवाद के प्रसार के लिये एक भावी पुल" के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है। साथ ही ईराकी सरकार मिस्र की ईराकी महत्वाकाक्षाओं की पूर्ति के लिए एक बहुत बडी बाधा मानती थी। अत. ईराक ने इन दोनों समस्याओ से निपटने के लिये पश्चिमी

गुट की ओर झुकना ही ठीक समझा। परन्तु ईराक ने अरब एकता के स्वप्न का भी परित्याग नहीं किया और वह अरब राष्ट्रवाद का समर्थक बना रहा।

१४ जुलाई, १९५८ को अकस्मात् ही अब्दुल करीम कासिम के नेतृत्व में ईराकी सेना ने क्रान्ति कर दी और सम्राट् फैजल को उनके युव राज प्रधान मन्त्री सहित मार डाला। क्रान्ति के पश्चात् ईराक में गणतन्त्रात्मक सरकार की स्थापना की गयी, जिसका नेतृत्व कासिम ने किया। कुछ समय बाद ही जनरल कासिम ने महसूस किया कि प्रधान मन्त्री आरिफ उसे सत्ता से हटाना और ईराक को संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र) के साथ मिलाना चाहता है। फलस्वरूप प्रधान मन्त्री आरिफ को ४ नवम्बर, १९५८ को बन्दी बना लिया और फाँसी की सजा सुना दी गयी। परन्तु उन्हें फाँसी नहीं दी गयी, क्योंकि राष्ट्रपति कासिम ने उन्हें बाद में क्षमा कर दिया।

फरवरी, १९५९ में जनरल कासिम के मन्त्रिमण्डल ने प्रधान मन्त्री आरिफ को दंडित किये जाने तथा कासिम पर साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के विरोध में त्यागपत्र दे दिया। ७ फरवरी को राष्ट्रपति कासिम ने नई केबिनेट की घोषणा कर दी लेकिन इसके तुरन्त बाद सरकार और साम्यवादियों के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रश्न गम्भीर रूप से उठ खड़ा हुआ, जिसमें राष्ट्रपति कासिम का साम्यवाद-पक्षीय दृष्टिकोण और झुकाव पूर्णतः स्पष्ट हो गया। मार्च, १९५९ में होनेवाले साम्यवाद-समर्थक विशाल प्रदर्शन में भी, जिसका आयोजन मोसल में किया गया था, कासिम सरकार का झुकाव स्पष्ट रूप से साम्यवादियों की ओर था। धीरे धीरे ईराकी सरकार साम्यवाद की ओर झुकती गयी। मार्च, १९५९ में ही ईराक ने बगदाद सन्धि संगठन की सदस्यता से त्यागपत्र देकर पश्चिमी राष्ट्रों, ईरान और तुर्की आदि की इच्छाओं को बहुत आघात पहुँचाया। इतना ही नहीं, ईराकी सरकार ने अमेरिका से सैनिक सहायता लेना भी बन्द कर दिया तथा ब्रिटेन के साथ अपने आर्थिक सम्बन्ध तोड़ लिए।

जनरल कासिम की सैनिक सरकार ने सोवियत संघ के साथ अपने उन राजनैतिक सम्बन्धों को पुनः स्थापित कर लिया, जो १९५५ में तोड़ दिये गये थे। साथ ही उसने अन्य साम्यवादी देशों—साम्यवादी चीन, पूर्वी जर्मनी, युगोस्लाविया, रूमानिया, पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया आदि के साथ भी ईराक के संबंध स्थापित कर लिए। लेकिन राष्ट्रपति कासिम ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया कि ईराक अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में, भविष्य में, तटस्थतावादी नीति का अनुसरण करेगा तथा वह अमेरिका अथवा सोवियत संघ किसी के भी गुट में सम्मिलित नहीं होगा।

परन्तु जनरल कासिम की सैनिक सरकार अधिक स्थायी न रह सकी।

फरवरी, १९६३ मे कर्नल आरिफ के नेतृत्व मे कासिम सरकार के विरुद्ध विद्रोह हुए। ८ फरवरी को राष्ट्रपति कासिम की हत्या कर दी गयी और उनके स्थान पर कर्नल आरिफ ईराक के नये राष्ट्रपति बने। नई सरकार ने ईराक की तटस्थता की नीति को बनाये रखा। राष्ट्रपति आरिफ ने संसार के सभी देशो के साथ मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास किये। मार्च, १९६४ मे उन्होंने पाकिस्तान और भारत की यात्रा की और भारत को एक धर्मनिरपेक्ष देश बताते हुए उसकी आन्तरिक एव बाह्य नीतियो की प्रशसा की। सन् १९६६ मे कर्नल आरिफ की मृत्यु के बाद ईराक की तटस्थता की नीति मे परिवर्तन दिखाई दिया है। १९६७ के अरब-इसरायल सघर्ष मे उसकी सहानुभूति अरब राष्ट्रो की ओर रही है।

ईराक और कुर्द समस्या :

उत्तरी ईराक मे लगभग दस लाख कुर्द जाति के लोग निवास करते है। १९२३ में लोसाने की सन्धि द्वारा कुर्दिस्तान को तुर्की, ईराक और ईरान के मध्य बाँट दिया गया। उसी समय से कुर्द लोग कुर्दिस्तान नामक एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य बनाने के हेतु विद्रोह करते रहे है। कुर्दों की भाषा एव साहित्य अरब भाषा एव साहित्य मे भिन्न है। १९३१ में कुर्दों के नेता मुल्ला मुस्तफा ने विद्रोह किया, जिसके कारण उसे देश मे निष्कासित कर दिया गया। वापस लौटने पर उसने ईराकी सेनाओ पर आक्रमण कर दिया, परन्तु उसमे वह सफल न हो सका और उसे सोवियत सघ मे शरण लेनी पडी। १९५८ मे ईराक में सैनिक क्रांति हुई। इस क्रांति से कुर्दों को यह आशा थी कि अब उनकी माँग पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जायगा, परन्तु ऐसा नही हुआ। राष्ट्रपति कासिम ने जुलाई, १९६१ मे कुर्दों की सभी आकाक्षाओ को ठुकरा दिया। इसपर कुर्दो के नेता मुल्ला मुस्तफा बगदाद छोडकर कवायली क्षेत्र मे चले गये जहाँ उन्होने लगभग सात हजार छापामार सैनिको को प्रशिक्षित किया और कासिम सरकार के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया। अप्रैल, १९६२ मे उत्तरी पहाड़ियो में इन विद्रोहियो ने एक पूरे सैनिक दस्ते का सफाया कर दिया।

फरवरी, १९६३ में ईराक में दूसरी सैनिक क्रांति हुई और कासिम के स्थान पर कर्नल आरिफ राष्ट्रपति बने। इस अवसर पर मुल्ला मुस्तफा ने युद्ध बन्दी की घोषणा करके अपने दो प्रतिनिधियों को बगदाद भेजा जिन्हे यह कार्य सौंपा गया कि वे ईराक की नई सरकार का अभिनन्दन करते हुए उसके साथ समझौता वार्ता करें। कुर्द लोग ईराक में स्वशासन चाहते थे, और साथ ही उनकी यह माँग थी कि सभी कुर्द बन्दी छोड़ दिये जायँ, कुर्दिस्तान की नाकेबन्दी कर दी जाय,

समस्त विद्रोहियों को आम माफी दी जाय तथा उनकी जप्त सम्पत्ति लौटाई जाय, उत्तरी ईराक में कार्य कर रहे लोकसेवकों में से अवांछनीय व्यक्तियों को हटाया जाय और कुर्दिस्तान पर से शासन की सेनाएँ हटा ली जायँ। मार्च, १९६३ में ईराक की राष्ट्रीय परिषद् ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया कि विकेन्द्रीकरण के आधार पर कुर्दों को राष्ट्रीय सरकार प्रदान की जाय। कुर्द नेताओं ने भी यह स्वीकार कर लिया कि सरकार की विकेन्द्रीकरण की योजना एक प्रकार से उनकी स्वशासन की माँग की पूर्ति ही है। आरिफ सरकार ने कुर्दों की नयी माँगें भी स्वीकार कर लीं।

परन्तु कुर्द प्रतिनिधि तलबानी ने इस बात के लिए आग्रह किया कि कुर्दों की अपनी पुलिस हो, उनके क्षेत्र में कुर्दिश भाषा ही राज्यभाषा के रूप में प्रयुक्त हो तथा सुरक्षा, स्वास्थ्य, यातायात और स्थानीय शासन संबंधी मामले पूर्ण रूप से कुर्दों को सौंप दिये जाएँ। इस हठ के फलस्वरूप सन्धि-वार्ता भंग हो गई, और जून, १९६३ में ईराकी सेनाओं ने कुर्द छापामारों पर आक्रमण कर दिया। कुर्दिश नेता तलबानी भागकर वियना चला गया और उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महा-सचिव ऊ थांट से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। ईराकी सेनाएँ कुर्दों को कुचलती हुई आगे बढ़ने लगीं। सोवियत सरकार ने ईराकी सरकार पर आरोप लगाया कि वह नाजीवादी नीति पर चलकर अपने यहाँ अल्पसंख्यकों को कुचल रही है। ईराकी सरकार के कुछ मंत्रियों ने भी सरकार की दमन नीति का खण्डन किया तथा विरोध में त्यागपत्र दे दिये। अतः आन्तरिक एवं बाह्य दबाव के कारण आरिफ सरकार इस बात के लिए सहमत हो गई कि कुर्दों को प्रादेशिक स्वशासन का अधिकार दे दिया जाए तथा उनकी एक परिषद् का निर्माण हो जिसका प्रत्यक्ष मतदान के द्वारा निर्वाचन किया जाय। लेकिन कुर्द नेताओं ने इन प्रस्तावों को ठुकरा दिया तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ से इस मामले में हस्तक्षेप करने की अपील की। संयुक्त राष्ट्रसंघ की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् ने जुलाई, १९६३ में सोवियत संघ के इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया कि ईराकी सरकार अल्पसंख्यक कुर्दों को समाप्त करने पर तुली हुई है। उधर कुर्द नेता मुल्ला मुस्तफा ने सितम्बर, १९६३ में अस्थायी कुर्द सरकार और कुर्द राज्य बनाने की घोषणा कर दी।

कुर्द विद्रोहियों और ईराकी सरकार के बीच संघर्ष चलता रहा। फरवरी, १९६४ में राष्ट्रपति आरिफ ने कुर्द नेता बर्जानी के साथ युद्ध बन्दी समझौता करके कुर्दों की स्वायत्त शासन की माँग को प्रायः स्वीकार कर लिया। परन्तु इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका और ईराकी नेताओं तथा कुर्द छापामारों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहा।

ईराक की आन्तरिक राजनीति में परिवर्तन होते रहे। १३ अप्रैल, १९६६ को एक हेलिकॉप्टर दुर्घटना में राष्ट्रपति अब्दुल सलाम आरिफ की मृत्यु हो गई और उनके स्थान पर १७ अप्रैल को अब्दुल रहमान आरिफ राष्ट्रपति बने। १९६७ तक ईराक में कई प्रधान मंत्री बदले। आन्तरिक राजनैतिक हलचल एवं अस्थिरता के कारण कुर्द समस्या सुलझ न सकी। २९ जून, १९६६ को प्रधान मंत्री अल-बजाज ने कुर्दों के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार विकेन्द्रित प्रशासन की व्यवस्था करना तथा कुर्दों के क्षेत्र में अरबी के साथ कुर्द भाषा को सरकारी भाषा के रूप में लागू करना स्वीकार किया गया। साथ ही राष्ट्रीय असेम्बली में कुर्दों के, उनकी जनसंख्या के अनुपात से, प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया। इस प्रकार कुर्द समस्या को हल करने का प्रयास किया गया। वर्तमान में ऐसी कोई समस्या नहीं दिखाई देती।

अध्याय १०

ईरान

पहले फारस के नाम से जाना जानेवाला ईरान भौगोलिक दृष्टि से उत्तर में कैस्पियन सागर एवं रूस, दक्षिण में फारस एवं ओमान की खाड़ी, पूर्व में रूस, अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान तथा पश्चिम में ईराक और तुर्की से घिरा हुआ है। ईरान का क्षेत्रफल ६,३६,३६७ वर्गमील तथा जनसंख्या (१९६३ की जनगणना के अनुसार) २,५७,८१,०९० है। इस देश की राजधानी तेहरान और यहाँ का प्रमुख धर्म इस्लाम है।

१९वीं शताब्दी में फारस (ईरान) यूरोपीय साम्राज्यवाद की चपेट में आने लगा। उत्तर की ओर से रूस ने उसकी सीमाओं पर दबाव डालना आरम्भ किया तो फारस की खाड़ी की ओर से अंग्रेजों ने उसे दबोचना चाहा। रूस और इंग्लैण्ड दोनों ही उसे अपने अधिकार-क्षेत्र में लेने के लिए प्रयत्न करने लगे। फारस के शाह निकम्मे तथा मूर्ख थे; न उनमें प्रशासनिक योग्यता थी और न ही अपने देश की रक्षा करने की शक्ति। रूस अथवा इंग्लैण्ड द्वारा उसे अपने अधिकार-क्षेत्र में कर लिया जाता, परन्तु इन दोनों शक्तियों में पारस्परिक शत्रुता के कारण ऐसा सम्भव न हो सका।

२०वीं शताब्दी का आरम्भ होते होते फारस के संकट में, वहाँ पर तेल एवं पेट्रोल की खोज के साथ और अधिक वृद्धि हो गयी। सारी यूरोपीय शक्तियाँ फारस की ओर ललचाई दृष्टि से देखने लगीं। फारस के वृद्ध शाह ने एक ब्रिटिश नागरिक डी आर्की (D' Arcy) को १९०१ में, ६० वर्षों के लिए, तेल क्षेत्रों के उपयोग की स्वीकृति प्रदान कर दी। कुछ वर्षों पश्चात् एक ब्रिटिश कम्पनी, एंग्लो-पर्शियन आयल कम्पनी, का गठन किया गया जिसने तेल व्यापार से बहुत अधिक लाभ कमाया और केवल उसका एक छोटा-सा अंश ही फारस की सरकार

को प्राप्त होना था । बाद में राष्ट्रवादियों की सरकार बनने पर १९०१ के समझौते को रद्द कर दिया गया, जिसके अन्तर्गत ऐंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी कार्य कर रही थी । इससे ब्रिटिश सरकार को बहुत धक्का लगा और उसने पर्शिया की सरकार को धमकी दी । ब्रिटिश सरकार यह भूल गयी कि अब पर्शिया जाग रहा है और उसका अधिक समय तक शोषण करना सम्भव नहीं है ।

राष्ट्रवाद का उदय

१९०३ तक ईरान बिल्कुल राजतन्त्र था, जिसमें काजर (Qajar) वंश का शासन था । जनता राजतन्त्र से प्रसन्न नहीं थी । शाह बढ़ती हुई साम्राज्यवादी शक्तियों के हाथों में कठपुतली बना हुआ था । साथ ही आन्तरिक कलह के कारण जनता और भी दुःखी थी । इन बातों ने राष्ट्रवाद को जन्म दिया । एक राष्ट्रवादी दल का निर्माण हुआ, जिसने बाह्य हस्तक्षेप का विरोध किया । साथ ही इस दल ने शाहनशाही के विरुद्ध भी आवाज उठायी । राष्ट्रवादियों ने एक प्रजातंत्रात्मक संविधान एवं आधुनिक सुधारों की माँग की । १९०६ में ईरान में क्रान्ति हो गयी और सुल्तान मुजफ्फरशाह को एक नवीन संविधान बनाने के लिए विवश होना पड़ा । एक राष्ट्रीय असेम्बली (मजलिस) की स्थापना भी की गयी । परन्तु इससे ईरान का संकट समाप्त नहीं हुआ ।

१९०७ से लेकर १९२० तक ईरान में एक ओर आन्तरिक अशान्ति का बोलबाला था और दूसरी ओर विदेशी शक्तियाँ उसे विभाजित कर अपने प्रभाव-क्षेत्र में लेने के लिए कुचक्र चला रही थीं । 'मजलिस' ने आन्तरिक संकट पर विजय पाने के लिए भरसक प्रयत्न किए, परन्तु बाह्य शक्तियों के कुचक्र, विशेषकर इंग्लैण्ड तथा रूस के विरोध के कारण, ईरान में आर्थिक सुधार नहीं किए जा सके । अन्ततः ईरान ने अमेरिका का सहयोग प्राप्त करना चाहा । एक अमरीकी वित्तदाता एवं विशेषज्ञ की नियुक्ति की गयी । इस अमरीकी वित्तदाता, मोर्गन शुस्टर (Morgan Shutter), ने ईरान की आर्थिक व्यवस्था को सुनियोजित करने एवं उसे सुधारने के बहुत प्रयत्न किए, लेकिन रूस और इंग्लैण्ड के विरोध के कारण वह सफल न हो सका । अन्त में वह निराश होकर अमेरिका लौट गया । उसने बाद में एक पुस्तक लिखी, जिसमें उसने बताया कि किस प्रकार रूस और इंग्लैण्ड पर्शिया का शोषण कर रहे हैं । उसकी पुस्तक "दि स्ट्रैंगलिंग ऑफ पर्शिया" (फारस का संघर्ष) ईरान के शोषण की कहानी कहती है ।

रूस और ब्रिटेन दोनों ही ईरान पर अपनी आँखें गड़ाये हुए थे । अन्त में ३१ अगस्त, १९०७ को रूस और ब्रिटेन ने परस्पर एक समझौते पर हस्ताक्षर

कर दिये। इस आंग्ल-रूसी संधि के द्वारा रूस और ब्रिटेन ने ईरान को दो प्रभाव-क्षेत्रों में विभाजित कर लिया। रूस के हिस्से में उत्तरी ईरान पड़ा और ब्रिटेन के हिस्से में दक्षिणी। दोनों प्रभाव-क्षेत्रों के मध्य एक तटस्थ क्षेत्र छोड़ा गया। दोनों शक्तियाँ अपने अपने प्रभाव-क्षेत्रों को पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लेना चाहती थीं। इसी नीति पर चलते हुए, यूरोप में बढ़ते हुए तनावों का लाभ उठाकर, रूस ने उत्तरी ईरान पर १९११ में अधिकार कर लिया।

१९१४ में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। ईरान ने युद्ध में अपनी तटस्थता घोषित की। परन्तु साम्राज्यवादी शक्तियों ने ईरानी तटस्थता की अवहेलना की, और उसे युद्धक्षेत्र बना दिया। इसके विभिन्न प्रदेशों पर ब्रिटिश, रूसी, तुर्की एवं जर्मन सेनाओं का कब्जा बना रहा। वास्तव में ईरान इन सेनाओं के लिए एक युद्धक्षेत्र बन गया।

मार्च, १९१७ में रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई और रूस की नई सरकार ने १९०७ के समझौते को रद्द करके ईरान में सभी रूसी अधिकारों का परित्याग कर दिया। परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड को भी १९१८ में वहाँ से अपनी सेनाएँ हटानी पड़ीं। क्योंकि ईरान की आर्थिक एवं राजनैतिक दशा बिगड़ रही थी और इस कारण वहाँ साम्यवादी प्रभाव का बढ़ना निश्चित दिखाई दे रहा था, अतः ब्रिटेन को ईरान की अखण्डता की रक्षा करना उपयुक्त प्रतीत हुआ। अगस्त, १९१९ में ब्रिटेन ने ईरान के साथ एक संधि की, जिसके अनुसार उसने ईरान को विभिन्न क्षेत्रों में सहायता देना स्वीकार किया। इस सन्धि के फलस्वरूप ब्रिटेन का ईरान पर एक प्रकार का सैनिक प्रभुत्व स्थापित हो गया और व्यवहारतः ईरान की स्थिति एक ब्रिटिश उपनिवेश जैसी हो गयी। परन्तु ईरान की 'मजलिस' (Mejlis) द्वारा इस सन्धि की पुष्टि नहीं हो सकी।

रिजा शाह पहलवी :

महायुद्ध के पश्चात् ईरान के रंगमंच पर, वहाँ की राजनीतिक अस्थिरता के कारण, एक सैनिक अफसर रिजा खाँ का अवतरण हुआ। राष्ट्रवादी आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए उसने फरवरी, १९२१ में तेहरान पर चढ़ाई कर दी और मन्त्रिमण्डल को गिरफ्तार करके वह स्वयं युद्धमंत्री एवं सर्वोच्च सेनापति बन गया। बाद में वह ईरान का प्रधान मंत्री बन गया। शक्ति ग्रहण करने के तुरन्त बाद उसने ब्रिटिश सन्धि को ठुकराकर २५ फरवरी, १९२१ को रूस द्वारा प्रस्तावित विनम्र शर्तों पर हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि के अन्तर्गत रूस ने ईरान की स्वतन्त्रता एवं उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया तथा अपने सभी

विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया। ईरान ने बदले में रूस को यह आश्वासन दिया कि वह अपनी भूमि को रूस के विरुद्ध किसी भी अभियान के लिए प्रयोग में नहीं लाने देगा। इस सन्धि की ईरान की राष्ट्रीय सभा ने पुष्टि कर दी। दिसम्बर, १९२५ में ईरान की नवगठित संविधान सभा ने रिजा खाँ को सम्राट् बना दिया। पुराने शाह को सत्ता से पृथक् कर दिया गया। रिजा खाँ ने रिजा शाह पहलवी का नाम तथा खिताब (title) ग्रहण कर लिया।

रिजा शाह ने शान्तिपूर्वक तथा प्रजातन्त्रात्मक तरीके से सत्ता ग्रहण की। उसने अपने को तानाशाह बनने से दूर रखा तथा जो कुछ भी किया वह प्रजातन्त्रात्मक ढंग से किया। उसने ईरान के नागरिकों में राष्ट्रवाद का मंत्र फूँका। ईरान में राष्ट्रीय पुनर्जागरण पैदा करने का समस्त श्रेय रिजा शाह को दिया जा सकता है।

रिजा शाह ने अपने देश में कानून और व्यवस्था स्थापित करने के भरसक प्रयत्न किए और धीरे धीरे शासन पर इतना अधिक प्रभाव जमा लिया कि संसद् शनै शनै. गौण बनती गयी और १९४२ में उसके पुत्र के गद्दी पर बैठने के समय तक पूर्णत निष्क्रिय रही।

रिजा शाह ने सभी विदेशी शक्तियों को सूचित कर दिया कि ईरान अपनी भूमि पर किसी भी देश के विशेषाधिकार को स्वीकार नहीं करेगा। १९२७ में विदेशी शक्तियों को भेजे गये रुक्कों (Notes) में उसने स्पष्ट कर दिया कि अतिरिक्त प्रदेश सम्बन्धी सभी समझौते एक वर्ष पश्चात् समाप्त समझे जायेंगे तथा उनके स्थान पर नयी सन्धियाँ की जायेंगी। १९२७ में शाह ने ब्रिटेन से माँग की कि बहरीन (Bahrein) ईरान को लौटा दिया जाय। इस माँग को ब्रिटेन ने अस्वीकार कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप ईरान और ब्रिटेन के सम्बन्ध बिगड़ गये। १९३२ में ईरान के शाह ने यह घोषणा कर दी कि ऐंग्लो-ईरानियन तेल कम्पनी को दी गयी समस्त सुविधाएँ समाप्त की जाती हैं। इस कार्यवाही से ब्रिटेन को बहुत अधिक धक्का लगा और ब्रिटिश सरकार ने अपने हितों के रक्षार्थ ईरान की खाड़ी में अपनी सामुद्रिक सेना भेज दी। इससे दोनों देशों के मध्य अत्यधिक तनाव पैदा हो गया, परन्तु पारस्परिक चर्चा के द्वारा दोनों देशों के बीच समझौता हो गया, जिसके अनुसार ईरान सरकार ने कम्पनी को कुछ शर्तों पर सीमित सुविधाएँ देना स्वीकार कर लिया। कम्पनी का सुविधा-क्षेत्र (Concession Area), एक लाख वर्गमील, सीमित कर दिया गया, जिसे कम्पनी को पाँच वर्ष के अन्दर छाँटना था तथा ब्रिटेन को ईरानी युवकों को तेल सम्बन्धी कला-विज्ञान में प्रशिक्षित करना था।

ईरान और रूस के सम्बन्धों में भी अधिक सुधार न हो सका, क्योंकि शाह की नीति राष्ट्रवादी थी और वह सभी विदेशी शक्तियों के प्रति शंकित रहता था। फिर भी रूस से ईरान को तकनीकी सहयोग प्राप्त होता रहा और रूस ने ईरान को ब्रिटेन के साथ संघर्ष में भी सहायता दी। दोनों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध भी सन्तोषप्रद रहे, क्योंकि १९६६ तक रूस ईरान से २८ प्रतिशत निर्यात प्राप्त कर रहा था और ३० प्रतिशत अपना आयात प्रदान कर रहा था।

तुर्की के मुस्तफा कमाल पाशा की भाँति, ईरान के शाह ने अपने देश में सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक, सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। उसके शासन-काल में ही ईरान का चतुर्दिक् विकास इस प्रकार से हुआ कि ईरान का राष्ट्रीय जीवन प्रारम्भ हो गया।

द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर यद्यपि ईरान ने तटस्थ रहने की घोषणा की, फिर भी उसकी सहानुभूति व्यावसायिक कारणों से जर्मनी के प्रति रही। ब्रिटेन और रूस ने माँग की कि ईरान से नाजियों को तथा नाजी समर्थकों को निष्कासित कर दिया जाय। ईरान के शाह ने कहा कि उसके देश में नाजी समर्थक लोग हैं ही नहीं। परन्तु फासिस्टों के प्रति हमदर्दी की आशंका से ब्रिटेन और रूस ने संयुक्त रूप में अगस्त, १९४१ में ईरान पर आक्रमण कर दिया और उसे अपने अधिकार में ले लिया। सितम्बर, १९४१ में उन्होंने रिजा शाह को पदच्युत करके उसके पुत्र मुहम्मद रिजा खाँ शाह पहलवी को गद्दी पर बैठा दिया। मुहम्मद रिजा ने मित्र-राष्ट्रों से वार्ता आरम्भ की जिसके परिणामस्वरूप २९ जनवरी, १९४२ को एक त्रिपक्षीय सहायता सन्धि सम्पन्न हुई। सन्धि के अन्तर्गत ईरान ने मित्र-राष्ट्रों को वचन दिया कि वह उनकी सेनाओं को ईरान में से होकर जाने की अनुमति प्रदान करेगा, उन्हें खाद्य सामग्री एवं अन्य सहायता देगा तथा मित्र-राष्ट्रीय सेनाएँ युद्ध-काल में ईरान में रह सकेंगी, यद्यपि युद्ध-समाप्ति के पश्चात् छह मास के अन्दर अन्दर उन्हें वहाँ से हटा दिया जायगा। ब्रिटेन और रूस ने इसके बदले में वचन दिया कि वे ईरान की प्रादेशिक अखण्डता, प्रभुसत्ता और राजनीतिक स्वाधीनता का सम्मान करेंगे। इस सन्धि के बाद ईरान ने सितम्बर, १९४३ में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् :

मित्र-राष्ट्रों ने इस प्रकार का वचन दिया था कि युद्ध समाप्ति के छह मास के अन्दर वे ईरान से अपनी सेनाएँ हटा लेंगे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। साथ ही ईरान के उत्तरी क्षेत्र अजरबैजान (Azerbaijan) में तूदेह (Tudeh)

राजनीतिक दल ने सोवियत संघ के प्रभाव में आकर १९४५ के अन्त में एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना कर ली। ईरान की सरकार के लिए ऐसी स्थिति असह्य थी। उसने १९ जनवरी, १९४६ को सुरक्षा परिषद् से शिकायत की कि सोवियत संघ द्वारा ईरान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जा रहा है तथा यदि सोवियत संघ को इस प्रकार की कार्यवाही करने से नहीं रोका गया तो इससे अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु बाद में यह विवाद दोनों देशों के मध्य पारस्परिक वार्ता से निपट गया और ९ मई, १९४६ को सोवियत सेनाएँ ईरान की भूमि से हट गई। अक्टूबर, १९४७ में ईरानी संसद् ने विदेशियों को दी जानेवाली तेल सम्बन्धी समस्त रियायतें वापस ले ली। इससे रूस ने नाराज होकर ईरान के साथ अपने राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये।

रूस के व्यवहार से आशंकित होकर ईरान अमेरिका की मैत्री की ओर झुका। उसने अमेरिका से सहायता एवं संरक्षण की माँग की। मार्च, १९४७ में अमेरिका ने साम्यवाद के विस्तार को रोकने की दृष्टि से तथाकथित "ट्रूमन सिद्धान्त" की घोषणा की। ६ अक्टूबर, १९४७ को अमेरिका और ईरान के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि अमेरिका ईरान में एक सैनिक मिशन भेजेगा जो ईरानी सेना को प्रशिक्षित करेगा। इसके तुरन्त बाद अमेरिका ने ईरान को तीन करोड़ डालर की सैनिक सामग्री प्रदान की और ढाई करोड़ डालर का ऋण भी दिया।

इस समय ईरान में राष्ट्रीयता की प्रबल लहरें हिलोरे ले रही थी और ईरान राष्ट्रीयता की एक ऐसी रंगभूमि बनता जा रहा था जिसमें समस्त देश में व्यग्रता एवं उत्साह व्याप्त हो रहा था। इस प्रबल राष्ट्रवाद के कारण ईरान एक ऐसे तेल विवाद में फँस गया जिसने एक बार तो उसकी आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिरता को छिन्न भिन्न कर दिया। यह विवाद ऐंग्लो-ईरानियन तेल विवाद के नाम से जाना जाता है।

ईरान के तेल का अधिकांश भाग ऐंग्लो-ईरानियन तेल कम्पनियों के नियन्त्रण में था। ईरानी राष्ट्रवादियों ने विदेशियों को दिये गये सभी तेल अधिकारों की आलोचना करना आरम्भ कर दिया। ईरान के एक नेता डॉ० मुसद्दिक (Dr. Moussadeq) के नेतृत्व में तेल उद्योग के राष्ट्रीयकरण की माँग की गयी। मार्च, १९५१ में ईरानी प्रधानमंत्री रजमारा की, राष्ट्रीयकरण का विरोधी होने के कारण, हत्या कर दी गयी। अप्रैल के अन्त में ईरानी संसद् के दोनों सदनों ने तेल उद्योग के राष्ट्रीयकरण के विधेयक पास कर दिये। ईरान के शाह को न केवल उन विधेयकों को स्वीकार करना पड़ा, वरन् प्रतिवादी डॉ० मुसद्दिक को प्रधान मन्त्री नियुक्त

करना पड़ा। २३ जून, १९५१ को एक आज्ञापत्र द्वारा ईरान सरकार ने ऐंग्लो-ईरानियन तेल कम्पनी के सभी प्रतिष्ठानों पर अधिकार करने के आदेश प्रसारित किए।

डॉ० मुसद्दिक की इस कार्यवाही से ईरान की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी, क्योंकि एक ओर तो ब्रिटेन ने ईरानी तेल का बहिष्कार कर दिया तथा दूसरी ओर अमेरिका से प्राप्त होनेवाली आर्थिक सहायता बन्द हो गयी। परिणामस्वरूप डां० मुसद्दिक का विरोध होने लगा। इसपर ईरान के शाह ने अगस्त, १९५३ में प्रधान मन्त्री मुसद्दिक से त्यागपत्र देने के लिए कहा और उनके स्थान पर जनरल फ़जुल्ला जेहदी को प्रधान मन्त्री नियुक्त कर दिया। डॉ० मुसद्दिक द्वारा पद-त्याग करने से इन्कार कर देने पर उन्हें बलपूर्वक हटा दिया गया तथा तीन वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया। नये प्रधान मन्त्री और ईरान के शाह ने मिलकर अमेरिका से अपने बिगड़े हुए सम्बन्धों को सुधारने का प्रयास किया। अमेरिका ने ईरान को सम्भावित दिवालियापन से बचाने के लिए चार करोड़ पचास लाख डालर की आपात्कालीन आर्थिक सहायता प्रदान करने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त वाशिंगटन ने ३० जून, १९५४ तक २,३४,००,००० डालर से अधिक की सैनिक एवं प्राविधिक सहायता देने का भी आश्वासन दिया। इसी वर्ष अमेरिका ने चार सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत ईरान को और अधिक तकनीकी सहायता प्रदान करने का आश्वासन दिया। ५ दिसम्बर, १९५४ को ईरान और ब्रिटेन के बीच पुनः राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। कुछ समय पश्चात् अमेरिका के प्रयत्नों से ऐंग्लो-ईरानी तेल कम्पनी सहित अमेरिकन, डच और फ्रेन्च कम्पनियों के एक संघ का निर्माण किया गया, जिसे २५ वर्षों के लिए संचालन का भार सौंपा गया।

इस प्रकार ईरान शनैः शनैः पश्चिमी गुट में सम्मिलित होता गया। उसने सोवियत संघ के साथ भी अपने सम्बन्धों को सुधारने का प्रयास किया। दोनों देशों के बीच सम्बन्ध कुछ सुधरे भी, परन्तु वे मधुर न हो सके। ५ मार्च, १९५९ को जब ईरान ने अमेरिका के साथ एक द्विपक्षीय प्रतिरक्षा समझौते पर हस्ताक्षर किये तो सोवियत संघ और ईरान के सम्बन्धों में पुनः कटुता पैदा हो गयी। रूस को यह आशंका पैदा हो गयी कि संयुक्त राज्य अमेरिका उसके विरुद्ध ईरान को एक सैनिक अड्डे के रूप में प्रयुक्त करना चाहता है। १९५७ में ब्रिटेन के साथ भी, बहरीन के प्रश्न को लेकर, ईरान के सम्बन्ध बिगड़ गये। ईरान ने बहरीन पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा किया, जबकि ब्रिटेन का कहना था कि बहरीन एक स्वतन्त्र 'शेख-तन्त्रीय राज्य' (Shaikhdom) है। नवम्बर, १९५७ में ईरानी सरकार ने बहरीन को ईरान का चौदहवाँ प्रान्त घोषित कर दिया।

धीरे धीरे ईरान ने राजनीतिक स्थिरता प्राप्त कर ली। आज वह न संयुक्त राज्य अमेरिका की कठपुतली है और न ही सोवियत संघ के प्रभाव में है। दोनो ही से उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण कहे जा सकते हैं, हालाँ कि ईरान के शाह पश्चिमी *पूँजीवाद के प्रबल समर्थक हैं। किन्तु उनसे जो समर्थन पूँजीवाद को प्राप्त हो रहा* है, वह केवल उनके देश की सुरक्षा की दृष्टि से ही माना जाना चाहिये।

ईरान में जो राजनीतिक स्थिरता दिखाई दे रही है, वह वहाँ की आर्थिक स्थिति ठीक होने के कारण ही है। तेल ईरान का सबसे बड़ा उद्योग है। हर वर्ष ईरान को इस उद्योग से करोड़ो रुपयो की विदेशी मुद्रा की बचत होती है। १९६६ में ईरान ने ४½ अरब रुपये का तेल निकाला। पिछले दो तीन वर्षो में अमेरिका तथा ब्रिटिश कम्पनियो के साथ जो (ईरान के) समझौते हुए है, उनसे ईरान अपने तेल-उद्योग को बहुत ही विस्तृत क्षेत्र में फैला सकता है। तेल उद्योग से सम्बन्धित समझौते पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ के साथ भी किए गये हैं। तेल के अतिरिक्त ईरान कालीन, कच्चे सूत, सूखे मेवे, खालें, कच्ची ऊन और धातुओं का निर्यात भी करता है।

अध्याय ११

साइप्रस

लगभग ३,५७२ वर्गमील के क्षेत्रफल तथा छह लाख की जनसंख्या का यह छोटा-सा टापू पूर्वी भूमध्य सागर में स्थित है। इसकी अधिकांश जनसंख्या ग्रीक नागरिकों की है। शेष नागरिक तुर्की हैं। यह टापू कृषि उत्पादनों, जैसे—शराब, गेहूँ, जैतून तथा तम्बाकू आदि में बहुत उपजाऊ है। खनिज पदार्थों में यह ताँबे के लिए प्रसिद्ध है।

१९१४ तक यह टापू ऑटोमन राज्य (तुर्की का) का एक अंग था, परन्तु १८८७ में इसे तुर्की के सुल्तान ने ब्रिटेन को पट्टे पर दे दिया। प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटेन और तुर्की एक दूसरे के विरोधी थे तथा दोनों में युद्ध हुआ था। युद्ध के प्रारम्भ में ही ब्रिटेन ने साइप्रस को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया। १९२५ में इसे ब्रिटिश सम्राट् का उपनिवेश बना दिया गया तथा शासन के लिए वहाँ सम्राट् की ओर से एक गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। साइप्रस की बहुसंख्यक यूनानी जनता चाहती थी कि साइप्रस का ग्रीस के साथ विलय कर दिया जाय। ब्रिटेन द्वारा विरोधी रुख अपनाये जाने पर साइप्रस के यूनानियों ने, ग्रीस के साथ विलय की माँग को लेकर, आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया, जिसे "इनोसिस आन्दोलन" (Enosis Movement) के नाम से जाना जाता है।

इनोसिस आन्दोलन :

"इनोसिस आन्दोलन," वास्तव में, १९वीं शताब्दी में स्वतन्त्र ग्रीस की स्थापना के साथ ही आरम्भ हो गया और धीरे धीरे यह उग्र रूप धारण करता गया। साइप्रस के यूनानियों की माँग का समर्थन ग्रीस वासियों तथा ग्रीस की सरकार द्वारा किया जाता रहा। इस प्रश्न में ब्रिटेन, तुर्की तथा ग्रीस, ये तीन देश विशेष रूप से दिलचस्पी रखते थे। ब्रिटेन की रुचि इसलिए थी कि यह ब्रिटिश

साम्राज्य का उपनिवेश था तथा ब्रिटेन के हाथ से इसका निकल जाना सैनिक दृष्टि से उसे बहुत महँगा पडता—विशेषत. ब्रिटेन का स्वेज नहर से निष्कासन होने के बाद। तुर्की की दिलचस्पी साइप्रस में इस कारण थी कि यह पहले तुर्की साम्राज्य का एक अंग था और तुर्की ने इसे ब्रिटेन को लोसाने संधि के फलस्वरूप दिया था। ग्रीस की अभिरुचि इसलिए थी कि इसकी अधिकांश जनसंख्या यूनानियों की थी।

जैसे जैसे "इनोसिस आन्दोलन" जोर पकडता गया, वैसे वैसे साइप्रस में उपद्रव भड़कने लगे। ब्रिटिश सरकार ने आन्दोलन को कुचलने की दृष्टि से सख्त कार्यवाही की। १९३१ में व्यवस्थापिका सभा को भंग कर दिया गया तथा संविधान को समाप्त कर दिया गया[1]। साथ ही एकत्रित होने आदि तथा समाचारपत्रों की स्वतंत्रता पर रोक लगा दी गयी। परन्तु १९३५-३६ में मुसोलिनी तथा उसके फासीवाद के फैलाव के भय के कारण ब्रिटिश-विरोधी भावना कुछ कम पड़ गयी। १९३९ में महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर, यूनान ने ब्रिटेन का पक्ष लिया और तब साइप्रस के यूनानी, ब्रिटेन से नाराज होने पर भी, मित्र-राष्ट्रों से मिल गये। साइप्रस की जनता को आशा थी कि युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटेन उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण करेगा लेकिन उनकी यह आशा निराशा में परिवर्तित हो गयी और उन्हें अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए फिर से आन्दोलन छेड़ना पड़ा।

२८ फरवरी, १९४७ को यूनान की राष्ट्रीय सभा (Greek National Assembly) ने एक प्रस्ताव पास करके यह विश्वास व्यक्त किया कि साइप्रस वासियों की अपनी मातृभूमि के साथ मिलने की राष्ट्रीय इच्छा का आदर किया जाना चाहिए तथा उसकी शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति की जानी चाहिए। किन्तु ब्रिटेन की तत्कालीन श्रमदलीय सरकार ने द्वीप की स्थिति में परिवर्तन करने की किसी भी बात को स्वीकार करने से स्पष्ट शब्दों में इनकार कर दिया। हाँ, वह साइप्रस निवासियों को "अपनी सरकार में अधिक हिस्सा तथा अधिक मात्रा में समृद्धि" देने के लिए सहमत थी। अक्तूबर, १९४६ में ब्रिटिश सरकार ने संविधान तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिका की स्थापना के हेतु एक परामर्शदात्री सभा बुलाने का विश्वास दिला दिया था तथा मार्च, १९४७ में लॉर्ड विन्स्टर (Lord Winster) को गवर्नर के रूप में इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु भेजा गया। परन्तु दक्षिण पन्थी साइप्रस निवासी इससे सन्तुष्ट नहीं थे। साइप्रस को यूनान के साथ मिलाने से कम

---

१. १९२५ में *अंग्रेज शासकों द्वारा साइप्रस को उपनिवेश का दर्जा दे दिया* गया और उसके प्रशासन के लिए गवर्नर, कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका सभा की व्यवस्था कर दी गई।

किसी भी बात से वे सन्तुष्ट नहीं थे। जनवरी, १९५० में साइप्रस के यूनानियों ने, जो साइप्रस की जनसंख्या के लगभग ८० प्रतिशत हैं, एक जनमत-संग्रह आयोजित किया। इसमें ९५ प्रतिशत यूनानियों ने यूनान के साथ एकीकरण के पक्ष में मतदान किया। टापू के तुर्क अल्पसंख्यकों ने इस जनमत-संग्रह की निन्दा की। उन्होंने यह दावा किया कि यदि साइप्रस को किसी अन्य राष्ट्र के साथ मिलाना ही है तो वह राष्ट्र यूनान नहीं बल्कि तुर्की होना चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने जनमतसंग्रह पर कोई विचार नहीं किया।

१९५१ में यूनान की सरकार ने साइप्रस की समस्या को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में प्रस्तुत करने का असफल प्रयत्न किया। अप्रैल, १९५३ में साइप्रस के आर्क बिशप मकारिओस तृतीय (Makarios III) ने ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना की कि या तो उसे १९५० के जनमत-संग्रह को स्वीकार कर लेना चाहिए अथवा एक नये जनमत-संग्रह का आयोजन करना चाहिये। ब्रिटिश सरकार द्वारा इस प्रस्ताव को ठुकरा दिये जाने पर साइप्रस में आतंकवादी कार्यवाहियों का सूत्रपात हो गया, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कठोरता से कुचल दिया।

इस समय की स्थिति यह थी कि यूनान साइप्रस का विलय अपने में करना चाहता था, तुर्की इसका विभाजन चाहता था और ब्रिटेन इसे केवल सीमित स्वाधीनता देने के पक्ष में था। ब्रिटेन ने आर्क बिशप मकारिओस पर आतंकवादियों का साथ देने का आरोप लगाकर उसे कुछ साथियों सहित मार्च, १९५६ में सेसिल्स द्वीप में भेजकर नजरबन्द कर दिया। इससे साइप्रस के यूनानी और अधिक भड़क उठे। अन्ततोगत्वा १९५७ में ब्रिटिश सरकार ने मकारिओस को रिहा कर दिया।

साइप्रस—एक स्वाधीन गणतन्त्र के रूप में :

समस्या के समाधान के लिए वार्ताओं का क्रम चलता रहा। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी इस सम्बन्ध में अपील की गयी, परन्तु १९५८ तक समस्या का कोई हल न खोजा जा सका। २३ फरवरी, १९५९ को ज्यूरिख (Zurich) और लन्दन में कुछ समझौते किये गए। लन्दन में जो समझौता हुआ उससे निम्नलिखित हल निकला :

१. साइप्रस एक स्वाधीन गणतन्त्र होगा, जिसका राष्ट्रपति यूनानी साइप्रसवासी को तथा उप-राष्ट्रपति एक तुर्क साइप्रस निवासी को बनाया जायगा।

२. ब्रिटेन, यूनान तथा तुर्की साइप्रस गणतन्त्र की स्वाधीनता एवं अखण्डता का आदर करेंगे।

३ ब्रिटेन साइप्रस से अपनी सम्प्रभुता त्याग देगा और केवल दो छोटे क्षेत्रों को सैनिक अड्डों के रूप में अपने अधिकार में रखेगा।

४. यूनान, तुर्की और ब्रिटेन प्रतिरक्षा के लिये परस्पर सहयोग करेंगे तथा साइप्रस की अखण्डता की किसी भी आक्रमण से रक्षा करेंगे।

५. यूनान और तुर्की के विदेश मन्त्रियों ने इन घोषणाओं को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार १९ फरवरी, १९६० से पूर्व ही साइप्रस की सत्ता को हस्तान्तरित किये जाने की व्यवस्था की गई। अप्रैल, १९५९ में साइप्रस गणतन्त्र के संविधान के निर्माण के लिए नियुक्त किये गये आयोग की प्रथम बैठक हुई। दिसम्बर, १९५९ में देश में चुनाव सम्पन्न किये गये। आर्क बिशप मकारिओस राष्ट्रपति और डॉ० कुचुक उप-राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। परन्तु ब्रिटेन से इस बात पर कोई समझौता न हो सका कि साइप्रस गणतन्त्र को सत्ता हस्तान्तरित करने के पश्चात् किन अड्डों पर ब्रिटेन का स्वामित्व रहेगा और साइप्रस स्थित ब्रिटिश सेनाओं का क्या अधिकार रहेगा? परिणामस्वरूप 'गणतन्त्र' का उद्घाटन अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गया। इसपर राष्ट्रपति मकारिओस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने की धमकी दी। अन्त में जुलाई, १९६० में सभी प्रमुख प्रश्नों पर समझौता हो गया और उसी महीने ब्रिटिश लोकसभा ने साइप्रस गणराज्य को स्वाधीनता प्रदान करने का विधेयक पास कर दिया। अगस्त, १९६० में ब्रिटेन, साइप्रस, ग्रीस तथा तुर्की ने संस्थापन तथा सुरक्षा सन्धियों (Treaties of Establishment Guarantee) पर हस्ताक्षर किए। इसके साथ ही ग्रीस, तुर्की और साइप्रस के बीच मैत्री सन्धि भी की गयी।

परन्तु स्वाधीनता प्राप्त करने के पश्चात् भी साइप्रस में शांति स्थापित न हो सकी और वहाँ की जनता में कटुता के बीज फलते फूलते रहे। दिसम्बर, १९६३ में साइप्रस में घोर अशांति के बादल छा गये। कारण यह था कि राष्ट्रपति मकारिओस ने संविधान में कुछ संशोधन प्रस्तावित किये। उदाहरणार्थ मकारिओस ने सेनाओं और सार्वजनिक सेवाओं में यूनानियों तथा तुर्कों के पहले के ६० और ४० प्रतिशत के अनुपात को परिवर्तित करके ८० और २० प्रतिशत के अनुपात का प्रस्ताव रखा। राष्ट्रपति मकारिओस के अनुसार राज्य का सामान्य कार्य चलाने के लिए ये परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक थे। किन्तु तुर्कों द्वारा इन परिवर्तनों के प्रस्ताव

का घोर विरोध किया गया। फलस्वरूप दोनों जातियों में वैमनस्य और द्वेष की भावना प्रबल हो गयी और भीषण गृहयुद्ध आरम्भ हो गया। यूनान और तुर्की अपनी अपनी जाति का पक्ष लेने लगे।

१९६६ में जब उपद्रव बहुत उग्र हो गये तो राष्ट्रपति मकारिओस ने सुरक्षा परिषद् से हस्तक्षेप करने और शांति स्थापित करने की प्रार्थना की। ४ मार्च, १९६४ को साइप्रस में शांति स्थापित करने के लिए, सुरक्षा परिषद् ने संयुक्त-राष्ट्रसंघीय सेना भेजने और दोनों पक्षों में समझौता कराने के लिए एक मध्यस्थ नियुक्त करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित किया। साइप्रस में जो अन्तरराष्ट्रीय सेना भेजी गयी उसके प्रथम सेनापति भारत के लेफिटनेंट जनरल ज्ञानी थे और बाद में इसका नेतृत्व भारत के ही एक अन्य सेनापति जनरल थिमैय्या अपनी मृत्यु पर्यन्त दिसम्बर, १९६५ के मध्य तक करते रहे।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ की इस सेना को साइप्रस में कानून और व्यवस्था तथा शांति स्थापित करने में पर्याप्त सहायता मिली, तथापि साइप्रस की यूनानी एवं तुर्की जातियों में वैमनस्य निरन्तर बना रहा। दोनों जातियों में मुठभेड़ें होती रहीं। नवम्बर, १९६७ में जो जबर्दस्त मुठभेड़ हुई उसने कुछ समय तक तो ऐसा आभास दिया कि यदि समस्या के समाधान के लिए शीघ्र ही कोई ठोस कदम न उठाया गया तो पूर्वी भूमध्य सागर में एक और लड़ाई (अरब-इसरायल युद्ध के अतिरिक्त) छिड़ जायेगी। इस संघर्ष में तुर्क साइप्रस-वासियों को अधिक हानि उठानी पड़ी। तुर्की में इस संघर्ष की तीव्र प्रतिक्रियाएँ हुई। अंकारा में यूनानी साइप्रसवासियों को (साथ ही यूनान को भी) चेतावनी देते हुए तुर्की सरकार ने कहा कि 'या तो लड़ाई बन्द करो या फिर हम साइप्रस पर हमला कर देंगे, और आवश्यकता पड़ने पर हम यूनान पर भी हमला कर सकते हैं।'[१] इसके बाद ही यूनान और तुर्की की सरकारों ने अपनी सशस्त्र सेनाओं को हमला करने के लिए तैयार रहने के आदेश दे दिये। परन्तु सौभाग्य से युद्ध नहीं भड़का। साइप्रस की समस्या के समाधान के लिए सुरक्षा परिषद् तथा अमेरिका ने प्रयास किए, परन्तु कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। ऐसा प्रतीत होता है कि साइप्रस में दोनों पक्षों में तनाव और शक्ति-परीक्षण की स्थिति एक स्थायी सत्य बन चुकी है।

---

१. "मिडिल ईस्ट जर्नल", वर्ष २२, अंक १, १९६८।

अध्याय १२

पश्चिमी एशिया के अन्य राज्य

यमन :

यमन के उत्तर मे सऊदी अरेबिया, दक्षिण में अदन का ब्रिटिश सरक्षित प्रदेश तथा पूर्व में रब-अल-ख़ाली रेगिस्तान है। एक छोटी सी समुद्री पट्टी को छोडकर यह सारा प्रदेश पहाडी है। पहले यह प्रदेश तुर्कों के ऑटोमन साम्राज्य का एक भाग था। १९१४ के विश्व-सघर्ष (प्रथम महायुद्ध) में यमन एक शोचनीय स्थिति मे फँस गया। तुर्की सेनाओ ने अग्रेजो के विरुद्ध अदन पर आक्रमण किया तथा उसके युद्ध-पोतो ने यमनी बन्दरगाहो पर बम-वर्षा की। १९१८ में जो समझौता हुआ (युद्ध-समाप्ति पर) उसके फलस्वरूप यमन तुर्क आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गया।

स्वतन्त्र होते ही यमन ने अदन और सरक्षित शेष राज्यो पर अपना दावा ब्रिटेन के समक्ष रखा। १९वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे (१८३९) जब अग्रेज अदन पहुँचे थे, उस समय वर्तमान यमन, अदन तथा दक्षिण अरब के शेष राज्य, सब मिलाकर यमन के नाम से जाने जाते थे। ब्रिटेन ने अदन पर अपना शासन स्थापित किया तथा शेष राज्यो को अदन और तुर्को द्वारा शासित यमन के बीच एक सरक्षित क्षेत्र के रूप में संगठित किया। जब यमन तुर्को के आधिपत्य से मुक्त हो गया, तो उसने अदन और शेष राज्यो पर अपना दावा किया, जिसे ब्रिटेन ने अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप दोनो के बीच (यमन और ब्रिटिश सरकार) दीर्घकाल तक संघर्ष चलता रहा। ११ फरवरी, १९३४ को दोनों के बीच 'सेन की सन्धि' (Treaty of Sana) हुई, जिसके अनुसार यह तय हुआ कि यद्यपि यमन को अपना दावा प्रस्तुत करने का अधिकार होगा तथापि दोनो मे से कोई भी देश सेना के बल पर यथास्थिति मे परिवर्तन नही करेगा। उस सन्धि के अनुसार इमाम को यमन का राजा स्वीकार किया गया। इसके द्वारा यमन की दक्षिणी सीमा को भी

अदन के संरक्षित प्रदेश के अन्तर्गत निर्धारित कर दिया गया। परन्तु फिर भी दोनों के बीच वैमनस्य चलता रहा।

जब १९५० में ब्रिटेन ने शेख राजाओं को मिलाकर दक्षिण अरब संघ का गठन किया तथा अदन को एक ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में विकसित करना आरम्भ किया, तो यमन के तत्कालीन इमाम ने यमन की दक्षिणी सीमाओं के पार गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया। इस संघर्ष ने इमाम अहमद और उसके बेटे मुहम्मद अल बदर को मिस्र तथा सोवियत संघ की शरण में चले जाने के लिए विवश किया। यमन और ब्रिटेन में संघर्ष चलता रहा। १५ जनवरी, १९५७ को यमन ने संयुक्त राष्ट्र-संघ की महासभा की न्यास-परिषद् (Trusteeship Committee of the U. N. General Assembly) से शिकायत की कि ब्रिटेन ने अदन को अपने अधिकार में ले लिया है। यमन के प्रतिनिधि का कहना था कि अदन यमन का अभिन्न अंग है और ब्रिटेन ने धोखे से एक अस्पष्ट एवं संदिग्ध संधि द्वारा, जिसे चालाकी एवं डरा-धमकाकर बहुत वर्ष पूर्व सम्पादित किया गया था, उसे अपने अधिकार में कर लिया है। परन्तु समस्या का निराकरण नहीं किया जा सका। २ मार्च, १९५८ को यमन संयुक्त अरब गणराज्य में सम्मिलित हो गया।

अदन तथा शेख राज्य :

जैसा पिछले पृष्ठ में बताया जा चुका है, अंग्रेज १८३९ में अदन पहुँचे और धीरे धीरे वहाँ पर उन्होंने अपना शासन स्थापित कर लिया। १९५० में ब्रिटेन ने शेख राज्यों को सम्मिलित करके दक्षिण अरब संघ की स्थापना की तथा अदन को एक ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में विकसित करना आरम्भ किया। ब्रिटेन ने अदन पर यमन के दावे को अस्वीकार कर दिया। ब्रिटेन अदन को छोड़ना नहीं चाहता था, क्योंकि स्वेज पर से ब्रिटिश नियन्त्रण हट जाने के बाद फारस की खाड़ी और अरब सागर में ब्रिटिश हितों तथा तेल के व्यवसायों की रक्षा की दृष्टि से अदन का सैनिक अड्डा महत्वपूर्ण माना जाता था। इतना ही नहीं, वरन् हिन्द महासागर में ब्रिटिश नौ-सैनिक बेड़े की दृष्टि से भी अदन ब्रिटेन के लिए अपरिहार्य बन गया था।

परन्तु ब्रिटेन अदन में राष्ट्रवादी भावना को पनपने से न रोक सका। वहाँ अब्दुल्ला असनाग के नेतृत्व में जन-समाजवादी दल और अदन श्रमिक संघ का निर्माण हुआ। ब्रिटेन ने इस राष्ट्रवादी प्रवृत्ति को कुचलने की दृष्टि से अदन और दक्षिण अरब राज्यों को मिलाकर दक्षिण अरब संघ बनाने का निश्चय किया। दोनों को अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटेन पर निर्भर रहना पड़ता था, अतः ब्रिटेन

का विश्वास था कि वे लोग निश्चित रूप से अदन को ब्रिटेन का सैनिक अड्डा बनाये रखने के लिए सहमत हो जायेंगे राष्ट्रवादी ब्रिटेन की इस चाल को समझते थे, अतः उन्होंने इसका विरोध किया। लेकिन ब्रिटेन ने अदन विधान-परिषद् के भीतर एक प्रस्ताव पारित करा लिया कि अदन और दक्षिण अरब राज्यों को मिलाकर एक संघ का निर्माण किया जाय। यद्यपि राष्ट्रवादियों के प्रतिनिधियों ने इस मतदान में भाग नहीं लिया, तथापि यूरोपियन और मनोनीत सदस्यों के बहुमत से वह पारित हो गया और दक्षिण अरब संघ नामक नया राज्य बन गया। इस दिन से अदन का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो गया।

फारस की खाड़ी का अरेबियन तट का वह भाग, जो सऊदी अरब से सम्बन्धित नहीं है, शेख राज्यों का है। तेल उत्पादन के महत्वपूर्ण केन्द्र तथा मुख्य हवाई मार्ग होने के कारण ये संसार भर में प्रसिद्ध हैं। ये शेख राज्य कुवैत, बहरीन, कतर (Qatar) तथा ओमन के छोटे-छोटे शेख-राज्य हैं। इन शेख राज्यों का ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से रहता आया है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन्हें व्यापार की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण माना था तथा समुद्री लुटेरों से रक्षा की दृष्टि से इनका उपयोग किया था।

इन शेख राज्यों को मिलाकर ब्रिटेन ने १९५० में दक्षिण अरब संघ का गठन किया और बाद में अदन को भी इस संघ में मिला दिया गया जिसके सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख किया गया है। इस संघ के राष्ट्रवादी अंग्रेजों की इस नीति के विरोधी थे। वे संघ को (अदन और दक्षिण अरब राज्यों का सम्मिलित संघ) भंग किये जाने तथा केवल शेख राज्यों के संघ को स्वतन्त्रता प्रदान किये जाने के पक्ष में थे।

दक्षिण अरब के राष्ट्रवादियों ने क्वाइतान-अल-शाबी के नेतृत्व में १४ अक्टूबर, १९६३ को राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे का निर्माण किया। इस मोर्चे को प्रारम्भ में मिस्र का पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ। दूसरी ओर अलनाग ने अधिकृत दक्षिण यमन मोर्चे का संगठन किया। राष्ट्रवादी नेता संघ को भंग करने तथा ब्रिटेन द्वारा इस संघ की स्वाधीनता की निश्चित तिथि घोषित करने की निरन्तर माँग करते रहे। उन्होंने माँग की कि ब्रिटिश सेनाएँ इस क्षेत्र से पूर्णतः हटा ली जायें और संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में निर्वाचन करायें जायें। ब्रिटेन के सत्तारूढ़ दल ने इन माँगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, परन्तु १९६४ में वहाँ पर मजदूर दल की सरकार बनी, जिसके कारण स्थिति में परिवर्तन आ गया। मजदूर दल की सरकार ने घोषणा की कि वह स्थानीय लोगों की इच्छा के विरुद्ध कहीं भी ब्रिटिश सैनिक अड्डे नहीं बनाये रखेगी। १९६६ में ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया

कि वह अदन से अपने सैनिकों को हटा लेगी तथा दक्षिण अरब संघ को स्वाधीनता प्रदान कर देगी।

दक्षिण अरब संघ में राष्ट्रीय मोर्चे का इतना प्रभाव बढ़ा तथा उसका इतना आतंक फैल गया कि ब्रिटेन को विवश होकर अदन का संविधान निलम्बित करना पड़ा। साथ ही राष्ट्रवादी मोर्चों में भी पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हो गया। राष्ट्रीय मोर्चे को मिस्र ने समर्थन देना बन्द कर दिया और उसके स्थान पर यमन-वादी मोर्चे को उकसाना आरम्भ कर दिया। इससे राष्ट्रीय मोर्चा सऊदी सम्राट् फजल का सहारा लेने लगा। इस प्रकार दक्षिण अरब संघ बहुमुखी संघर्ष में फँस गया। एक ओर ब्रिटेन और राष्ट्रवादी शक्तियाँ आपस में संघर्ष कर रही थीं, दूसरी ओर दोनों राष्ट्रवादी दल आपस में संघर्ष कर रहे थे तथा तीसरी ओर ब्रिटेन द्वारा प्रशिक्षित एवं संगठित दक्षिण अरब सेना के अरबी सैनिकों ने ब्रिटेन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इसी समय स्वाधीनता मोर्चे ने दक्षिण अरब संघ में सम्मिलित सत्रह शेख राज्यों में से चौदह पर अधिकार कर लिया और इस मामले में संघीय सेना को तटस्थ रहने के लिए तैयार कर लिया। यह चाल सफल रही, और अन्त में ब्रिटेन को यह घोषणा करनी पड़ी कि संघ सरकार भंग हो गयी है और वह राष्ट्रीय शक्तियों के साथ सत्ता के हस्तान्तरण के बारे में चर्चा के लिए तैयार है।

ब्रिटेन की इस घोषणा से शेखों में चिन्ता व्याप्त हो गई, सऊदी अरब, कुवैत, लीबिया, बहरीन, अबू, धाना तथा ईरान आदि के शेखों, बादशाहों और अमीरों को ऐसा प्रतीत होने लगा कि अदन से ब्रिटेन के हटने का अर्थ होगा इस क्षेत्र में समाजवाद और लोकतन्त्र के माध्यम से राजतन्त्र की नींव खोदना। अतः उन्होंने ब्रिटेन से अनुरोध किया कि वह अदन से अपनी सेना और सामग्री बहरीन ले जाए। यद्यपि ये देश इसरायल के साथ संघर्ष के कारण ब्रिटेन और अमेरिका से कितने ही अप्रसन्न क्यों न हों, तथापि ये इन दोनों पश्चिमी शक्तियों के समर्थन और सक्रिय सहयोग के बिना कार्य नहीं कर सकते। ब्रिटेन और अमेरिका भी इस तथ्य से भली भाँति परिचित हैं।

क्योंकि ब्रिटेन के लिये इस क्षेत्र का शासन आर्थिक एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से बहुत महँगा पड़ रहा था, अतः उसने निश्चय किया कि वह ३० सितम्बर, १९६७ को अदन से अपनी सेनाएँ पूर्ण रूप से हटा लेगा तथा इस क्षेत्र को स्वतन्त्रता प्रदान कर देगा। दक्षिण अरब संघ सेना की कमान की सिफारिश पर ब्रिटेन ने राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे को सत्ता हस्तान्तरण के लिए आमंत्रित किया। इस समय यमनवादी मोर्चे ने मिस्र की सहायता से सत्ता का अपहरण करने की चेष्टा की, परन्तु ब्रिटिश एवं संघीय सैनिकों ने उसके प्रयास को विफल कर दिया। बाद में

मिस्र ने यमनवादी मोर्चे की ओर से उदासीनता ग्रहण कर ली, जिसमें उसकी स्थिति निर्बल हो गयी, तथापि यमनवादी मोर्चे के नेता मक्कावी ने घोषणा की कि उसके सैनिक उस समय तक नई सरकार (राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे की सरकार) के विरुद्ध संघर्ष करते रहेंगे जब तक वे उसे नष्ट नही कर देते।

ब्रिटेन द्वारा अदन और दक्षिण अरब संघ को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई, परन्तु इस स्वाधीनता ने इस प्रदेश को गृह-संघर्ष की ओर ढकेल दिया। अदन और दक्षिण अरब की अराजक स्थिति इस क्षेत्र के निवासियों के पारस्परिक संघर्ष का परिणाम हैं। जब से ब्रिटेन ने इस क्षेत्र को स्वाधीनता प्रदान करने की घोषणा की तभी से यह संघर्ष उग्र होता गया। ऊपर से देखने में यह संघर्ष सत्ता का एक नितान्त आन्तरिक संघर्ष है, परन्तु इसकी जडें अत्यन्त गहरी हैं। इस संघर्ष के पीछे विश्व की महान् शक्तियों का सबल हाथ छिपा हुआ है—एक ओर मिस्र, यमन और सोवियत संघ है तथा दूसरी ओर ब्रिटेन, सऊदी अरब और वे परम्परागत शेख और इमाम हैं जो शताब्दियों तक दक्षिण अरब संघ के सत्रह राज्यों पर शासन करते रहे हैं। और विवाद अथवा संघर्ष का मूल कारण हैं वहाँ की तेल सम्पदा, जो समूचे पश्चिमी एशिया की राजनीति को उद्वेलित किये हुए है।

खण्ड 'ख'

मध्य एशिया

(CENTRAL ASIA)

(मध्य एशिया एक विस्तृत प्रदेश है, जिसमे तुर्किस्तान एव तिब्बत के विशाल क्षेत्र सम्मिलित है । इस प्रदेश की जनसख्या बहुत कम है, परन्तु यहाँ पर विचित्र प्रकार के लोग रहते है जिनमे अधिकाश विचरण करनेवाली जातियो के लोग (Nomadic People) है । इस प्रदेश की एक विचित्रता यह है कि इसका अधिकाश भाग रूसी साम्राज्य का अंग बन गया है । इस प्रदेश के लोगो ने किसी स्वाधीनता आन्दोलन मे भाग नही लिया तथा एशिया के अन्य भागो जैसा यहाँ पर कोई पुनर्जागरण नही हुआ ।)

अध्याय १

तुर्किस्तान

तुर्किस्तान की जनसंख्या के अधिकांश लोग, ताजिकों (Tadjiks) को छोड़कर, जो फारसी भाषा बोलते हैं, तुर्की लोगों (Turk Peoples) के विभिन्न वर्गों से सम्बन्ध रखते हैं जिन्होंने इस्लामी संस्कृति की विशिष्ट धाराओं को विकसित किया है। बुखारा और समरकन्द मुस्लिम सभ्यता के प्रसिद्ध नगर माने जाते हैं। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में तुर्की जनसंख्या का अधिकांश भाग रूस के राजनीतिक आधिपत्य में चला गया। रूसी सभ्यता का, बोल्शेविक क्रान्ति से पहले तथा बाद में, इन लोगों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। मध्य एशिया के उस भाग का, जो रूस के आधिपत्य में चला गया, शीघ्रता से पश्चिमीकरण हुआ तथा उसका पश्चिमीकरण एशिया के अन्य भागों में हुए पश्चिमीकरण से बहुत कुछ भिन्न था।

एशिया में रूस का पदार्पण साम्राज्यवादी था, परन्तु रूसी साम्राज्यवाद यूरोपीय साम्राज्यवाद से सर्वथा भिन्न था, क्योंकि रूसी साम्राज्यवाद भूमि से होकर बढ़ा, न कि पश्चिमी देशों के साम्राज्यवाद की भाँति समुद्र से। ऐसी कोई प्राकृतिक सीमाएँ नहीं हैं जो रूस को एशिया से पृथक् करती हों, और इसीलिए रूस को भौगोलिक दृष्टि से एशिया का ही अग माना जाता है। अत जब रूस ने एशिया की भूमि को अपने अधिकार में कर लिया तो उसने, सामुद्रिक पश्चिमी शक्तियों की भाँति, उसपर केवल अपना प्रशासन ही नहीं थोपा और उससे व्यापारिक लाभ ही नहीं उठाया, प्रत्युत उसे अपने में आत्मसात् कर लिया जो कालान्तर में उसी का अंग बन गयी। रूसी जनता उन अधिकृत क्षेत्रों में जाकर बस गयी, वहाँ के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए और इस प्रकार अधिकृत क्षेत्रों के नागरिक रूसी नागरिक बन गये। ऐसी स्थिति में अधिकृत क्षेत्रों की जनता

द्वारा किसी भी स्वाधीनता आन्दोलन का चलाया जाना प्रायः कल्पना से परे की वस्तु है।

मध्य एशिया में रूसी साम्राज्यवाद दो भागों में विभाजित था। इसका एक भाग कजाख के मैदान (Kazakh Steppes) थे, जो प्रायः जनहीन थे। यह भूमि केवल उपनिवेशन (Colonization) के लिए उपयुक्त थी। (यही बात साइबेरिया के साथ थी जिसे रूस ने १९वीं शताब्दी के मध्य में अपने अधिकार में ले लिया था)। इस भाग (कजाख के मैदानोंवाली भूमि) पर रूस ने सीधा प्रशासन किया और उसे रूस का एक अभिन्न अंग बना लिया। दूसरे भाग में मध्य एशिया के खनात लोग (Khanates) रहते थे। इनपर रूस ने, बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व, केवल राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया। खनात प्रदेश के खीवा और बुखारा को संरक्षित प्रदेश बना लिया गया, परन्तु उसकी मौलिकता को सुरक्षित रखा गया और उसपर नियन्त्रण करने के हेतु प्राचीन साधनों का ही प्रयोग किया गया।

कुछ विद्वानों का मत है कि रूस का एशिया के प्रति आचरण अथवा दृष्टिकोण इतना आक्रामक नहीं था जितना समुद्रीय पाश्चात्य शक्तियों का रहा है। वास्तव में यह बात ठीक है कि रूसी जनता में जातीय श्रेष्ठता की भावना अनुपात में बहुत कम थी और है। उन्होंने एशिया के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये तथा कभी भी एशिया के लोगों के ऊपर अपनी जातीय श्रेष्ठता थोपने का प्रयास नहीं किया और यही कारण था कि एशिया के लोगों के मन में उनके प्रति कभी दुर्भावना नहीं पनपी। रूसी सरकार के विरुद्ध १८९८ में केवल एक विद्रोह हुआ, पर वह भी अल्पकालीन ही था। इन सब बातों के बावजूद इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि पश्चिमी शक्तियों की भाँति रूस ने भी एशिया को अपना शिकार बनाया।

१९वीं शताब्दी तथा २०वीं शताब्दी के आरम्भ में रूसी साम्राज्यवाद विकसित होता रहा। रूसी साम्राज्यवादी भावनाओं का परिचय जार चान्सलर, प्रिन्स गोर्चकोव (Prince Gorchakov), द्वारा १८६४ में साम्राज्यवादी शक्तियों को लिखी गई एक टिप्पणी से चलता है, जो इस प्रकार है : "मध्य एशिया में रूस की स्थिति उन सभी सभ्य राष्ट्रों जैसी है जो विचरण करनेवाली असभ्य एवं अपरिपक्व (मध्य एशिया की) जातियों के सम्पर्क में आये। अपनी सीमाओं की रक्षा करने तथा अपनी व्यापारिक स्थिति को सुदृढ़ करने की इच्छा सदैव सभ्य राष्ट्रों में बनी रहती है। इसी इच्छा की पूर्ति के हेतु सभ्य राष्ट्र असभ्य जातियों के

ऊपर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते हैं[1]।" परन्तु रूसी साम्राज्यवाद इस इच्छा की पूर्ति तक सीमित न रह सका। जैसे ही चीन की सरकार अशक्त एवं निर्बल होती दिखाई दी, वैसे ही रूस ने उसके सिन्कियांग एवं मन्चूरिया प्रान्तों पर आक्रमण कर दिया। इसकी एक प्रबल प्रतिक्रिया हुई। जापान ने रूसी साम्राज्यवाद से मन्चूरिया की रक्षा करने का भार अपने ऊपर लिया। परिणामस्वरूप रूस और जापान के बीच १९०५ में युद्ध (Russo-japanese War of 1905) हुआ, जिसमें रूस परास्त हुआ और उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को कठोर आघात पहुँचा।

जब तक रूस में जार सरकार रही, उसका पराजित प्रदेशों के प्रति व्यवहार पर्याप्त नरम रहा। रूसी लोग अंग्रेजों की अपेक्षा कहीं कम सक्रिय एवं अनिश्चय की स्थिति में थे; उन्होंने अपने अधिकृत प्रदेशों में न तो शैक्षणिक संस्थाएँ खोलीं और न ही किसी मध्यवर्गीय सभ्यता को प्रोत्साहित किया। जो भी मौलिक परिवर्तन इन अधिकृत क्षेत्रों में किये गये, वे बोल्शेविक क्रान्ति के बाद ही किये गये। सर्वप्रथम खनातों का (खानों की सत्ता का) उन्मूलन कर दिया गया। तत्पश्चात् रूस की साम्यवादी सरकार ने धर्म को समाप्त कर दिया। इस्लाम तथा ईसाई, दोनों ही धर्मों को साम्यवादी नास्तिक समाज में अपने अस्तित्व को बनाये रखना था।

१९२५ में सोवियत व मध्य एशिया को उजबेकिस्तान (Uzbekistan), ताजिकिस्तान (Tadzhikistan), किरगीजिस्तान (Kirghizistan), तुर्कमेनिया (Turkmenia) तथा कजाखस्तान (Kazakhstan), पाँच गणतन्त्रों में पुनर्गठित कर दिया गया। ये सभी सोवियत संघ के अंग बन गये। यद्यपि इन गणतंत्रों में रहनेवाले लोगों में जातीय, भाषा आदि की दृष्टि से बहुत ही कम अन्तर था और ये सभी एक तुर्किस्तान गणतन्त्र के रूप में संगठित किये जा सकते थे, तथापि सोवियत सरकार ने इनके एक साथ एकत्रित होने से भविष्य में होनेवाले किसी भी सम्भाव्य स्वाधीनता आन्दोलन को रोकने की दृष्टि से ऐसा नहीं किया।

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह गणतन्त्र प्रभुसत्ता-सम्पन्न माने गये थे, तथापि व्यावहारिक रूप में ये सभी मॉस्को से पूर्ण रूप से नियन्त्रित थे। प्रारम्भ में सोवियत सरकार का इनके साथ व्यवहार अत्यन्त उदारतापूर्ण रहा और इनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं किये गये, जैसे रूस में किये गये थे। यद्यपि प्रधानों (Chiefs)

---

१. गे पिण्ट, "स्पॉटलाइट ऑन एशिया," पृष्ठ ६० (पेंगुइन बुक्स, १९५९).

तथा पूँजीपतियों को समाप्त कर दिया गया, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था बहुत कुछ पूर्ववत् ही रही। परन्तु १९२९ में सोवियत सरकार ने इन क्षेत्रों में मौलिक परिवर्तन करने आरम्भ कर दिये। कृषि-भूमि का एकत्रीकरण किया गया, जिससे इन क्षेत्रों में प्रचलित पुरानी जाति-व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गयी तथा भूमिपतियों के अधिकार समाप्त हो गये। इससे भी अधिक जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किया गया, वह था विचरण करनेवाले कबीलों के पशुधन का राष्ट्रीयकरण किया जाना। इधर उधर घूमनेवाली जातियों के लोगों को युद्ध के बन्दियों की भाँति कैद कर लिया गया, एक बड़ी संख्या में पशु मर गये, हजारों आदिम जाति के लोग भागकर चीनी तुर्किस्तान चले गये, और बहुतेरों को रूसी साम्राज्य के विभिन्न भागों में निर्वासित कर दिया गया। समाज में आमूल परिवर्तन लाने के उद्देश्य से सोवियत सरकार ने सभी गणतन्त्रों में नवीनीकरण करने की, उनमें औद्योगीकरण को प्रोत्साहन देने की, बड़े बड़े नगरों को स्थापित एवं विकसित करने की तथा नेताओं एवं वैज्ञानिकों के एक नये वर्ग को प्रशिक्षित करने की विस्तृत योजना बनाई।

साथ ही सोवियत सरकार ने युद्ध-पूर्व के वर्षों में उग्र राष्ट्रीय भावनाओं को शांत एवं नियन्त्रित करने की दृष्टि से स्थानीय भाषाओं, साहित्य, समूह-गीतों, संगीत तथा कला आदि को खूब प्रोत्साहित किया। इस उदार नीति का सर्वत्र प्रचार किया गया। इससे सोवियत सरकार को जनता को अपने पक्ष में करने का अवसर प्राप्त हुआ, परन्तु फिर भी वह तुर्की लोगों की भावनाओं को पूर्ण रूप से अपने पक्ष में करने में असमर्थ रही। द्वितीय महायुद्ध के मध्य तुर्की लोगों की सहानुभूति बहुधा हिटलर के पक्ष में रही, और इससे सोवियत सरकार को निरन्तर भय बना रहा।

पश्चिम के साथ सम्पर्क से मध्य एशिया के लोगों को जो अनुभव प्राप्त हुआ वह अन्य एशियायी लोगों के अनुभव से सर्वथा भिन्न था। भारतीयों की भाँति तुर्की लोगों को भी पराधीन किया गया, परन्तु भारतीयों की भाँति उन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन के रूप में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। इसके विपरीत उनका अपना अस्तित्व ही समाप्त हो गया, और वे रूस के एक अभिन्न अंग बन गये।

एशिया के अन्य लोगों की भाँति, तुर्की लोगों का भी पश्चिमीकरण किया गया, परन्तु उन्होंने (तुर्की लोगों ने) जिन विचारधाराओं एवं दृष्टिकोण को ग्रहण किया वे अन्यों द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोणों एवं विचारों से सर्वथा भिन्न थे। उदाहरणार्थ, यदि भारतीयों ने पश्चिम के मानवीय दृष्टिकोण को ग्रहण किया, तो तुर्की लोगों ने उसके स्थान पर तकनीकी शिक्षा को अंगीकार किया; भारत द्वारा अपनाये

गये संशयात्मक हेतुवाद (Sceptical Rationalism) के स्थान पर मार्क्सवादी सिद्धान्त को ग्रहण किया गया, तथा प्रजातन्त्र के स्थान पर साम्यवादी दल की तानाशाही स्वीकार की गयी। संसदीय शासन-प्रणाली, विधि का शासन, संवैधानिकता तथा विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए तुर्किस्तान में कोई स्थान नहीं है। वहाँ पर (साम्यवादी रूस द्वारा) सिखाया गया है कि मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य औद्योगिक सभ्यता का निर्माण करना है, तथा वैचारिक स्वतन्त्रता, मानवीय दृष्टिकोण एवं भावनाओं आदि का विकास करने से सम्बद्ध विचार पूँजीवादी सभ्यता के प्रतीक हैं। आज सोवियत संघ से पृथक् तुर्किस्तान का न कोई अलग अस्तित्व है, और न कोई स्वतन्त्र राजनीतिक विचारधारा एवं दृष्टिकोण।

अध्याय २

सिन्कियांग तथा तिब्बत

सिन्कियांग :

मध्य एशिया के उन भागों में जो रूस की सीमाओं से बाहर थे, रूसी सरकार ने पश्चिमीकरण करने की ओर ध्यान नहीं दिया। वास्तव में, उनके ऊपर पश्चिमीकरण का प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर हुआ। इन भागों के लोग चीनी साम्राज्य के नागरिक थे,[1] और चीनी साम्राज्य की अवनति के काल में इनमें किसी प्रकार की प्रगति होना सम्भव नहीं था। अनेक वर्षों तक सिन्कियांग का प्रान्त चीनी साम्राज्य के अधिकार से निकलकर युद्ध-स्वामी (War-Lord) के नियन्त्रण में रहा, जो प्रान्त के किसी भी प्रकार के समाजिक एवं आर्थिक उत्थान में रुचि नहीं रखते थे।

सिन्कियांग, जिसे चीनी तुर्किस्तान भी कहा जा सकता है, तिब्बत और साइबेरिया के मध्य में स्थित है। श्रीनगर (काश्मीर) से, लेह (लद्दाख में) होकर, इस प्रान्त के यारकन्द तथा काशगर नगरों को निरन्तर काफले जाते हैं। इस प्रान्त की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग मुस्लिम तुर्कों का है। ये संस्कृति, नामों तथा रहन सहन की दृष्टि से चीनी हैं, परन्तु चीन के केन्द्र-स्थल से ये बहुत दूर हैं और गोबी रेगिस्तान ने इस प्रान्त को प्रायः चीन से पृथक्-सा कर रखा है। चीन से दूर होने के कारण तथा धार्मिक एवं जातीय भिन्नता के कारण इस प्रान्त के लोगों का चीन के साथ भावनात्मक सम्बन्ध बहुत ही निर्बल है तथा समय समय पर इनमें तुर्की राष्ट्रीयता की भावनाएँ जागृत हो जाती हैं।

---

१. सिन्कियांग प्रान्त १७वीं शताब्दी में, चिंग राजवंश के काल में, चीनी नियंत्रण में आया। १८८४ में यह चीनी प्रान्त बन गया।

यही कारण था कि जिस समय सत्ता युद्ध-स्वामी के पास थी, उस समय सबसे बडा खतरा तुर्की कबीलो तथा चीनी मुसलमानो से बना रहता था। वह अपनी सत्ता को रूसी सहयोग द्वारा ही कायम रख सका। जहाँ तक रूसी सरकार की (सिन्कियाग मे) रुचि का प्रश्न था, वह केवल सीमा-सुरक्षा की दृष्टि से ही थी। अत रूस ने सिन्कियाग मे किसी भी प्रकार के मौलिक अथवा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने मे अपनी रुचि प्रदर्शित नही की। १९३३ के आरम्भ मे तुर्कियों द्वारा सिन्कियाग मे विद्रोह कर दिया गया, परन्तु चीनी सरकार के सहयोगियो द्वारा (अनुमानत रूस के साम्यवादी नेताओ द्वारा) उसे शीघ्र ही दबा दिया गया।

जापान-चीन युद्ध के पश्चात्, चियाग काइ-शेक (Chiang Kai-Shek) ने सिन्कियाग प्रान्त पर पुन चीनी केन्द्रीय शासन की स्थापना की। सोवियत सघ ने इसपर कोई आपत्ति नही की। परन्तु इसके बाद भी सिन्कियाग मे किसी प्रकार के राजनीतिक एव सामाजिक परिवर्तन नही किये गये।

अक्तूबर, १९४९ मे सिन्कियाग चीन साम्यवादियो के नियन्त्रण मे चला गया। चीनी साम्यवादियो ने उसका सैनिक दृष्टि से विकास किया है तथा उसकी जनता को माओ के सिद्धान्तो के अनुसार ढाला है। सितम्बर, १९५५ मे सिन्कियाग प्रान्त का 'सिन्कियाग उइघर स्वायत्त प्रदेश' (Sinkiang Uighur Autonomous Region) के रूप मे परिवर्तन कर दिया गया है।

तिब्बत :

तिब्बत का क्षेत्रफल लगभग ४ लाख ७० हजार वर्गमील है, परन्तु इसकी जनसंख्या केवल ३० से ३५ लाख के बीच है। यह हिमालय और कुनलुन पर्वत तथा घाटियो पर इतनी ऊँचाई पर बसा हुआ है कि इसे 'ससार की छत' (Roof of the World) कहा जाता है। साथ ही यह प्रदेश इतना दुर्गम है कि इसे रहस्यमय देश के नाम से भी जाना जाता है। इसके उत्तर मे सिन्कियाग और दक्षिण मे नेपाल, बर्मा, भारत तथा पाकिस्तान है।

शताब्दियो तक तिब्बत एक धार्मिक राज्य रहा तथा लामाओ के आश्रमों के संघ के रूप मे कार्य करता रहा। धार्मिक राज्य के रूप मे इसका प्रशासन ससार के लिए एक पहेली बना रहा। १७२० तक तिब्बत राजनैतिक दृष्टि से स्वाधीन था, परन्तु उसके बाद वह चीन के अधिकार मे चला गया। १८वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे, *छठे दलाई लामा के उत्तराधिकार के प्रश्न पर, मंगोलो और तिब्बतियो* के बीच संघर्ष छिड गया। इस संघर्ष से लाभ उठाते हुए मन्चू सम्राट् कैंग सी (Kang Hsi) ने तिब्बत मे अपनी सेनाएँ भेज दी और ल्हासा मे चीनी शासन

की स्थापना कर दी। सातवें दलाई लामा की नियुक्ति चीनी सरकार द्वारा कर दी गयी। चीन में मोघुल शासन (Moghul Rule) की समाप्ति के साथ साथ चीन का तिब्बत पर संरक्षण समाप्त हो गया। तत्पश्चात् १९०४ में ब्रिटिश सरकार (भारत में) और तिब्बत के बीच एक सभा (Convention) के द्वारा विशेष सम्बन्ध स्थापित हो गये। उस सभा ने ब्रिटिश सरकार को तिब्बत की बाह्य प्रभुसत्ता से सम्बन्धित कुछ अधिकार प्रदान कर दिये, परन्तु उसमें तिब्बत के ऊपर चीनी संरक्षण (Chinese Suzerainty) का कोई उल्लेख नहीं किया गया। दो वर्ष बाद, १९०६ में, चीन और ब्रिटिश सरकार ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार तिब्बत पर चीन का संरक्षण स्वीकार कर लिया गया। परन्तु चीनी सरकार ने इस संरक्षण का दुरुपयोग किया और १९०८ में तिब्बत की व्यावहारिक प्रशासनिक शक्तियाँ स्वयं हस्तगत करके दलाई लामा को नाम मात्र का प्रशासक रहने दिया। १९११ में चीन ने तिब्बत पर आक्रमण करके उसपर अपना सैनिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया। तेरहवें दलाई लामा को भागकर भारत में शरण लेनी पड़ी। परन्तु १९१२ में तिब्बत ने चीनी संरक्षण को समाप्त घोषित कर दिया तथा दलाई लामा ने अपने देश की स्वाधीनता की घोषणा कर दी। इस प्रकार भारत के तिब्बत के साथ सम्बन्ध कई दशकों तक अस्थिर रहे। १९१४ में सर हेनरी मैकमेहोन की अध्यक्षता में शिमला में एक सभा हुई जिसे शिमला कन्वेन्शन के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार चीनी संरक्षण के अन्तर्गत तिब्बत की स्वाधीनता को स्वीकार किया गया। तिब्बत के साथ भारत के सम्बन्ध सिक्किम में ब्रिटिश एजेन्ट तथा राजनीतिक अधिकारी के द्वारा संचालित किये गये।

१९३३ में चीन ने ल्हासा (तिब्बत की राजधानी) से माँग की कि तिब्बत के वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन का अधिकार चीन को दिया जाय तथा साथ ही गृह-प्रशासन में भी चीनियों को पर्याप्त भाग प्राप्त हो। दलाई लामा ने न केवल चीन की इस माँग को अस्वीकार कर दिया, प्रत्युत उसने जबरदस्ती थोपे गये चीनी "संरक्षण" को भी मानने से इनकार कर दिया। १९३९ में चीन ने तिब्बत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का पुनः असफल प्रयास किया।

१९४९ में चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई जिसने तिब्बत को मनमाने ढंग से चीन का एक अविच्छिन्न एवं अविभाज्य अंग घोषित किया। ५ अक्टूबर, १९५० को तिब्बत की स्वायत्तता का उल्लंघन करते हुए चीन ने उसपर आक्रमण कर दिया। जब भारत ने चीन को विरोध-पत्र भेजा तो उसके उत्तर में चीन ने कहा कि चीन का उद्देश्य तिब्बत को "साम्राज्यवादी दासत्व" से मुक्ति

दिलाना है। ७ नवम्बर, १९५० को भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ से सहायता के लिए प्रार्थना की, किन्तु तब तक चीन की पाशविक शक्ति से दबकर तिब्बत अपने ऊपर उसका अधिकार मान चुका था। अत संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भारत के प्रस्ताव पर विचार करना स्थगित कर दिया।

२३ मई, १९५१ को पीकिंग में, चीन और तिब्बत के मध्य एक १७ सूत्रीय समझौता किया गया। इसके अनुसार तिब्बत की आन्तरिक स्वाधीनता को सुरक्षित रखने का वचन दिया गया, परन्तु तिब्बत के विदेशी सम्बन्धों का दायित्व चीन को दिया गया। पर चीन ने इस संधि के प्रति कोई आदर प्रदर्शित न करते हुए तिब्बत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने और वहाँ साम्यवाद का प्रसार करने की नीति को जारी रखा। चीन ने तिब्बत की सेनाओं को चीनी सेनाओं में समाविष्ट कर लिया और तिब्बत के लिए कुछ सैनिक समितियों की स्थापना की। अक्टूबर, १९५१ में चीनी सेनाओं ने तिब्बती भूमि के औद्योगीकरण का बहाना लेकर ल्हासा में प्रवेश किया और देश पर चीनी नियंत्रण का विस्तार करना आरम्भ कर दिया। अप्रैल, १९५४ में नई दिल्ली ने उदारतावश, किन्तु एक भयंकर राजनीतिक भूल के रूप में, तिब्बत पर चीन की सार्वभौमिकता को स्वीकार कर लिया और कुछ व्यापारिक अधिकारों के बदले में वहाँ से अपनी सैनिक टुकड़ियाँ वापस बुलाने की सहमति प्रदान कर दी।

इस प्रकार चीनी साम्यवादियों का तिब्बत के जीवन के प्रत्येक पहलू पर नियंत्रण तीव्र गति से बढ़ने लगा। इसके परिणामस्वरूप १९५६ में पूर्वी तिब्बत के खम्भ प्रान्त में खम्पा लोगों ने विद्रोह कर दिया। खम्पाओं को यह सहन न हो सका कि चीनी साम्यवादी तिब्बत के पवित्र धर्म तथा धार्मिक गुरुओं का अपमान करें और साम्यवाद के प्रसार के लिए उनके देशवासियों पर क्रूर अत्याचार करें। चीन ने खम्पाओं के विद्रोह को कुचलने में कोई कसर न उठा रखी। मार्च, १९५९ में ल्हासा में एक भयंकर विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जिसका क्रूरतापूर्वक दमन कर दिया गया और दलाई लामा को, जिन्हें तिब्बती जनता अपना सर्वस्व एवं ईश्वर का अवतार मानती थी, तिब्बत छोड़कर भारत में शरण लेनी पड़ी। २८ मार्च को तिब्बत की सरकार भंग कर दी गयी और उसके स्थान पर १६ सदस्यों की एक "तिब्बत के स्वराज्य-प्राप्त क्षेत्र के लिए आरम्भिक समिति" स्थापित की गई, जिसके प्रधान पंचेन लामा बनाये गये और जिसमें चार चीनी अधिकारियों को भी सम्मिलित किया गया।

चीनी साम्यवादियों के द्वारा तिब्बत में किये गये दमन की सम्पूर्ण विश्व में निन्दा की गयी तथा दलाई लामा के तिब्बत से पलायन पर बड़ी चिन्ता व्यक्त की

गयी। साम्यवादी चीन ने हज़ारों निर्दोष तिब्बतियों को जेल में डाल दिया और उनकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। तिब्बत के धार्मिक संस्थानों को सैनिक शिविरों में परिवर्तित कर दिया गया। सितम्बर, १९५९ में दलाई लामा ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव को एक तार भेजकर हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। ५ जून, १९६० को "अन्तरराष्ट्रीय स्मृतिज्ञ आयोग" (The International Commission of jurist) ने अपनी एक रिपोर्ट में यह स्पष्ट आरोप लगाया कि पीकिंग सरकार तिब्बती जनता के राष्ट्रीय, जातीय एवं धार्मिक दल को पूर्णतः नष्ट करने का प्रयास कर रही है। इसी बीच चीन सरकार ने तिब्बत को चीन जन-राज्य का एक प्रान्त बना दिया और वहाँ भारतीय यात्रियों एवं व्यापार पर भारी रोक लगा दी। भारत द्वारा भेजे गये विरोध-पत्रों को चीन की साम्यवादी सरकार ने रद्दी की टोकरी में फेंक दिया।

१० दिसम्बर, १९६५ को, संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा तिब्बती जनता के मौलिक अधिकारों और उसकी स्वतन्त्रता के हनन पर गहरा दुःख प्रकट करते हुए चीन से अनुरोध किया कि वह तिब्बत में अपनी दमनकारी कार्यवाहियों को तुरन्त बन्द कर दे, परन्तु चीन ने इस प्रस्ताव को साम्राज्यवादियों के षड्यन्त्र की संज्ञा देते हुए ठुकरा दिया और तिब्बत साम्यवादी चीन के साम्राज्यवादी शिकंजे में कसता चला गया। चीन ने पंचेन लामा को भी सब पदों से वंचित कर दिया और उसे एक तिब्बती लड़की के साथ विवाह करने को बाध्य कर दिया।

चीन तिब्बत में अन्यायपूर्ण ढंग से चाहे कितना ही पैर जमा ले और उसका शोषण कर ले, परन्तु उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि तिब्बत सदैव एक स्व-शासित देश रहा है और वह एक न एक दिन चीन से अपनी स्वाधीनता छीन कर ही रहेगा। यद्यपि चीन तिब्बत की संस्कृति, परम्परा एवं इतिहास को मिटाने पर तुला हुआ है, तथापि तिब्बती जनता चुप नहीं बैठी है और वह अपने प्राणों की होम करके भी चीन के इस स्वप्न को पूर्ण नहीं होने देगी।

लामा पंथ तथा चीनी साम्यवाद :

तिब्बत में बौद्ध धर्म ने लामा धर्म का स्वरूप ग्रहण कर लिया। उसमें जीवात्मा अथवा चेतनता सम्बन्धी बॉन के सिद्धान्त तथा हिन्दू धर्म में प्रचलित तन्त्र विद्या सम्बन्धी मान्यताएँ समाविष्ट हो गईं। बौद्ध धर्म की भाँति, लामा धर्म के कालान्तर में अनेक रूप हो गये, जैसे कदम्पा (Kadampa), गैलुग्पा (यह लामा धर्म का प्रमुख पंथ है तथा दलाई लामा और पंचेन लामा इसी पंथ से सम्बन्धित

है), सग्या, कर्गयुपा आदि आदि। लामा धर्म का साहित्य बहुत ही विस्तृत है। इस धर्म का साहित्य कन्ग्युर (Kangyur) के १०८ ग्रन्थो (जो तिब्बती बौद्ध धर्म के धर्मग्रन्थ माने जाते हैं) तथा तन्ग्युर (Tangyur) के २२५ ग्रन्थों (जो धर्मग्रन्थों की टीकाएँ है) मे मिलता है।

चीनी साम्यवादियो के आगमन से पूर्व, तिब्बत मे धार्मिक प्रशासन का प्रमुख दलाई लामा था, जो प्रमुख लौकिक शक्ति का भी प्रधान माना जाता था। पचेन लामा को केवल आध्यात्मिक मामलो मे सत्ता प्राप्त थी। स्थानीय तिब्बत सरकार की राजधानी, जिसके अध्यक्ष दलाई लामा थे, ल्हासा थी। दलाई लामा की सत्ता "यू" ('U', तिब्बत का सबसे बडा एक क्षेत्र) तक फैली हुई थी। इस क्षेत्र मे लगभग ११० भाग (Counties) थे। पचेन लामा की सत्ता सँग (Tsang) तक सीमित थी, जो कि दलाई लामा के अधिकार-क्षेत्र से बहुत छोटा क्षेत्र है। इस क्षेत्र मे भी कुछ भागों पर दलाई लामा के अनुयायियो तथा सग्या (Sagya) पंथ के माननेवालो का अधिकार था।

लामाओं का जीवन बहुत ही वैभवपूर्ण था। हीनरिख हेरर (Heinrich Harrer) के अनुसार, जिन्होने तिब्बत में सात वर्ष व्यतीत किये,[१] ल्हासा मे एक मठ को सरकार की ओर से प्रत्येक मास एक लाख डालर के अतिरिक्त तीन टन चाय तथा ५० टन मक्खन प्राप्त होता था। साथ ही सम्बा (Samba, भुने हुए गेहूँ अथवा जौ का आटा) भी प्रत्येक मठ को बहुतायत से प्राप्त होता था।

आरम्भ मे चीनी साम्यवादियो ने तिब्बत मे शांति एवं सहिष्णुता की नीति का प्रदर्शन किया, परन्तु शीघ्र ही उनकी कपट-नीति प्रकट हो गई। अक्टूबर, १९४८ में चीनी साम्यवादी दल के केन्द्रीय कार्यालय ने लगान तथा ब्याज की दरो में कमी से संबद्ध कुछ विनियमो (Principles Governing Rental and Interest Reductions) की घोषणा की, जिनके अन्तर्गत यह विश्वास दिलाया गया कि धार्मिक स्थानों की भूमि को सरकारी नियन्त्रण मे स्वतन्त्र रखा जायगा। धार्मिक स्थानो की भूमि की व्यवस्था विशेष समिति द्वारा की जायेगी। यदि किसी धार्मिक स्थान की भूमि की व्यवस्था के लिये कोई समिति न हो, तो उसका निपटारा भागे हुए भूस्वामियो के भूमि-सम्बन्धी नियमो द्वारा किया जायगा। भागे हुए भूस्वामियो की भूमि को उनके सम्बन्धियो के संरक्षण मे रखा जायगा, किन्तु उनके अभाव मे भूमि सरकारी नियन्त्रण मे चली जायगी।

---

१. हीनरिख हेरर, "सेवन ईयर्स इन तिब्बत", ई० पी० डटन ऐण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १९५४.

किन्तु इन दिये गये वचनों एवं प्रस्थापित नियमों का केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही महत्व था, व्यवहार में चीनी सरकार की नीति इनके सर्वथा विपरीत थी। १९४९ के कृषि-सुधार कानून के अनुसार धार्मिक संस्थाओं, मन्दिरों, मठों एवं गिरजों की मालकियत के अधिकारों को समाप्त कर दिया गया। बौद्ध धर्म के प्रति चीनी सरकार की नीति कुछ समय तक उदार एवं शांतिपूर्ण रही, क्योंकि साम्यवादी सरकार अभी कुछ समय तक चीन तथा तिब्बत के बौद्धों को अपने पक्ष में रखना चाहती थी। परन्तु जैसे ही साम्यवादी सरकार की स्थिति चीन में सुदृढ़ हुई, उसकी बौद्धों के प्रति नीति में परिवर्तन आ गया। जून, १९५३ के बाद चीनी साम्यवादियों ने बौद्धों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया और बौद्ध धर्म को सामन्तवाद तथा शोषण करनेवाले वर्ग का पिट्ठू बताकर उसका अपमान किया गया। चीनी बौद्ध संस्था (Chinese Buddhist Association) द्वारा, जिसका निर्माण जून, १९५३ में चीनी साम्यवादियों द्वारा बौद्ध धर्म को अपमानित करने तथा उसपर आक्रमण करने की दृष्टि से किया गया था, साम्यवादियों ने पादरी की स्थिति में सुधार करना आरम्भ किया, जिसकी सम्पत्ति को पहले ही जब्त किया जा चुका था। इस सुधार के तीन उद्देश्य थे। प्रथम, सभी बौद्ध भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों को साम्यवादी दल का नेतृत्व मानने के लिये बाध्य करना, द्वितीय, सभी बौद्ध धर्म तथा लामा पंथ के अनुयायियों को साम्यवाद की शिक्षा देना तथा उनका हृदय-परिवर्तन करना, तृतीय, सभी पादरियों को (साम्यवादियों के) मित्रों एवं शत्रुओं में अन्तर पहचानने के लिये बाध्य करना आदि। साथ ही लामा धर्म का तिब्बत से पूर्ण प्रभाव नष्ट करने के लिये चीनी साम्यवादियों ने तिब्बत की जनता को साम्यवादी रंग में रँगने के लिये सभी सम्भव उपाय किए।

तिब्बत के दलाई लामा के पलायन तथा पंचेन लामा द्वारा राजनीतिक सत्ता ग्रहण किये जाने के पश्चात् चीन की साम्यवादी सरकार ने चीन के ढंग पर तिब्बत में भूमि-सुधार लागू किए। आज तिब्बत में चीनी साम्यवादी अनेक सुधार-कार्यक्रमों में लगे हुए हैं, परन्तु उनके सुधारों का उद्देश्य तिब्बत की राजनीतिक प्रतिष्ठा की वृद्धि करना अथवा वहाँ के लोगों के जीवन-स्तर को आगे बढ़ाना नहीं, अपितु तिब्बत की सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं को नष्ट करना तथा वहाँ की जनता के ऊपर मार्क्सवादी विचारधारा एवं शासन को बलात् थोपना है।

तिब्बत में जो दुःखान्त घटना घटित हुई है, उससे एशिया में साम्यवाद का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। साम्यवाद का रूप भले ही देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहा हो, पर उसका मौलिक चरित्र सर्वदा एवं सर्वत्र एक-सा ही दिखाई देता है। तिब्बत की घटना के तुरन्त बाद, संयुक्त

अरब गणराज्य के सूचना विभाग द्वारा काहिरा से प्रकाशित एक पुस्तिका में यह स्पष्ट रूप से बताया गया कि पीकिंग की तिब्बत में कार्यवाही उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को स्पष्ट करती है तथा ईराक और तिब्बत में घटित घटनाएँ यह प्रदर्शित करती हैं कि अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद तटस्थता एवं अलगाव की नीति का घोर शत्रु है तथा उसे असफल बनाने की उसकी कार्यवाही उसकी (अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद की) एक बड़ी योजना का ही अंग है।

वास्तव में, साम्यवादी चीन ने तिब्बत में जो कुछ किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वह पुराने "हून साम्राज्यवाद" के चरण-चिह्नों का अनुसरण कर रहा है। श्री जयप्रकाश नारायण ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "यदि साम्यवादी चीन का उद्देश्य साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध संघर्ष करना ही होता (जैसा साम्यवादी चीन का दावा है), तो वह तिब्बत पर अपना अधिकार स्थापित करने की अपेक्षा, उसके साथ समानता एवं मित्रता के आधार पर सन्धि करता।"[1] परन्तु चीन ने ऐसा नहीं किया और उसपर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार-क्षेत्र में ले लिया और अब साम्यवादी चीन तिब्बत की संस्कृति एवं परम्पराओं को पूर्णतः नष्ट करने में लगा हुआ है।

१. फ्रैंक मोरेस, "रिवोल्ट इन तिब्बत", पृष्ठ २०१, मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, १९६०, अंग्रेजी से अनूदित। (कोष्ठक में प्रयुक्त विचार मेरे हैं।—लै०।)

खण्ड 'ग'

दक्षिण एशिया

(SOUTH ASIA)

(यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से एशिया को निश्चित भागों में विभाजित करना कठिन है, तथापि विषय के सुनियोजित प्रतिपादन के लिए *ऐसा करना आवश्यक है।* दक्षिण एशिया मे अफगानिस्तान, पाकिस्तान, भारत, नेपाल, सिक्किम, भूटान, लंका आदि देशों को, इनकी भौगोलिक स्थिति, इनकी एक दूसरे से मिलनेवाली सीमाओं तथा इनके पारस्परिक सांस्कृतिक एवं राजनैतिक सम्बन्धों को देखते हुए, रखा गया है। अफगानिस्तान के सम्बन्ध में कुछ मत-भिन्नता है। इसे पश्चिमी एशिया के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है तथा स्पष्ट रूप से मध्य एशिया के अन्तर्गत भी। परन्तु इसके भारत के साथ सम्बन्धों को देखते हुए इसके विषय मे चर्चा 'दक्षिण एशिया' के अन्तर्गत की गयी है।)

अध्याय १

अफगानिस्तान

भौगोलिक दृष्टि से ईराक के पूर्व मे ईरान अथवा पर्शिया स्थित है, और ईरान के पूर्व मे अफगानिस्तान है। पाकिस्तान बनने से पूर्व ईरान और अफगानिस्तान दोनो ही भारत के पड़ोसी देश थे, ईरान की सीमाएँ बलूचिस्तान में भारत से मिलती थी तथा भारत और अफगानिस्तान की सीमाएँ लगभग १००० मील तक आपस मे मिलती थी। ये तीनो ही देश न केवल एक दूसरे के पड़ोसी थे, वरन् जातीय दृष्टि से भी ये समान प्रकृतिवाले देश है, क्योकि इनमे प्राचीन आर्य समुदाय के लोगो का ही बाहुल्य पाया जाता है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी प्राचीन समय मे इन देशो में बहुत कुछ समानता समझी जाती थी, और मुसलमानो मे यह अभी तक लोकप्रिय है। अफगानिस्तान मे फारसी आज भी न्यायालय की भाषा है, हालाँ कि अफगानियो की मूल भाषा 'पश्तो' है।

अफगानिस्तान स्वतन्त्र देश के रूप में :

अफगानिस्तान का इतिहास वास्तव मे भारतीय इतिहास का ही अंग है। एक लम्बे समय तक अफगानिस्तान भारत का ही भाग रहा। इसकी स्थिति भारत से पृथक् होने के समय से लेकर भारत की स्वतन्त्रता के समय तक, विशेषतः पिछले १०० या १२५ वर्षों में, रूस और ब्रिटिश साम्राज्यो के मध्य एक छोटे राज्य (as a buffer state) की रही। रूसी साम्राज्य की समाप्ति पर रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना हुई, लेकिन अफगानिस्तान की 'बफर राज्य' की स्थिति में कोई परिवर्तन नही आया, और अंग्रेजो एवं रूसियो के बीच, इसपर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की दृष्टि से, षड्यन्त्र चलते रहे। १९वी शताब्दी मे इन षड्यन्त्रो के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड और अफगानिस्तान के बीच कई युद्ध हुए जिनमे यद्यपि अंग्रेजो को पर्याप्त हानि उठानी पडी तथापि विजय इंग्लैण्ड की ही हुई। अफगा-

निस्तान के शाही परिवार के बहुत से लोग, जो कैदी बना लिये गये थे, उत्तर भारत में आकर बस गये। अफगानिस्तान में अमीरों का शासन हो गया। ये लोग अंग्रेजों के मित्र थे, और इस प्रकार अफगानिस्तान की विदेश नीति पर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण हो गया। ब्रिटिश सरकार के सहयोग से अमीरों का शासन चलता रहा। १९०१ में अमीर हबीबुल्ला के हाथ में सत्ता आयी।

अफगानिस्तान की भारत में ब्रिटिश सरकार पर निर्भरता का प्रमुख कारण उसकी भौगोलिक स्थिति थी। अफगानिस्तान (बलूचिस्तान के कारण) समुद्र-तट से पर्याप्त दूरी पर है। यह बात मानचित्र पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाती है। यह स्थिति अफगानिस्तान के लिए अत्यन्त सोचनीय थी। वाह्य संसार से सम्पर्क स्थापित करने के लिए उसे भारत पर निर्भर रहना पड़ता था। उस समय अफगानिस्तान के उत्तर में रूसी सीमा में भी आवागमन के साधन नहीं थे। इनका विकास प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सोवियत (साम्यवादी) सरकार द्वारा किया गया है।

१९१९ के आरम्भ में अफगान कोर्ट में चल रहे षड्यन्त्र एवं आपसी विरोध प्रकट हो गये तथा दो राजघराने की क्रान्तियाँ एक दूसरे के बाद हुई। अमीर हबीबुल्ला की हत्या कर दी गई, और उनके स्थान पर उनके भाई नसरुल्ला अमीर बने। लेकिन जल्दी ही नसरुल्ला को सत्ता से हटा दिया गया और अमानुल्ला को अमीर के पद पर स्थापित किया गया। अमानुल्ला को ब्रिटिश सरकार पर अफगानिस्तान की निर्भरता अच्छी नहीं लगी तथा उसने अपने देश को स्वतन्त्र करने की योजना पर विचार करना आरम्भ किया। एशिया में जापान के अभ्युदय ने उसे अपने देश की स्वाधीनता एवं प्रगति के लिए प्रोत्साहित किया। उसे अपनी योजना को क्रियान्वित करने के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल दिखाई पड़ीं। उस समय भारत में सर्वत्र असंतोष व्याप्त था। पंजाब में मार्शल लॉ (Martial Law) लगा हुआ था तथा खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों में भी असंतोष भड़क रहा था। कुछ भी कारण रहे हों, पर परिणाम में अंग्रेजों के साथ अफगानिस्तान का युद्ध छिड़ा, हालाँकि वह युद्ध बहुत कम समय तक चला। यद्यपि अंग्रेजों की सैन्य शक्ति का अफगानिस्तान मुकाबला नहीं कर सकता था, तथापि अंग्रेजी सरकार युद्ध करना नहीं चाहती थी। फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने अफगानिस्तान के साथ समझौता कर लिया, और अफगानिस्तान को स्वतन्त्र देश के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार अमानुल्ला का उद्देश्य पूरा हो गया; उसकी एशिया तथा यूरोप में प्रतिष्ठा बढ़ गई।

अमीर अमानुल्ला :

अमानुल्ला ने अफगानिस्तान की प्रगति के लिए जिस नयी नीति का अनुसरण किया उससे वह देश और भी अधिक आकर्षण का केन्द्र बन गया। वह नीति देश का पश्चिमीकरण करने की दिशा में थी। इस कार्य में उसे अपनी पत्नी महारानी सुरय्या से बहुत अधिक सहयोग प्राप्त हुआ। महारानी सुरय्या की शिक्षा यूरोप में हुई थी और पश्चिम के प्रभाव के कारण वह स्त्रियों को पर्दे में रखने की प्रथा के बहुत विरुद्ध थी। अमीर अमानुल्ला और उसकी पत्नी ने मिलकर अफगानिस्तान को रूढ़िवादी परम्पराओं एवं रीति के चक्र से बाहर निकालकर एक नया रूप देने का कार्य आरम्भ किया। इस कार्य में तुर्की के मुस्तफा कमाल पाशा अमानुल्ला के आदर्श बने। अमानुल्ला ने कमाल पाशा का अनुसरण करते हुए अफगानियों का पश्चिमीकरण करना आरम्भ किया। अफगानियों को कोट, पैन्ट तथा यूरोपीय टोप पहनने और बिना दाढ़ी के रहने के लिये बाध्य किया गया। लेकिन अमानुल्ला में कमाल पाशा जैसी योग्यता एवं दूरदर्शिता नहीं थी। कमाल पाशा ने तुर्की में क्रान्तिकारी सुधार करने से पूर्व आन्तरिक एवं बाह्य दृष्टि से अपनी स्थिति को पूर्ण सन्तोषप्रद एवं सुरक्षित बना लिया था। साथ ही उसे अपनी जनता एवं सेना का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। परन्तु अमानुल्ला ने इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया। अफगानी लोग तुर्कियों की अपेक्षा अधिक रूढ़िवादी एवं प्रतिक्रियावादी थे। अतः अमानुल्ला को अपने देश में अपनी पश्चिमीकरण की नीति के विरोध का सामना करना पड़ा। फिर भी वे अपनी नीति पर चलते रहे।

अपनी पश्चिमीकरण की नीति पर चलते हुए अमानुल्ला ने अनेक अफगानी लड़के लड़कियों को शिक्षा ग्रहण करने के हेतु यूरोप भेजा। प्रशासन में भी अनेक सुधार करने की योजना बनाई गई। अमानुल्ला ने अपने पड़ोसी राष्ट्रों तथा तुर्की के साथ सन्धियाँ करके अफगानिस्तान की अन्तरराष्ट्रीय स्थिति को भी सुदृढ़ करने का प्रयास किया। प्रथम महायुद्ध के बाद के वर्षों में सोवियत संघ की पूर्वी देशों के साथ नीति पर्याप्त रूप से उदार एवं मित्रता की रही। इसी नीति के परिणाम-स्वरूप अफगानिस्तान को स्वाधीनता प्राप्त हुई तथा सोवियत संघ, ईरान, तुर्की और अफगानिस्तान के बीच सन्धियाँ हुईं। पर इनमें से कोई भी सन्धि संयुक्त रूप से नहीं की गई। सभी सन्धियाँ दो दो राष्ट्रों के मध्य की गई थीं। ये सन्धियाँ इस प्रकार से थीं :

तुर्की—अफगान सन्धि	फरवरी १९, १९२१
तुर्की—सोवियत सन्धि	दिसम्बर १७, १९२५

तुर्की—ईरान सन्धि	अप्रैल २२, १९२६
सोवियत—अफगान सन्धि	अगस्त ३१, १९२६
सोवियत—ईरान सन्धि	अक्टूबर १, १९२७
ईरान—अफगान सन्धि	नवम्बर २८, १९२७

इन सन्धियों से मध्य एशिया में ब्रिटिश प्रभाव को बहुत अधिक क्षति पहुँची, पर इनसे सोवियत संघ के प्रभाव में अभिवृद्धि हुई। ब्रिटिश सरकार ने इन सन्धियों को स्वीकार कर दिया तथा अफगानिस्तान के साथ उसके सम्बन्ध बिगड़ गये।

१९२८ के आरम्भ में अमीर अमानुल्ला और उनकी पत्नी महारानी सुरय्या ने यूरोपीय देशों की यात्रा की। वे यूरोप के बड़े राष्ट्रों की राजधानियों—रोम, पेरिस, लन्दन, बर्लिन, मास्को आदि—में गये। सर्वत्र उनका भव्य स्वागत किया गया। ये सभी राष्ट्र व्यापारिक एवं राजनीतिक कारणों से अमानुल्ला की मित्रता प्राप्त करने के उत्सुक थे। उसे अनेक मूल्यवान् उपहार भेंट किये गये, परन्तु उसने कूटनीति से काम लिया और किसी भी प्रकार का किसी को कोई वचन नहीं दिया। वापसी में वे तुर्की और ईरान भी गये।

अमानुल्ला की पश्चिम यात्रा ने उनकी तथा उनके देश की प्रतिष्ठा को चार चाँद लगा दिये। परन्तु अफगानिस्तान की आन्तरिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। अमानुल्ला के क्रान्तिकारी सुधारों से अफगानिस्तान की प्रतिक्रियावादी जनता असन्तुष्ट थी। अमानुल्ला ने, अपने क्रान्तिकारी सुधारों के मध्य, जबकि उसके विरुद्ध धीरे धीरे विद्रोह प्रबल होता जा रहा था, अपने देश को (अपनी यूरोपीय यात्रा के लिए) छोड़कर बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं किया। उसकी लम्बी अनुपस्थिति में अफगानिस्तान की सारी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ तथा जनता उसके विरुद्ध संगठित हो गई और उसके द्वारा किये जा रहे सुधारों का खुलकर विरोध करने लगी। अनेक मौलवियों एवं मुल्लाओं को, जो इस विद्रोह का संचालन कर रहे थे, इस कार्य के लिए गुप्त रूप से धन प्राप्त होने लगा। यह बताना कठिन है कि प्रतिक्रियावादी मुल्लाओं को आर्थिक सहायता कहाँ से प्राप्त होती थी। कुछ लोगों का विश्वास है कि ब्रिटिश गुप्त सेवा (British Secret Service) द्वारा इस कार्य के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की जा रही थी। सत्य चाहे कुछ भी हो, पर यह बात निश्चित है कि अफगानिस्तान की प्रतिक्रियावादी शक्तियों को अमानुल्ला के विरुद्ध प्रचार करने के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो रहा था। अमानुल्ला को काफिर कहकर पुकारा गया तथा उसकी बेगम सुरय्या को, यूरोपीय वस्त्र पहने हुए, अश्लील ढंग से चित्रित किया गया।

अपनी यूरोपीय देशों की यात्रा समाप्त कर अमानुल्ला, नई शक्ति के साथ, अपने देश को वापस लौटा। वह अंगोरा में मुस्तफा कमाल पाशा से मिल चुका था। अपने देश में क्रान्तिकारी सुधारों को लागू करने के लिए उसमें नवीन उत्साह हिलोरें मार रहा था। अपने देश में लौटते ही अमानुल्ला ने अपने सुधारों पर पूरी तरह अमल करना आरम्भ कर दिया। सामन्तों के पदों एवं पदवियों को समाप्त कर दिया गया तथा धार्मिक मुल्लियों की सत्ता को कम कर दिया गया। अमानुल्ला ने सरकार के कार्य के लिए कैबिनेट कौंसिल को बहुत-सी शक्तियाँ प्रदान कर दी और अपनी स्वयं की शक्तियों को बहुत कम कर दिया। साथ ही अफगानिस्तान में स्त्रियों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए भी प्रयत्न किए जाने लगे।

१९२८ के अन्त में अचानक अमानुल्ला के विरुद्ध विद्रोह भड़क उठा। यह विद्रोह बच्चा सक्का (Bacha-i-Saqao) के नेतृत्व में, जो एक साधारण सक्का था, आगे बढ़ा और १९२९ में सफल हो गया। अमानुल्ला और महारानी सुरय्या अफगानिस्तान छोड़कर भाग गए और बच्चा सक्का वहाँ का अमीर बन बैठा। लगभग पाँच महीने तक बच्चा सक्का ने काबुल में प्रशासन किया। तत्पश्चात् उसे नादिरशाह ने, जो अमानुल्ला की सरकार में एक मंत्री तथा सेना का प्रधान था, हटा दिया। स्थिति पर पूर्ण नियंत्रण करने के बाद उसने नादिरशाह के रूप में प्रशासक का पदभार ग्रहण किया। नादिरशाह का ब्रिटेन के प्रति व्यवहार मित्रतापूर्ण था, अतः ब्रिटेन ने उसे, अफगानिस्तान की स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए, एक बहुत बड़ी धन-राशि (बिना ब्याज के) कर्ज के रूप में प्रदान की। साथ ही अफगानिस्तान को पर्याप्त सैन्य सामग्री भी प्रदान की गयी।

नादिरशाह का सर्वप्रथम उद्देश्य देश में शान्ति स्थापित करना था और इस कार्य में वह बहुत कुछ सफल भी हुआ। उसके शासन-काल में अफगानिस्तान में नये स्कूल खोले गये तथा एक साहित्यिक एकेडेमी, एक सैनिक कालेज और एक मेडिकल कालेज की स्थापना की गयी। उसके शासन-काल की प्रमुख विशेषता थी—नवीन संविधान का १९३० में पारित किया जाना। इस संविधान के अनुसार संसद् के दो सदन कर दिये गये। १९१९ तक अफगानिस्तान में पूर्ण राजतंत्र था। शाह अमानुल्ला ने अफगानिस्तान को प्रजातन्त्र की ओर ले जाने का प्रयास किया, परन्तु वे अपने मन्तव्य में अधिक सफल न हो सके। नादिरशाह के काल में जो नवीन संविधान की रचना हुई, उसके अनुसार अफगानिस्तान में संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना की गयी।

८ नवम्बर, १९३३ को नादिरशाह की उस समय हत्या कर दी गयी जब वह

बच्चों के एक स्कूल में पुरस्कार-वितरण समारोह में भाग ले रहे थे। उनके स्थान पर उनके छोटे पुत्र जहीर शाह अफगानिस्तान के शाह बने।

जहीर शाह : प्रजातंत्रात्मक शासन-प्रणाली :

जहीर शाह ने अपने पिता नादिरशाह के चरण-चिह्नों पर चलकर उनके अपूर्ण कार्य को पूरा करने का संकल्प लिया। सर्वप्रथम जहीर शाह ने, अपने पिता की भांति, देश में शांति स्थापित करने का प्रयास किया। द्वितीय महायुद्ध में, प्रथम महायुद्ध की भांति, उन्होंने तटस्थता की नीति का पालन किया और अपने देश को युद्ध की लपेटों में जाने से बचाये रखा। जहीर शाह ने प्रायः सभी राष्ट्रों के साथ मित्रता के सम्बन्ध बनाये रखे, परन्तु १९४७ में पाकिस्तान की स्थापना होने पर, स्वतन्त्र पठान राज्य के प्रश्न को लेकर, अफगानिस्तान के सम्बन्ध पाकिस्तान के साथ बिगड़ गये। आरम्भ में "ड्यूरेण्ड रेखा" (Durand Line) पर आधारित विवादग्रस्त क्षेत्र में उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रान्त (N. W. F. P.) से लगा हुआ स्वतन्त्र आदिम जाति क्षेत्र (free tribal territory) आता था। बाद में उसमें पश्चिमी पाकिस्तान का प्रान्त भी सम्मिलित कर दिया गया। दोनों देशों में इस प्रश्न को लेकर निरन्तर संघर्ष चलता रहा, लेकिन मई, १९६३ में शाह ईरान द्वारा मध्यस्थता की जाने पर उनके सम्बन्धों में सुधार हो गया। इसी वर्ष २४ नवम्बर को अफगानिस्तान ने चीन के साथ भी एक सीमा-सन्धि पर हस्ताक्षर किए।

१९५६ में (जहीर शाह के शासन-काल में) अच्छी सड़कों के निर्माण के लिए, आवागमन के साधनों को सुधारने के हेतु, खदानों की स्थापना के लिए तथा व्यापार, शिक्षा एवं कृषि आदि के विकास की हेतु एक पंचवर्षीय योजना लागू की गयी, जो १९६१ में सफलतापूर्वक पूर्ण हुई। अफगानिस्तान को इस योजना की पूर्ति के लिये अमेरिका तथा सोवियत संघ से पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। १९६१ में द्वितीय पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गयी। इस योजना का मुख्य लक्ष्य हिन्दूकुश पर्वत से होकर सड़क एवं गुफा का निर्माण करना था। इस कार्य की पूर्ति सोवियत संघ एवं अमेरिका के इन्जीनियरों के सहयोग से की गयी। मार्च, १९६४ में अफगानिस्तान 'कोलम्बो योजना' के अन्तर्गत आ गया।

मार्च, १९६३ में शाह जहीर के चचा सरदार मोहम्मद दाऊद खाँ ने प्रधान मन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया। उनके स्थान पर शाह जहीर ने मोहम्मद यूसुफ को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। मोहम्मद यूसुफ की नई सरकार ने, अफगानिस्तान के लिए, प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित एक नवीन संविधान के निर्माण हेतु एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने नये संविधान की रचना

की, जिसे १९ सितम्बर, १९६४ को स्वीकार कर लिया गया। इस सविधान के अनुसार देश के प्रमुख पदो को शाही कुटुम्ब के सदस्यों के लिए निषिद्ध कर दिया गया। सितम्बर, १९६५ मे आम चुनाव कराये गये तथा मोहम्मद यूसुफ को पुन प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त कर दिया गया। लेकिन मोहम्मद यूसुफ की नियुक्ति का नव-निर्वाचित जनसभा (People's Assembly) तथा विद्यार्थियों द्वारा घोर विरोध किया गया। परिणामस्वरूप अक्टूबर, १९६५ के अन्त में मोहम्मद यूसुफ को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा, और उनके स्थान पर मोहम्मद हाशिम मैवन्डवाल (Mohd Hash m Maiwandwal) को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया गया। अफगानिस्तान के वर्तमान प्रधान मन्त्री नूर अहमद एतमादी (Noor Ahmad Etemadi) हैं, जिनकी नियुक्ति १ नवम्बर, १९६७ को हुई।

प्रजातन्त्रात्मक सविधान के अन्तर्गत बननेवाली प्रथम ससद् का १९६५ में उद्घाटन किया गया। सविधान के अनुसार ससद् मे दो सदनो की व्यवस्था की गयी तथा समस्त विधायिनी शक्तियाँ ससद् को सौंप दी गयी। राजा की स्थिति सवैधानिक अध्यक्ष की रखी गयी, परन्तु उसे प्रधान मन्त्री तथा सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशो आदि की नियुक्तियाँ दे दी गयी। इस सविधान की रचना से पूर्व अफगानिस्तान में न्याय व्यवस्था मुस्लिम धर्म के अनुसार की जाती थी, किन्तु नवीन सविधान के अनुसार देश की न्याय व्यवस्था के सचालन हेतु १९६७ मे विधि संहिता का निर्माण किया गया।

मैवन्डवाल की कार्यकारिणी तथा संसद् में पारस्परिक सहयोग होने के कारण दोनो ने मिलकर देश की वित्तीय स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए भरसक प्रयत्न किए। अफगानिस्तान की बाह्य देशो पर वित्तीय निर्भरता को कम करने की दिशा में उचित कदम उठाये गये। तृतीय पंचवर्षीय योजना का निर्माण, जिसे मई,१९६७ में आरम्भ किया गया, इसी दृष्टि से हुआ।

पख्तूनिस्तान की समस्या :

जैसा ऊपर कहा गया है, पाकिस्तान की स्थापना के समय ही अफगानिस्तान और पाकिस्तान के सम्बन्ध बिगड़ गये, और इसका प्रमुख कारण है पख्तूनिस्तान की समस्या। आरम्भ से ही अफगानिस्तान की माँग रही है कि पश्चिमी पाकिस्तान के सीमा-क्षेत्र के पख्तूनो को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, पख्तू-भाषी क्षेत्र मे एक ऐसे राज्य की स्थापना की माँग की गयी जो पाकिस्तान और अफगानिस्तान की वर्तमान सीमाओ पर, 'ड्यूरेण्ड लाइन' के स्थान पर एक नवीन सीमारेखा को जन्म दे। अक्तूबर, १९५५ में अफगान सरकार ने

पश्चिमी पाकिस्तान द्वारा पख्तून क्षेत्र सहित एक नई प्रशासनिक इकाई की स्थापना के विरुद्ध पाकिस्तान को एक विरोध-पत्र भेजा। अफगानिस्तान सरकार ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया कि वह पख्तूनिस्तान के ऊपर न तो अपना प्रभाव स्थापित करना चाहती है और न ही वह पख्तूनिस्तान के क्षेत्रों को अफगानिस्तान में सम्मिलित करने की इच्छुक है। वह तो पख्तूनों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन केवल उसके (अफगानिस्तान के) पख्तूनों के साथ रक्त एवं राष्ट्रीयता के सम्बन्धों के आधार पर कर रही है। इस तर्क में सच्चाई अवश्य प्रतीत होती है, पर इसका एक और कारण भी है, और वह यह कि अफगानिस्तान पख्तूनिस्तान की स्थापना से अरब सागर तक पहुँचने में सफल हो जायेगा। सागर-तट तक पहुँचने की अफगानिस्तान की लालसा सदैव ही रही है। मध्य में बलूचिस्तान होने के कारण अफगानिस्तान समुद्र-तट से बहुत दूर है, और यह स्थिति उसके लिए व्यापारिक एवं सैनिक दृष्टि से हानिकारक है। अतः ऐसी किसी भी माँग का उसके द्वारा समर्थन किया जाना, जिससे उसे समुद्र-तट तक पहुँचने में सुविधा हो जाय। स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

इंग्लैण्ड में अफगानिस्तान के राजदूत डॉ० नजीबुल्लाह ने नवम्बर, १९५७ में 'टाइम्स' को लिखे गये अपने एक पत्र में बताया कि "१८९५ की संधि ने कभी भी ब्रिटिश प्रशासन को 'ड्यूरेण्ड रेखा' तक अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने की अनुमति नहीं दी। यह स्मरण रखना चाहिए कि उस रेखा के पूर्वी एवं दक्षिणी आदिम जाति क्षेत्र कभी भी भारत में ब्रिटिश प्रशासन के अंग नहीं रहे।" डॉ० नजीबुल्लाह ने समस्या को और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे बताया कि "इन क्षेत्रों के पख्तूनों ने १९४७ तक सदैव अपनी स्वतन्त्रता को संघर्ष करके सुरक्षित रखा और ब्रिटिश प्रभाव को आगे बढ़ने नहीं दिया। उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रान्त तथा बलूचिस्तान के पख्तून सदैव अपने राजनैतिक नेताओं द्वारा ब्रिटिश सरकार के समक्ष यह माँग करते रहे हैं कि उन्हें एक स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई के रूप में स्वीकार करके आत्मनिर्णय का अधिकार प्रदान किया जाय। इन्हीं सब तथ्यों को दृष्टि में रखकर अफगान सरकार सदैव, भारत के स्वाधीन होने से पूर्व, ब्रिटिश सरकार से निरन्तर यह माँग करती रही कि बर्मा तथा लंका की भाँति पख्तूनों को भी राजनीतिक आत्मनिर्णय का अधिकार प्रदान किया जाय। यह माँग संयुक्त राष्ट्रसंघ घोषणा-पत्र तथा मानव अधिकार सम्बन्धी घोषणा-पत्र में दिये गये सिद्धान्तों पर आधारित है।"

संक्षेप में समस्या यह है कि 'ड्यूरेण्ड रेखा' के पूर्वी एवं पश्चिमी आदिम जाति क्षेत्र तथा सीमान्त प्रान्त और बलूचिस्तान को मिलाकर पख्तूनिस्तान का निर्माण

किया जाय, जो एक स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करे। इस माँग को लेकर अफगानिस्तान की सरकार पाकिस्तान से पत्रव्यवहार करती रही, परन्तु पाकिस्तान की सरकार ने इस माँग को स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत पाकिस्तानी सरकार ने १९५५ में पश्चिमी पाकिस्तान की नई प्रशासनिक इकाई की स्थापना कर दी, जिसमें पख्तून क्षेत्र को भी सम्मिलित कर लिया गया। ऐसा करते समय पाकिस्तान ने पख्तूनों से कोई राय नहीं ली।

दोनों देशों के बीच चर्चाओं का दौर चलता रहा, परन्तु समस्या का कोई समाधान नहीं हो सका। पाकिस्तान सदैव यह शिकायत करता रहा कि अफगानिस्तान निरन्तर साम्यवादी प्रभाव-क्षेत्र में चला जा रहा है तथा उसी प्रभाव के कारण वह पख्तूनिस्तान का समर्थन कर रहा है। परन्तु यह सत्य है कि अफगानिस्तान की विदेश नीति प्रायः अलगाव एवं तटस्थता की रही है, और वह सोवियत संघ तथा अमेरिका दोनों ही से आर्थिक एवं सैनिक सहायता प्राप्त करता रहा है। जनवरी, १९६० में अफगानिस्तान के विदेश मंत्री सरदार नईम खाँ कराची गये, किन्तु दोनों देशों के सम्बन्ध सुधरने के बजाय और भी अधिक बिगड़ गये। श्री अयूब (१९६० में पाकिस्तान के राष्ट्रपति) ने सेण्टो से सम्बद्ध मुस्लिम राज्यों के अध्यक्षों को अफगानिस्तान के विरुद्ध भड़काने का प्रयास किया, लेकिन तुर्की के तत्कालीन राष्ट्रपति और ईरान के शाह ने उनकी बातों का समर्थन करने से इनकार कर दिया। मार्च, १९६० में पाकिस्तान को तब एक और निराशा हाथ लगी जब अपनी काबुल यात्रा के समय तत्कालीन रूसी प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने अफगानिस्तान के दावे का पूर्ण समर्थन किया। इससे पाक-अफगान सम्बन्ध और अधिक बिगड़ गये।

अफगानिस्तान और पाकिस्तान के सम्बन्ध उस समय विशेष कटु हो गये जब सितम्बर, १९६० और मई, १९६१ में दोनों में, सीमा के बाजौर (Baizur) क्षेत्र में, संघर्ष हुआ एवं परिणामस्वरूप अगस्त, १९६१ में दोनों ही देशों के कूटनीतिक सम्बन्ध टूट गये। पहले भी १९५५ में उनके कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद हो चुके थे, किन्तु १९५७ में वे पुनः स्थापित हो गये। २८ मई, १९६३ को, ईरान के शाह की मध्यस्थता से, दोनों देशों में व्यापारिक एवं कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गये। दोनों देशों ने परस्पर सद्भावना एवं मैत्री का वातावरण बनाये रखने का वचन दिया। लेकिन स्थायी शान्ति फिर भी स्थापित न हो सकी। अफगान प्रतिनिधि-मण्डल के नेता सईद रशितया ने २९ मई, १९६३ को तेहरान में यही कहा कि अफगानिस्तान ने 'ड्यूरेण्ड रेखा' को दोनों देशों के बीच की अन्तरराष्ट्रीय सीमा-रेखा नहीं माना है, और पख्तूनिस्तान का प्रश्न अब भी जीवित

है। इसके विपरीत, लगभग इसी समय, पाकिस्तान के विदेश मन्त्री श्री भुट्टो ने रावलपिण्डी में कहा कि पख्तूनिस्तान का प्रश्न अब समाप्त हो चुका है। वास्तव में, पख्तूनिस्तान का प्रश्न आज भी दोनों देशों के मध्य एक विवादग्रस्त समस्या है। पाकिस्तान चाहे कितना ही प्रचार करे, किन्तु पख्तूनिस्तान के अस्तित्व को झुठलाया नहीं जा सकता।

खान अब्दुल गफ्फार खान :

गांधी जी खान अब्दुल गफ्फार खान को 'ईश्वर का सेवक' ('Man of God') कहकर पुकारते थे। अपने देशवासियों में वे 'सरहदी गांधी' के रूप में जाने जाते हैं। पठान लोग उन्हें अपना बादशाह अथवा राजा मानते हैं। सम्भवतः इसी से वे 'बादशाह खान' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं।

बादशाह खान एक ऐतिहासिक पुरुष बन गये हैं, जिन्होंने अपनी असीम दयालुता से ब्रिटिश साम्राज्य को स्तम्भित कर दिया और जो अदम्य साहस से पख्तूनिस्तान के निर्माण के लिए पाकिस्तान से संघर्ष कर रहे हैं।

बादशाह खान का जन्म, स्वयं उनके शब्दों में, १८९० में हश्तनगर (Hashtanaghar) में उतमनजइ नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता खान बहरम खान अपने गाँव के प्रमुख खानों में एक थे, परन्तु उनमें अन्यों की भांति झूठा अहंकार एवं उद्दण्डता नहीं थी। वे स्वभाव से अत्यन्त दयालु, सहनशील, उदार एवं उत्तम विचारों के थे। किसी भी संघर्ष में उन्होंने सदैव पीड़ित व्यक्ति का ही पक्ष लिया। बदला लेने अथवा प्रतिद्रोह की भावना का उनमें पूर्णतः अभाव था। बादशाह खान के पिता की भाँति, उनकी माता भी प्रकृति से अत्यन्त उदार एवं धर्मनिष्ठ थीं। माता-पिता दोनों के गुणों का प्रभाव बादशाह खान पर आरम्भ से ही पड़ा।

बादशाह खान के पिता, दूसरे खानों की भांति, सरकार के हितैषी कभी नहीं रहे। चाटुकारी करना या मानसिक दासता स्वीकार करना उनके स्वभाव के विपरीत था, और यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार उन्हें शंकित दृष्टि से देखती थी। बादशाह खान के पितामह अबेदुल्लाह खान भी अपनी देशभक्ति एवं स्पष्टवादिता के कारण ही उस समय तत्कालीन देश-प्रशासक दुर्रानी के हाथों मारे गये थे। ये ही सारे गुण बादशाह खान में कूट कूटकर भरे हुए हैं।

बादशाह खान जिस समय दसवीं कक्षा के विद्यार्थी थे, उन्हें सेना में सीधा कमीशन प्राप्त हो गया, परन्तु उन्हें ब्रिटिश सरकार के नीचे कार्य करना अपमानजनक प्रतीत हुआ। अतः उन्होंने, अपने पिता के विरोध के बावजूद भी, सेना में

कमीशन प्राप्त करने तथा ब्रिटिश सरकार के नीचे अन्य कोई कार्य करने की अपेक्षा देश की सेवा करना अधिक उत्तम समझा।

१९१९-२० में 'खिलाफत आन्दोलन' जोरों पर था। खिलाफत के मामले में यद्यपि भारत का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था, तथापि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसका समावेश हो जाने का कारण यह था कि जो मुसलमान नेता भारत के राष्ट्रीय जागरण से सहानुभूति रखते थे, वही खिलाफत आन्दोलन के सूत्रधार थे। हकीम अजमल खाँ, डॉ० अन्सारी, अली बन्धु, मौलाना आजाद आदि कांग्रेस में भाग लेनेवाले मुसलमानों के मन में खिलाफत का प्रश्न एक धार्मिक तथा राजनीतिक प्रश्न था। प्रथम महायुद्ध में तुर्की मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध लड़ा था। युद्ध में पराजित हो जाने पर 'सीवर्स की सन्धि' द्वारा तुर्की की सीमाएँ काट छाँट दी गयी। महायुद्ध के समय भारतीय मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के हेतु इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री लॉयड जॉर्ज ने यह स्पष्ट घोषणा की कि तुर्की को उसके एशिया-माइनर तथा थ्रेस के प्रसिद्ध समृद्धिशाली द्वीपों से वंचित न किया जायगा, परन्तु युद्ध की समाप्ति पर अंग्रेजी सरकार ने इस घोषणा को मान्यता प्रदान नहीं की। इस विश्वासघात से भारतीय मुसलमानों को ठेस पहुँची, और देश में खिलाफत आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। खिलाफत के समर्थकों की माँग थी कि तुर्की साम्राज्य का सधारण किया जाय तथा ऐहिक एवं आध्यात्मिक संस्था के रूप में खिलाफत का अस्तित्व बना रहे।

१९२० में बादशाह खान ने खिलाफत आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ किया। दिसम्बर, १९२१ में इस आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें तीन वर्ष के कठोर कारावास के लिए जेल भेज दिया गया। १९२४ में उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया। उन्हें इस बात का बहुत अधिक दुःख था कि उनकी जाति के पठान लोग एकदम अशिक्षित हैं और ब्रिटिश सरकार के मानसिक दास बने हुए हैं। उनका विश्वास था कि जब तक उन्हें शिक्षित नहीं किया जाता, तब तक उनमें राजनीतिक चेतना का उदय होना कठिन है। अतः उन्होंने कारावास से मुक्त होते ही पुनः अपने लोगों को शिक्षित करना आरम्भ कर दिया। उनके अनुसार 'लोगों को शिक्षित करना तथा देश की सेवा करना उतना ही पवित्र है जितना कि नमाज पढ़ना'।[1]

१. 'माई लाइफ ऐण्ड स्ट्रगल', ओरिएन्ट पेपरबैक, हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली-३२, पृष्ठ ३२ (अंग्रेजी से अनूदित).

मई, १९२८ में उन्होंने लोगों को शिक्षित करने तथा उनमें राजनीतिक जागृति पैदा करने की दृष्टि से 'पख्तून' नामक अखबार निकालना आरम्भ किया। अखबार की भाषा 'पख्तु' थी। उस समय पख्तु लोग अपनी मातृभाषा में रुचि नहीं रखते थे। वास्तव में, अधिकांश तो यह जानते भी नहीं थे कि उनकी मातृभाषा पख्तु है। बादशाह खान का विश्वास था और आज भी है कि 'राष्ट्र अपनी भाषा से ही जाना जाता है, और जो राष्ट्र अपनी भाषा की कदर नहीं करता वह शीघ्र ही मानचित्र से अपना अस्तित्व खो देगा'।[२] शीघ्र ही 'पख्तून' अखबार पख्तूनों में प्रसिद्ध हो गया। अफगानिस्तान के अमीर अमानुल्लाह ने इसे अफगानिस्तान में प्रसिद्धि दिलाने के अथक प्रयत्न किए।

बादशाह खान महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू से सर्वप्रथम १९२८ में लखनऊ कांग्रेस की बैठक में मिले। इन दोनों ही का तथा भारत में चलनेवाले स्वतंत्रता आन्दोलन का उनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा। पर इससे भी अधिक जिस बात ने बादशाह खान को प्रभावित किया, वह थी भारतीय स्त्रियों द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना। वे इस बात से दुःखी थे कि पठान लोग "राष्ट्र" अथवा "राष्ट्रीयता" शब्द का ठीक से अर्थ तक नहीं समझते थे। पठान स्त्रियों की बात तो दूर रही, पठान पुरुषों में भी देशसेवा की भावना का अभाव था। अतः उन्होंने अपने साथी पठानों को समझाते हुए बताया कि आन्दोलन एक तूफान के समान है जो लोगों को प्रसन्नता, सौभाग्य तथा जीवन भी प्रदान कर सकता है और भयंकर विपत्ति एवं दुःख भी दे सकता है। जिस राष्ट्र के लोग प्रेम, सद्भाव तथा संगठन से रहना जानते हैं, वे ही उस तूफान से लाभ उठा सकते हैं और जब राष्ट्र उठता है तो उसके साथ साथ देश का प्रत्येक नागरिक भी उठता है। राष्ट्र की ऊँचाई कभी भी धन दौलत से नहीं आँकी जा सकती; राष्ट्र का बल उसके लोगों के चरित्रबल तथा त्याग में निहित होता है। बादशाह खान ने पठानों को आह्वान करते हुए कहा कि उन्हें स्वयं के लिए जीना छोड़कर अन्यों के लिए जीना सीखना चाहिये।

१९२९ में बादशाह खान के प्रयत्नों से "खुदाई खिदमतगार संस्था" एवं आन्दोलन (Servants of God Movement) का श्रीगणेश किया गया। इस नाम और संस्था के पीछे उद्देश्य था पठानों में ईश्वर के नाम से सेवा की भावना जागृत करना। बादशाह खान ने महसूस किया कि पठान लोग असहिष्णु तथा उग्र स्वभाव के थे और वे छोटी छोटी बातों पर आपस में संघर्ष करते रहते थे। उनके

---

२. वही, पृष्ठ ८८-८९.

सामाजिक रीति रिवाज त्रुटिपूर्ण थे। खुदाई खिदमतगार आन्दोलन का उद्देश्य पठानो को शात एव व्यवहारकुशल बनाना तथा उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण मे परिवर्तन करना था। प्रत्येक खुदाई खिदमतगार को सरल और सीधा जीवन व्यतीत करने, अहिंसा को जीवन से न त्यागने, नि स्वार्थ सेवा करने, असामाजिक रिवाजो एव सघर्षो से दूर रहने तथा आदर्श जीवन व्यतीत करने आदि की प्रतिज्ञा लेनी पडती थी।

गाधी जी की अहिंसा का बादशाह खान पर इतना अधिक प्रभाव पडा कि उन्होने "खिलाफत आन्दोलन" से, उसमे तनिक सी हिंसा का आभास पाने पर, त्यागपत्र दे दिया। १९२९ तक बादशाह खान पूर्ण रूप से गाधी जी के अनुयायी बन गये तथा उन्होने किसी भी समस्या को सुलझाने के हेतु अहिंसा को ही एकमात्र अस्त्र के रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होने अपनी सारी शक्ति खुदाई खिदमतगार आन्दोलन को सफल बनाने मे लगा दी और उन्हे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि इस आन्दोलन ने पठानो के दिलो से ब्रिटिश सरकार के भय को पूर्णत नष्ट कर दिया।

अप्रैल, १९३० मे बादशाह खान को इस आन्दोलन के सम्बन्ध मे बन्दी बना लिया गया। ब्रिटिश सरकार ने इसे दबाने के भरसक प्रयत्न किये पर वह अपने उद्देश्य मे सफल न हो सकी। खुदाई खिदमतगारो ने ब्रिटिश सरकार द्वारा किये गये सभी अत्याचारों को शान्तिपूर्वक सहन किया। वास्तव मे पठानो द्वारा हिंसा का त्याग किया जाना बादशाह खान के नेतृत्व की सबसे बडी सफलता थी। हिंसा को हिंसा द्वारा दबाया जा सकता है, किन्तु शातिपूर्ण आन्दोलन को हिंसा द्वारा दबाना प्राय कठिन होता है। अहिंसा हिंसा से अधिक शक्तिशाली होती है। इसी सदर्भ मे ब्रिटिश सरकार को यह कहते सुना गया कि "अहिंसक पठान हिंसक पठान से कही अधिक खतरनाक होता है" ("A non-violent Pathan is more dangerous than a violent Pathan")।[1] खुदाई खिदमतगारों का आन्दोलन एव उनकी शक्ति देखकर ब्रिटिश सरकार स्तम्भित रह गई।

१९४२ में गाधी जी द्वारा "भारत छोडो आन्दोलन" चलाया गया। सभी भारतीयो ने एक साथ मिलकर इस आन्दोलन मे भाग लिया। बादशाह खान ने इस आन्दोलन में कूद पडने के लिए खुदाई खिदमतगारों का आह्वान किया। हजारो की सख्या मे खुदाई खिदमतगारो को जेल भेज दिया गया तथा अनेक पठान

१. वही, पृष्ठ २०४.

पुलिस की लाठियों से घायल हुए, परन्तु ब्रिटिश सरकार की सारी शक्ति एवं अत्याचार उन्हें अहिंसा के आदर्श से डिगा न सके।

१९४५-४६ के शीतकाल में विधान सभाओं के नवीन निर्वाचन हुए। चुनाव में मुस्लिम लीग का नारा था—भारत अथवा पाकिस्तान, हिन्दू अथवा मुस्लिम, इस्लाम अथवा कुफ्र (Kufr)। मुस्लिम लीग पाकिस्तान के पक्ष में प्रचार कर रही थी। ब्रिटिश सरकार ने, जो भारत को विभाजित देखना चाहती थी, उस प्रचार में लीग का साथ दिया। परन्तु फिर भी उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में मुस्लिम लीग सफलता प्राप्त न कर सकी, क्योंकि यहाँ खान बन्धुओं तथा उनके खुदाई खिदमतगारों का जोर था। ये लोग कांग्रेस के पक्ष में थे तथा मुस्लिम लीग के भारत-विरोधी प्रचार (पाकिस्तान निर्माण के पक्ष में) का विरोध करते थे। जब जुलाई, १९४६ में संविधान सभा के लिए निर्वाचन हुए तो सीमा प्रान्त के प्रतिनिधि के रूप में बादशाह खान, मौलाना आजाद तथा हजारा जिले से एक अन्य व्यक्ति को (भारतीय संविधान सभा के लिए) निर्वाचित किया गया। परन्तु मुस्लिम लीग के विरोध के कारण भारत विभाजन की योजना बनी। माउन्टबैटन योजना के अन्तर्गत १९४७ में, खान बन्धुओं तथा खुदाई खिदमतगारों के सम्पूर्ण विरोध के बावजूद, पुनः जनमत संग्रह कराया गया और भारत का बलात् विभाजन कर दिया गया।

बादशाह खान के लिए यह बहुत बड़ा आघात था। विभाजन से कुछ ही दिन पूर्व उन्होंने गांधी जी तथा कांग्रेस कार्यकारिणी को अपना दुःख प्रकट करते हुए कहा था कि "आप हमारा परित्याग कर रहे हैं तथा हमें भेड़ियों के आगे फेंक रहे हैं" ("You are deserting us now and throwing us to the wolves.")[१]। बादशाह खान का 'भेड़ियों' से तात्पर्य पाकिस्तान से था।

बादशाह खान ने लगभग १५ वर्ष ब्रिटिश सरकार की जेलों में काटे तथा भारत के विभाजन के बाद १५ वर्ष पाकिस्तानी सरकार की जेलों में। पाकिस्तानी सरकार का बादशाह खान तथा खुदाई खिदमतगारों के प्रति रवैया ब्रिटिश सरकार के रवैये से भी अधिक बर्बरतापूर्ण रहा है। पाकिस्तानी सरकार ने हजारों खुदाई खिदमतगारों को अनेक वर्षों तक बन्दी बनाये रखा तथा बलात् उनकी सम्पत्ति का अपहरण किया। पाकिस्तान के सम्बन्ध में बादशाह खान का मत है कि, क्योंकि पाकिस्तान का निर्माण नफरत एवं संघर्ष पर आधारित है, अतः वह शांति और सद्भाव की बात सोच ही नहीं सकता।

---

१. वही, पृष्ठ २०४.

३० जनवरी, १९६४ को बादशाह खान पाकिस्तानी सरकार की जेल से मुक्त हुए। उन्होंने पख्तूनो की स्वाधीनता के हेतु एक सस्था का निर्माण किया। इस आन्दोलन का संचालन उन्होंने काबुल (अफगानिस्तान) से करना आरम्भ किया। काबुल मे उन्होने पख्तूनिस्तान की आवश्यकता के सम्बन्ध मे कुछ भाषण दिये। ३१ अगस्त, १९६५ के अपने भाषण मे उन्होंने बताया कि ब्रिटिश सरकार ने पख्तूनो के प्रदेश को छोटे छोटे टुकडो मे विभक्त करके उसकी एकता को नष्ट करने का प्रयास किया। पाकिस्तानी सरकार की भी यही नीति रही है। पख्तून लोग एक राष्ट्र के रूप मे है। उनमे जातीय एकता, त्याग की भावना तथा एक साथ मिलकर कार्य करने की भावना है। ये सब बाते एक राष्ट्र के लिए आवश्यक है। अत पख्तूनो को एक राष्ट्र के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए। अपने ३१ अगस्त, १९६६ के भाषण मे उन्होंने पाकिस्तान को पुन स्मरण कराया कि पख्तून लोग अब अपने अधिकारो के प्रति सजग हो चुके है। स्वतन्त्र पख्तूनिस्तान का निर्माण करना उनका नैतिक एव कानूनी अधिकार है, जो उन्हे प्राप्त होना ही चाहिए। पख्तूनिस्तान की माँग पख्तूनों के लिए जीवन मरण का प्रश्न बन चुकी है, जिसकी पूर्ति होना अनिवार्य है।

बादशाह खान शाति के पुजारी है तथा अहिंसा मे उनकी पूर्ण आस्था है। वे पख्तूनिस्तान के निर्माण के लिए सघर्षरत है। उनका विश्वास एक ऐसे प्रजातन्त्रात्मक राज्य से है जो धार्मिक मतभेदो से ऊपर हो तथा जिसमे मानसिक दासता तथा राजनैतिक एव आर्थिक अन्याय के लिए कोई स्थान न हो।

अध्याय २

पाकिस्तान

निर्माण एवं आन्तरिक राजनीति :

पाकिस्तान विश्व-इतिहास में एक नवीन सत्य के रूप में सामने आया है। मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग तथा द्विराष्ट्र सिद्धान्त मुख्यतः सन् १९३८ से १९४० के मध्य विकसित हुआ। मुस्लिम लीग की माँग का आधार जॉन स्टुअर्ट मिल का यह सिद्धान्त था कि राज्य का क्षेत्र साधारणतः जातीयता के क्षेत्र के अनुरूप होना अपेक्षित है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् योरप में यह सिद्धान्त बहुत ही मान्य था तथा यह विल्सन के "१४ सिद्धान्तों" का भी आधार था।

सर्वप्रथम १९३८ में पाकिस्तान के निर्माता कायदे आजम जिन्ना ने सिन्ध प्रान्तीय मुस्लिम लीग के अधिवेशन में पाकिस्तान की माँग की। तत्पश्चात् १९४० में उन्होंने मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान की स्थापना से संबद्ध प्रस्ताव स्वीकृत कराया। अधिवेशन के कुछ दिनों बाद जिन्ना ने एसोसियेटेड प्रेस ऑफ अमेरिका को एक भेंट में बताया कि पाकिस्तान एक जनतंत्रात्मक संघीय राज्य होगा, जिसमें पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, बिलोचिस्तान, सिन्ध, पंजाब तथा पूर्व में बंगाल और आसाम के मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्र सम्मिलित होंगे। जिन्ना एवं लीग द्वारा पाकिस्तान की माँग निरन्तर दोहरायी गयी तथा जब कभी भी संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के प्रयास किये गये, पाकिस्तान की माँग ने उन्हें सदैव असफल कर दिया। १९४२ के "क्रिप्स प्रस्तावों" (Cripps Proposals) तथा १९४४ के "राजगोपालाचारी फार्मूला"[1] (Rajagopalachari

---

१. इसके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी किसी भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास सम्बन्धी पुस्तक अथवा डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या की पुस्तक "भारतीय कांग्रेस का इतिहास" से प्राप्त की जा सकती है। प्रस्तुत पुस्तक के विशिष्ट उद्देश्य के सन्दर्भ में उसके बारे में यहाँ लिखना अनावश्यक है।

Formula) में भी पाकिस्तान की माँग को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया गया। फिर भी अखिल भारतीय कांग्रेस ने लीग की इस माँग को १९४६ तक स्वीकार नहीं किया। इससे लीग का कांग्रेस विरोधी आन्दोलन तीव्र हो गया। देश में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे और अन्त में भारत के वायसराय लॉर्ड माउन्ट-बैटन की योजना के आधार पर, जिसे ३ जून, १९४७ को घोषित किया गया, देश का विभाजन कर दिया गया। अगस्त, १९४७ में भारत और पाकिस्तान दो स्वतंत्र राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

१४ अगस्त, १९४७ को पाकिस्तान की स्थापना हुई। पाकिस्तान दो भू-भागों को, जो एक दूसरे से १००० मील से भी अधिक दूर हैं, मिलाकर बनाया गया—एक पश्चिमी पाकिस्तान, जिसमें पश्चिमी पंजाब, सिंध, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, बलूचिस्तान और कुछ देशी रियासतें हैं तथा दूसरा पूर्वी पाकिस्तान जिसमें बंगाल का पूर्वी भाग और आसाम का कुछ भाग सम्मिलित है। पाकिस्तान का कुल क्षेत्रफल ३,६४,७३७ वर्गमील तथा जनसंख्या लगभग १५ करोड़ है।

पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर जनरल मुहम्मद अली जिन्ना बने तथा प्रधान मंत्री पद का भार लियाकत अली खाँ ने सँभाला। जिन्ना का १९४८ में निधन हो गया तथा लियाकत अली खाँ की अक्टूबर, १९५१ में हत्या कर दी गयी। पाकिस्तान की आन्तरिक राजनीतिक स्थिति बिगड़ती गई और शासन में अस्थिरता का बोल-बाला रहा। पाकिस्तान के सैनिक अधिकारियों में सत्ता की प्यास जागृत हो गई। प्रधान सेनापति जनरल अयूब के दबाव से प्रेसीडेन्ट इसकन्दर मिर्जा ने ७ अक्टूबर, १९५८ को सारे देश में मार्शल ला लागू कर दिया। कुछ ही समय पश्चात् मिर्जा को अपना पद त्यागना पड़ा और सम्पूर्ण सत्ता जनरल अयूब के हाथ में आ गयी। अयूब के सैनिक शासन के लगभग चार वर्ष बाद नये संविधान के अन्तर्गत ८ जून, १९६२ को राष्ट्रीय असेम्बली की बैठक हुई। इस प्रकार पाकिस्तान में सैनिक शासन समाप्त हुआ और प्रजातान्त्रिक सरकार स्थापित करने का नाटक खेला गया। वास्तविक शक्ति एक तानाशाह के रूप में जनरल अयूब में निहित रही। मार्च, १९६९ में अयूब खाँ को पदत्याग करना पड़ा और पाकिस्तान में जनरल याह्या खाँ के नेतृत्व में पुनः सैनिक शासन की स्थापना हो गयी जो अभी तक चला आ रहा है। परन्तु देश की जनता एवं उसके विभिन्न राजनीतिक दलों की निरंतर माँग के कारण राष्ट्रपति याह्या खाँ ने ७ दिसम्बर, १९७० को प्रथम बार पाकिस्तान में आम चुनाव कराये, जिनमें पूर्व पाकिस्तान में मुजीबुर्रहमान की 'अवामी लीग' तथा पश्चिमी पाकिस्तान में जुल्फिकार अली भुट्टो की 'पीपुल्स पार्टी' को बहुमत प्राप्त हुआ। लेकिन पाकिस्तान की "नैशनल असेम्बली" में अवामी लीग

का ही प्रभुत्व (बहुमत) रहा। राष्ट्रपति याह्या खाँ की घोषणा के अनुसार दोनों दलों को मिलकर १२० दिन में नये संविधान की रचना करनी थी, परन्तु भुट्टो नहीं चाहते थे कि अवामी लीग के सिद्धान्तों के अनुसार पाकिस्तान के नये संविधान की रचना की जाय तथा देश का नेतृत्व (नेशनल असेम्बली में बहुमत दल के नेता होने के कारण) मुजीब के हाथों में जाये। अतः उन्होंने मुजीब के साथ, संविधान के निर्माण के प्रश्न पर, असहयोग किया। मुजीब ने, जो कि पूर्वी पाकिस्तान की स्वायत्तता के प्रवर्तक हैं, अपनी मांग के समर्थन में याह्या खाँ की सरकार के विरुद्ध २ मार्च, १९७१ से अहिंसक असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया। २६ मार्च, १९७१ को मुजीब तथा उनकी 'अवामी लीग पार्टी' द्वारा स्पष्ट रूप से, पृथक् बँगला देश की घोषणा कर दी गयी और २६ मार्च से बँगला देश में गृहयुद्ध आरम्भ हो गया है। वहाँ अस्थायी सरकार की स्थापना की भी घोषणा कर दी गयी है, जिसका नेतृत्व मेजर जीया कर रहे हैं जो बँगला देश की मुक्ति सेना के सेनापति हैं। मुजीबुर्रहमान बँगला देश के प्रधान हैं। ऐसी परिस्थिति में पाकिस्तान के भविष्य के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है।

इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि के साथ अब हम पाकिस्तान में पूर्व में किये गये राजनीतिक प्रयोग तथा वहाँ के प्रमुख राजनीतिक विचारकों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

बुनियादी प्रजातन्त्र (Basic Democracy) :

१९५६ के संविधान के अनुसार पाकिस्तान में संसदात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना की गयी। संविधान के अनुसार (पाकिस्तान के) राष्ट्रपति का चुनाव राष्ट्रीय असेम्बली (Nationl Assembly) तथा प्रान्तीय सभाओं (Provincial Assemblies) के सदस्यों द्वारा पाँच वर्षों के लिए किया जाना निश्चित हुआ। राष्ट्रपति राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता था तथा कार्यकारिणी (Parliamentary Executive) का अध्यक्ष प्रधान मन्त्री होता था, जिसकी नियुक्ति राष्ट्रीय सभा के सदस्यों में से राष्ट्रपति द्वारा की जाती थी। अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मन्त्री के परामर्श पर की जाती थी। राष्ट्रीय सभा के ३१० सदस्यों का निर्वाचन, वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त पर, जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप में पाँच वर्षों के लिए किया जाता था। देश के आय-व्यय का विवरण, अन्य संसदात्मक शासन व्यवस्था वाले देशों की भाँति, राष्ट्रीय सभा को प्रतिवर्ष प्रस्तुत किया जाता था। वित्तीय मामलों में राष्ट्रीय सभा की स्वीकृति अनिवार्य थी।

लेकिन छह वर्षों के पश्चात् १९६२ में नवीन संविधान लागू किया गया। १९५६ के संविधान का स्वरूप संसदात्मक था, जब कि १९६२ के संविधान का

स्वरूप अध्यक्षात्मक रखा गया। १९५६ के बाद पाकिस्तान की राजनीतिक स्थिति बिगड़ती गयी, अतः यह अनुभव किया गया कि देश की राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्र सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाया जाय। इसी कारण नवीन संविधान का स्वरूप अध्यक्षात्मक रखा गया। सम्पूर्ण संविधान (परिशिष्टों को निकालकर) लगभग १८० पृष्ठों का है, जिसमें मूलभूत अधिकार तथा नीति सम्बन्धी नियम आदि दिये गये हैं। इस प्रकार अध्यक्षात्मक होते हुए भी संविधान को अधिकाधिक प्रजातान्त्रिक रूप देने का प्रयास किया गया है। पर इस प्रजातन्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि संविधान की १७३वीं धारा के अनुसार कोई भी व्यक्ति, चुनाव सम्बन्धी कार्य अथवा अभियान में, यदि किसी राजनीतिक दल से सम्बन्धित पाया गया तो वह दण्ड का भागी होगा। परन्तु इससे राष्ट्रीय सभा में विभिन्न विचारों के सदस्यों के कारण राजनीतिक अस्थिरता आ गयी, और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय सभा के प्रथम अधिवेशन में ही *राजनीतिक दलों सम्बन्धी नियम (Political Parties Act)* पास करके इस प्रतिबन्ध को शिथिल करना पड़ा।

यद्यपि राष्ट्रपति अयूब ने कुछ अंशों में राष्ट्रीय सभा तथा प्रान्तीय सभाओं के निर्वाचन हेतु तथा उनके अन्दर राजनीतिक दलों एवं दृष्टिकोणों के महत्व को स्वीकार कर लिया, तथापि पाकिस्तान में बुनियादी प्रजातन्त्र की स्थापना में उन्हें अनावश्यक ही नहीं अपितु हानिकारक समझा।

राष्ट्रपति अयूब के शासन की प्रमुख विशेषता थी उनके द्वारा पाकिस्तान में बुनियादी प्रजातन्त्र की स्थापना। राष्ट्रपति अयूब के अनुसार पाकिस्तान में किसी भी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की सफलता के लिए चार पूर्वनिश्चित बातें हैं: प्रथम *उस व्यवस्था को समझने, कार्यान्वित करने तथा बनाये रखने के लिए आवश्यक* है कि वह सरल एवं सस्ती होनी चाहिए, द्वितीय, उसे मतदाता के सामने उन्हीं प्रश्नों को रखना चाहिए जिनका वह बिना किसी बाह्य दबाव अथवा प्रेरणा के सरलतापूर्वक उत्तर दे सके, तृतीय, वह व्यवस्था इतनी सीधी हो जिसमें सभी नागरिक अपनी बुद्धि के अनुसार भाग ले सकें, चतुर्थ, उसके द्वारा अन्त में सुदृढ़ एवं स्थायी सरकारों की स्थापना हो सके। राष्ट्रपति अयूब द्वारा स्वीकृत 'बुनियादी प्रजातन्त्रों' की स्थापना से इन चारों आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।

पाकिस्तान में 'बुनियादी प्रजातन्त्रों' की स्थापना सम्बन्धी योजना पर अमल करना उसी समय आरम्भ कर दिया गया जब १९६२ में संविधान की रचना की जा रही थी। *संविधान में मौलिक अधिकारों तथा नीति सम्बन्धी नियमों का* निर्माण करते समय इस योजना को दृष्टि में रखा गया।

'बुनियादी प्रजातन्त्र' को लोकप्रिय बनाने का वास्तविक श्रेय राष्ट्रीय पुनर्रचना तथा सूचना मन्त्रालय के पहले संयुक्त सचिव ब्रिगेडियर एफ०आर० खान को दिया जाता है। १९५९ में १४ और २१ दिसम्बर के मध्य स्वयं राष्ट्रपति अयूब ने जनता से सम्पर्क स्थापित करने की दृष्टि से 'पाक जम्हूरियत' नामक रेल में देश का भ्रमण किया। ब्रिगेडियर एफ० आर० खान के अनुसार 'बुनियादी प्रजातन्त्र' पाकिस्तानी जनता के मौलिक अधिकारों की आधारशिला का कार्य करेगा। बहावलपुर के कमिश्नर के शब्दों में बुनियादी प्रजातन्त्र के द्वारा पाकिस्तान में एक ऐसे वर्ग-हीन समाज की स्थापना होगी, जिसमें राजनीतिक दलों का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा और वे मिल्लत (Millat) को किसी भी प्रकार से बिगाड़ न सकेंगे। गुलाम मोहम्मद परवेज के अनुसार बुनियादी प्रजातन्त्र इस्लाम में शूरा (Council of Advisors, सलाहकार समिति) के विचार के समान है तथा इस्लाम धर्म में पाश्चात्य ढंग के प्रजातन्त्र के लिए कोई स्थान नहीं है। राष्ट्रपति अयूब के शब्दों में 'बुनियादी प्रजातन्त्र' का विचार सहिष्णुता से सम्बन्धित इस्लाम धर्म के निर्देशों से ग्रहण किया गया है। परम्परागत प्रजातान्त्रिक पद्धति में, विरोधी दल का कार्य राष्ट्रीय हित पर विचार किये बिना, केवल सरकार का विरोध करना रहता है। साम्यवादी तथा फासीवादी पद्धतियाँ कठोर एकदलीय व्यवस्था पर आधारित रहती हैं, जिसमें व्यक्ति अथवा समूह के विरोध के लिए कोई स्थान नहीं होता। इस्लामी पद्धति में इन दोनों व्यवस्थाओं के लिए स्थान नहीं। अतः हजरत उमर (Hazrat Omar) ने बताया कि उच्च चरित्र एवं बुद्धि के ऐसे लोग ही कौंसिलों के सदस्य होने चाहिये, जिनका किसी भी राजनीतिक दल से कोई सम्बन्ध न हो।"[1] इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार ने बुनियादी प्रजातन्त्र का प्रचार इस प्रकार से किया जिससे पाकिस्तान के प्रायः सभी वर्ग उससे और आकर्षित हुए। रूढ़िवादियों से कहा गया कि बुनियादी प्रजातन्त्र का विचार मूल में इस्लाम धर्म की विचार-धारा से मेल खाता है। नगर में रहनेवाली जनता को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया गया कि बुनियादी प्रजातन्त्र में पाश्चात्य प्रजातन्त्र की सभी विशेषताएँ—केवल उसकी बुराइयों को निकालकर—विद्यमान हैं। सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि भ्रष्ट राजनीतिज्ञों को इस योजना के अन्तर्गत चुनाव लड़ने का अधिकार नहीं होगा। प्रथम चुनावों से पूर्व, जो दिसम्बर, १९५९ में कराये गये, निर्वाचित होनेवाली संस्थाओं से सम्बन्धित अयोग्यता आदेश (Elective Bodies Dis-qualification Order) प्रसारित किया गया। इस आदेश के अन्तर्गत लगभग

१. 'दि मिडिल ईस्ट जर्नल', अंक १५, नं० ३ (ग्रीष्म, १९६१), पृ० २८०-२९३.

६,५०० व्यक्तियों को (३,५०० पश्चिमी पाकिस्तान में तथा ३,००० पूर्वी पाकिस्तान में) ३१ दिसम्बर, १९६६ तक किसी भी निर्वाचित संस्था के लिए चुनाव लड़ने के निमित्त अयोग्य ठहरा दिया गया।

बुनियादी प्रजातंत्र स्थापित करने की योजना के अन्तर्गत पाकिस्तान में दिसम्बर, १९५९ में जो निर्वाचन कराये गये उनमें लगभग ६७ प्रतिशत पुरुषों तथा ४२ प्रतिशत स्त्रियों ने अपने मत प्रदान किये। निर्वाचित सदस्यों में १४ प्रतिशत विश्वविद्यालयों के स्नातक, ७८ प्रतिशत शिक्षित तथा ८ प्रतिशत अशिक्षित थे। निर्वाचित सदस्य देश के अन्तर्भाग से आये हुए थे, अधिकांश देश के मध्यवर्गीय एवं निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति—कृषक, वकील, चिकित्सक, व्यापारी, अवकाश-प्राप्त सरकारी कर्मचारी, कारीगर, श्रमिक आदि थे।

बुनियादी प्रजातन्त्र के अन्तर्गत स्थानीय सरकारों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया गया, जो क्रम से नीचे दी गई हैं—

(१) प्रान्तीय विकास-परिषदें
(Provincial Development Councils)
कुल संख्या २—(एक परिषद् पूर्वी पाकिस्तान में और एक परिषद् पश्चिमी पाकिस्तान में)
चेयरमैन—गवर्नर

|

(२) क्षेत्रीय परिषदें
(Divisional Councils)
कुल संख्या १५—(१३ पश्चिमी पाकिस्तान में तथा २ पूर्वी पाकिस्तान में)
चेयरमैन—प्रादेशिक कमिश्नर

|

(३) जिला परिषदें
(District Councils)
कुल संख्या ७६—(५९ पश्चिमी पाकिस्तान में तथा १७ पूर्वी पाकिस्तान में)
चेयरमैन—पश्चिमी पाकिस्तान में उपायुक्त, पूर्वी पाकिस्तान में जिलाधीश

|

(४) पश्चिमी पाकिस्तान में तहसील परिषदें
(Tehsil Councils)

पूर्वी पाकिस्तान में थाना परिषदें
(Thana Councils)
कुल संख्या ५९९—(१८७ पश्चिमी पाकिस्तान में तथा
४१२ पूर्वी पाकिस्तान में)
चेयरमैन—उपविभाग पदाधिकारी (S. D. O.)

(५) संघ-परिषदें
(Union Councils)
कुल संख्या ७,११७—(३,०६४ पश्चिमी पाकिस्तान में तथा
४,०५३ पूर्वी पाकिस्तान में)
चेयरमैन—निर्वाचित

इन परिषदों के अतिरिक्त सारे पाकिस्तान में १०८ नगरपालिकाएँ, ६२ छावनी परिषदें (Cantonment Boards), २१९ नगर परिषदें तथा ८८० संघ कमेटियाँ और स्थापित की गयीं।

जैसा ऊपर दी गई सारणी से स्पष्ट है, इस पाँच श्रेणी पद्धति (a five-tier system) में सबसे निम्न अथवा बुनियादी श्रेणी संघ-परिषद् (Union Council) की है। ग्रामों के प्रत्येक उस समूह के लिये, जिसकी जनसंख्या ४,००० और १५,००० (साधारणतः १०,००० के लगभग) के बीच हो, एक संघ-परिषद् का गठन होगा। परिषद् का प्रत्येक निर्वाचित सदस्य १,००० से लेकर १,५०० तक की जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करेगा। प्रत्येक संघ-परिषद् के दो-तिहाई सदस्य निर्वाचित होंगे तथा एक-तिहाई मनोनीत किये जायेंगे। मनोनीत सदस्यों में सरकारी कर्मचारी नहीं होंगे, अपितु इन्हें स्त्रियों, कृषक-मजदूरों तथा अन्य उन प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से, जो चुनाव आदि से अपने को दूर रखना चाहते हैं, नियुक्त किया जायेगा। मनोनीत करने की नीति यह थी कि तहसील और थाना स्तर के शिक्षा, पुलिस, सिंचाई, सार्वजनिक कार्य-निर्माता तथा राजस्व विभागों के अध्यक्ष अपनी ओर से उपायुक्तों (Deputy Commissioners) के नामों की सिफारिश करते थे। इस प्रकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को मनोनीत किया जाता था, जिन्हें अधिकारी वर्ग चाहता था। इस प्रकार के हस्तक्षेप का अर्थ था संघ-परिषदों के ऊपर, जो ग्रामीण स्तर पर स्थानीय सरकार की सबसे छोटी इकाइयाँ थीं, 'अधिकारी वर्ग का नियंत्रण'। नगर कमेटियों (नगरों में स्थानीय सरकार की

सबसे छोटी श्रेणी) मे, सम्भवत आलोचना के भय से, मनोनीत सदस्यो को रखने का विचार त्याग दिया गया, हालाँ कि सरकारी तर्क था कि, क्योकि नगरो मे शिक्षित व्यक्ति सरलता से इन परिषदो मे निर्वाचित हो सकेंगे, अत नगर-परिषदो मे मनोनीत सदस्य रखने की आवश्यकता नही। नगर-परिषदो को परिवार-नियोजन जैसे कार्य भी सौप दिये गये, *जबकि संघ-परिषदो (Union Councils)* को ऐसे कार्य नही सौपे गये थे। फिर भी सघ-परिषदें पाकिस्तान के बुनियादी प्रजातन्त्र की (कृषि-प्रधान देश होने के नाते) आधारशिला समझी गयी। संघ-परिषदो तथा जिला परिषदो को अनेक प्रकार के कर लगाने तथा उन्हें वसूल करने का भी अधिकार दिया गया, हालाँ कि इस अधिकार का उपयोग पूर्व सरकारी अनुमति के बिना नही किया जा सकता था।

सघ-परिषदो के ऊपर पूर्वी पाकिस्तान मे थाना परिषदें तथा पश्चिमी पाकि-स्तान मे तहसील परिषदें रखी गयी। थाना परिषद् मे आधे प्रतिनिधि सदस्य होते थे तथा आधे सरकारी कर्मचारी। ये प्रतिनिधि सदस्य सघ-परिषदो तथा नगर कमेटियो के अध्यक्ष होते थे। थाना तथा तहसील परिषदो के चेयरमैन उप-विभाग-पदाधिकारी (S. D. O.) होते थे। इन परिषदो का कार्य सघ तथा नगर-परिषदो के कार्यों को एकीकृत करना होना था।

थाना और तहसील परिषदो के ऊपर की श्रेणी मे जिला परिषदें रखी गयी। प्रत्येक जिला परिषद् के सदस्य होते थे—थाना तथा तहसील परिषदो के चेयरमैन, नगरपालिकाओ के चेयरमैन, छावनी परिषदो के उपाध्यक्ष तथा आयुक्त द्वारा नियुक्त सहकारी विभागो के प्रतिनिधि। इन सरकारी सदस्यो के अतिरिक्त कुछ गैर-सरकारी सदस्य भी होते थे, जैसे सघ तथा नगरपरिषदो के अध्यक्ष। जिला परिषदो को बहुत से अनिवार्य तथा लगभग ७० वैकल्पिक कार्य दिये गये थे। इन कार्यों में प्राथमिक शिक्षा तथा स्वास्थ्य की देखभाल से लेकर सास्कृतिक एवं सामाजिक प्रगति सम्बन्धी कार्य भी सम्मिलित रहते थे।

इनसे ऊपर की श्रेणी में आती थी प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय परिषदें। प्रत्येक प्रादेशिक परिषद् का अध्यक्ष होता था उस प्रदेश का आयुक्त। इन परिषदों के सदस्य होते थे—जिला परिषदो के अध्यक्ष, सरकारी विभागों, नगरपालिकाओं तथा छावनी बोर्डों के प्रतिनिधि सदस्य तथा इन सबकी संख्या के बराबर नियुक्त सदस्य। इन नियुक्त किये गये सदस्यो का २५ प्रतिशत भाग सघ-परिषदो के अध्यक्षो से बनता था। प्रादेशिक परिषदो के मुख्य कार्य थे जिला तथा स्थानीय परिषदो के कार्यों को एकीकृत करना, विकास परिषद् के लिए विकास सम्बन्धी

योजनाएँ प्रस्तुत करना तथा प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति का लेखाजोखा करना आदि।

स्तूप की अन्तिम कड़ी अथवा बुनियादी प्रजातन्त्र की अन्तिम श्रेणी थी प्रान्तीय विकास-परिषदों की। इन परिषदों की संख्या केवल दो थी—एक पश्चिमी पाकिस्तान में और एक पूर्वी पाकिस्तान में। प्रत्येक प्रान्तीय विकास-परिषद् के सदस्य होते थे प्रान्त के सरकारी विभागों के अध्यक्ष तथा प्रान्तीय गवर्नर की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त सदस्य।

बुनियादी प्रजातंत्र के अन्तर्गत प्रत्येक स्तर अथवा श्रेणी की परिषदों में सरकारी वर्ग की बहुतायत रखी गयी। संघ-परिषदों में भी एक-तिहाई सदस्यों को मनोनीत करते समय सरकारी अधिकारियों की रुचि का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण बुनियादी प्रजातंत्र कठोर सरकारी नियंत्रण अथवा संरक्षण (यदि उदार भाषा का प्रयोग किया जाय तो) में कार्य करेगा। यही कारण है कि इसे "बुनियादी प्रजातंत्र" के साथ साथ "संरक्षणात्मक लोकतंत्र" (Guided Democracy) भी कहा जाता है। परन्तु अयूब सरकार का तर्क था कि सरकारी अधिकारियों की उपस्थिति से निर्वाचित सदस्यों को भयभीत नहीं होना चाहिये, क्योंकि बुनियादी प्रजातन्त्र में सरकारी अधिकारी परिषदों में साधारण सदस्यों के रूप में बैठेंगे तथा उन्हें किसी भी प्रकार का कोई विशेषाधिकार नहीं होगा। यह तर्क सैद्धान्तिक रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सरकारी नियन्त्रण की सत्यता को स्वीकार करना ही होगा।

१९५९ के "बुनियादी प्रजातंत्रों" सम्बन्धी आदेश में पूर्व के ब्रिटिश संवैधानिक अधिनियमों की गंध आती है। आदेश की ७४वीं धारा का अवलोकन कीजिए :

स्थानीय परिषदों की कार्यवाहियों पर नियंत्रण :

१. यदि नियंत्रण अधिकारी (Controlling Authority) की दृष्टि में स्थानीय परिषद् द्वारा कोई भी किया गया अथवा किया जानेवाला कार्य संतोषप्रद नहीं दिखाई देता है अथवा वह देश के कानून के विपरीत प्रतीत होता है, तो उसे अधिकार होगा कि वह अपने आदेश से उसे समाप्त कर दे; संघ-परिषद् के किसी भी प्रस्ताव को क्रियान्वित होने से रोक दे; तथा संघ-परिषद् को दिशा-निर्देशन करे।

इतना ही नहीं, वरन् स्थानीय परिषदों को, सरकारी जाँच के पश्चात्, समाप्त भी किया जा सकता था।

जिला परिषदों तथा इनसे ऊपर की श्रेणी की परिषदों में, उनके विचित्र गठन के कारण (जिसके सम्बन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है) सरकारी अधिकारियों का प्रभाव स्पष्ट था। इन परिषदों की कार्यवाही तक अंग्रेजी भाषा में चलायी जाती थी, जिसे संघ तथा नगर-परिषदों में आनेवाले निर्वाचित सदस्य या तो समझते ही नहीं थे अथवा बहुत कम समझ पाते थे। प्रभावहीन होने के कारण वे इनमें बैठना भी पसन्द नहीं करते थे। और इस प्रकार स्थानीय समस्याओं पर भी सरकारी ढंग से विचार किया जाता था। जहां तक राष्ट्रीय स्तर की समस्याओं का प्रश्न था, उनके समाधान का पूर्ण उत्तरदायित्व अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित शक्तिशाली राष्ट्रपति तथा संसद् (जिसकी शक्तियां बहुत ही सीमित थी) को सौंप दिया गया था।

"बुनियादी प्रजातंत्र" के अन्तर्गत पाकिस्तान में वास्तविक स्थानीय सरकारों की स्थापना की जा सकती थी तथा जनता को स्थानीय समस्याओं पर विचार करने तथा उन्हें सुलझाने का पूरा पूरा अवसर प्रदान किया जा सकता था, परन्तु सरकारी वर्ग के अत्यधिक हस्तक्षेप के कारण बुनियादी प्रजातंत्र का लक्ष्य ही दूषित हो गया। सारी योजना राष्ट्रपति अयूब के कठोर नियंत्रण में कार्यान्वित की गयी तथा राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति अन्त में उन्हीं के (राष्ट्र और संविधान के संरक्षक के रूप में) हाथों में केन्द्रित हो गयी। इस प्रकार का लोकतंत्र न्यूनाधिक सैनिक अधिनायकवाद का दूसरा रूप होता है।

मोहम्मद अली जिन्ना :

पाकिस्तानी जनता मोहम्मद अली जिन्ना को कायदेआजम—एक महान् नेता—के रूप में जानती है। श्री जिन्ना पाकिस्तान के निर्माता थे। १९४७ में पाकिस्तान के निर्माण के बाद वे वहां के प्रथम गवर्नर जनरल बने, परन्तु अत्यधिक राजनीतिक कार्यभार के कारण उनका स्वास्थ्य गिरता गया और १३ महीने के पश्चात्, ११ सितम्बर, १९४८ को उनका देहावसान हो गया।

श्री जिन्ना एक उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ थे, फिर भी राजनीतिक जगत् में उनकी स्थिति अत्यन्त विवादग्रस्त रही। २०वीं शताब्दी के प्रथम एवं द्वितीय दशकों में उन्होंने भारत में दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता तथा गोखले जैसे राष्ट्रवादी नेताओं के साथ स्वतन्त्रता संग्राम में कार्य किया तथा बाद में वे मुस्लिम नेता के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुए। व्यक्तिगत जीवन में वे अत्यन्त उदार तथा विशाल हृदय एवं मस्तिष्क रखनेवाले व्यक्ति थे। राजनीतिक जगत् में वे अपनी तीक्ष्ण बुद्धि एवं दूरदर्शिता के लिए विख्यात थे। वे न केवल आधुनिक

मुस्लिम जगत् के निर्माताओं में गिने जाते थे, प्रत्युत सम्पूर्ण एशिया के राजनीतिज्ञों में उनका विशिष्ट स्थान था।

श्री जिन्ना का सभी प्रश्नों के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त व्यवस्थित (methodical) एवं व्यावहारिक था। कभी कभी उनके विरुद्ध यह कहा जाता था कि उनमें विनय की कमी है तथा उनका व्यवहार (राजनीतिक प्रश्नों पर) एकदम शुष्क एवं अनुदार होता है। संभवतः इसका कारण था उनका समस्याओं के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण तथा राजनीतिक प्रश्नों पर लिए गए (उनके द्वारा) निर्णयों के प्रति उनकी दृढ़ता। स्वभाव से अत्यन्त सरल, स्पष्टवादी, न्यायप्रिय तथा अन्य धर्मों एवं जातियों के प्रति उदार होते हुए भी वे कठोर अनुशासन के पक्षपाती थे। मुस्लिम लीग में अनुशासन लाने के हेतु उन्होंने समय समय पर कठोर नीतियाँ अपनाईं तथा अपने साथियों के विरुद्ध कार्यवाहियाँ भी कीं। वे कठोर अनुशासन-प्रिय थे, परन्तु उनकी सारी सख्ती एवं अनुशासन सार्वजनिक हित के लिए ही होते थे। श्री एम० एस० शर्मा ने, जो १९४८ के आरम्भ तक कराची (पाकिस्तान) में "डेली गजेट" (*Daily Gazette*) के सम्पादक थे, श्री जिन्ना के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक "पीप्स इन्टू पाकिस्तान"[1] (*Peeps into Pakistan*) में कुछ स्पष्टीकरण दिये हैं। यद्यपि श्री शर्मा पाकिस्तान के निर्माण तथा वहाँ की राजनीति के कट्टर विरोधी रहे हैं, तथापि श्री जिन्ना के पक्ष में उन्होंने कुछ बातें लिखी हैं जिनसे जिन्ना के राजनीतिक दृष्टिकोण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। श्री शर्मा के अनुसार जिन्ना की पहल पर ही पाकिस्तान में अल्पसंख्यक जातियों की रक्षा के हेतु एक संगठन (Minorities' Association) का निर्माण किया गया। पाकिस्तान के निर्माण के बाद श्री जिन्ना पाकिस्तान में अल्पसंख्यक हिन्दुओं के संरक्षक के रूप में कार्य करना चाहते थे। इस रूप में उन्होंने कुछ कार्य भी किया, परन्तु उनकी असमय मृत्यु के कारण उनका कार्य आगे न बढ़ सका।

श्री शर्मा की पुस्तक में श्री जिन्ना के सम्बन्ध में दिये गये विवरणों से तथा स्वयं श्री जिन्ना के भाषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जो कुछ भी कहते थे उसके ऊपर ईमानदारी से कार्य भी करते थे। पाकिस्तान में हिन्दुओं की रक्षा के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किये। जब पाकिस्तान के समाचारपत्र 'डॉन' (*Dawn*) ने भारत में मुसलमानों के ऊपर अत्याचार किये जाने के सम्बन्ध में झूठे लेख प्रका-

१. श्री शर्मा की पुस्तक के संदर्भ श्री एस० एम० इकराम द्वारा लिखी गयी पुस्तक "माडर्न मुस्लिम इन्डिया ऐण्ड दि बर्थ ऑफ पाकिस्तान" (लाहौर, मोहम्मद अशरफ ऐण्ड कम्पनी, १९६५) से लिए गये हैं। पृष्ठ, ३१३-३२६.

शित किये तो कायदे आजम जिन्ना ने श्री शर्मा को 'डॉन' के विरुद्ध लिखने को तथा सत्य को पाकिस्तान की जनता के सामने ठीक ढंग से प्रस्तुत करने को प्रोत्साहित किया। भारतीय सेनाओं के कश्मीर में तथा कुछ सिक्खों के पाकिस्तान में प्रवेश करने पर जब कराची तथा सम्पूर्ण पश्चिमी पाकिस्तान में हिन्दुओं के विरुद्ध हिंसा फैल गयी तथा हिन्दुओं की हत्या की जाने लगी, तो जिन्ना ने हिंसा को तत्काल दबा देने में तनिक भी ढील नहीं की। पाकिस्तान में हिन्दुओं पर किये गये अत्याचारों से उन्हें सबसे अधिक दु:ख हुआ। उन्होंने स्वयं कई हिन्दू शरणार्थी शिविरों का निरीक्षण किया तथा हिन्दुओं पर किये गये अत्याचारों को देखकर रो पड़े। इस सम्बन्ध में स्वयं श्री शर्मा के विचार देखिए "In fairness to Jinnah I must record that he was the most shocked individual in Pakistan. He visited the Hindu refugee camps and at least at one of them, the iron-man lost his nerve and shed a few tears."

कायदे आजम जिन्ना के मानवतावादी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए श्री जमशेद नोशीर वानजी, कराची के भूतपूर्व महापौर ने हेक्टर बोलिथो[1] (Hector Bolitho) को बताया कि "श्री जिन्ना अत्यधिक मानवतावादी थे। स्वभाव से कठोर होते हुए भी, अत्याचार को देखकर, उनकी आँखों में आँसू निकल आते थे। मैंने स्वयं उन्हें रोते हुए देखा। जनवरी, १९४८ में जब मैं उनके साथ एक हिन्दू शरणार्थी शिविर में गया तो मैंने उनकी (श्री जिन्ना की) आँखों में आँसू देखे": ("I beg you to believe that Mr. Jinnah was a humanitarian (sic) I saw him weep, in January, 1948, when I went with him to see an encampment of Hindus. When he saw their misery, he wept. I saw the tears on his cheek."[2])

१५ सितम्बर, १९४७ को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग परिषद् की कराची में बैठक हुई। इस बैठक में कायदे आजम जिन्ना ने मुस्लिम लीग की कार्यवाहियों की भर्त्सना की तथा उसे एक असाम्प्रदायिक राष्ट्रीय संस्था में परिवर्तित होकर काम करने के लिए अपने क्रान्तिकारी सुझाव रखे। इसके लिए उन्होंने भरसक

---

१. 'जिन्ना : क्रियेटर ऑफ पाकिस्तान' पुस्तक के लेखक, जिसका प्रकाशन १९५४ में जॉन मरे, लन्दन, से हुआ.

२. एम० एम० इकराम की उसी पुस्तक से उद्धृत.

प्रयत्न भी किये, परन्तु पाकिस्तान की जनता तथा मुस्लिम लीग के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण उनके प्रयास सफल न हो सके। श्री जिन्ना के विवेकपूर्ण, व्यावहारिक, निष्पक्ष, संतुलित तथा मानवीय दृष्टिकोण के सम्बन्ध में श्रीमती सरोजनी नायडू ने भी हेक्टर बोलिथो के समक्ष अपने विचार प्रकट किये। श्री जिन्ना के बारे में श्रीमती सरोजनी नायडू कहती हैं : "जीवन के मूल्यांकन एवं उनकी स्वीकृति में प्रधानतः विवेकी एवं व्यावहारिक, विचारशील एवं निष्पक्ष, उसकी लौकिक बुद्धि की स्थिरता एवं गाम्भीर्य के पीछे उनका अव्यक्त एवं विशाल आदर्शवाद झलकता है—एक ऐसा आदर्शवाद जो मानव जीवन का सार है"। ("...Pre-eminently rational and practical, discreet and dispassionate in his estimate and acceptance of life, the obvious sanity and serenity of his worldly wisdom effectually disguise a shy and splendid idealism which is the very essence of the man.")[1]

इन सारी विशेषताओं के रहते हुए भी इतिहास में कायदे आजम जिन्ना का स्थान उनके द्वारा पाकिस्तान के निर्माण के आधार पर ही आँका जायगा। पाकिस्तान के निर्माण की माँग तथा योजना श्री जिन्ना के मस्तिष्क में १९४६ के आरम्भ तक स्पष्ट नहीं थी। जैसा ऊपर इंगित किया जा चुका है, श्री जिन्ना भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के आरम्भिक काल में अखिल भारतीय कांग्रेस के साथ मिलकर कार्य करते रहे। प्रारम्भ में उनके राजनीतिक जीवन का उद्देश्य भारत में संवैधानिक प्रगति के मध्य आनेवाली रुकावटों को दूर करने के लिए प्रयत्न करना था। इस शताब्दी के दूसरे दशक में जब हिन्दू-मुसलमानों में मतभेद के कारण भारत की संवैधानिक प्रगति रुक गयी तो उन्होंने हिन्दू मुस्लिम समझौता कराने का भरसक प्रयास किया, जो लखनऊ समझौता के नाम से प्रसिद्ध है। इसके १५ वर्ष बाद (१९३०-३१ में) गोलमेज परिषद् में जब मुस्लिम प्रतिनिधियों ने यह निरन्तर आग्रह किया कि संवैधानिक प्रस्तावों पर तब तक आगे बात न की जाय जब तक मुसलमानों की माँगें पूर्ण रूप से स्वीकृत न कर ली जायँ, तो श्री जिन्ना ने बीच बचाव करते हुए यह तय कराया कि संवैधानिक प्रस्तावों पर इस शर्त के साथ विचार किया जा सकता है कि जब तक मुसलमानों की माँगों पर कोई संतोषप्रद समझौता नहीं हो जाता तब तक स्वीकृत संवैधानिक प्रस्तावों पर अमल न

---

१. 'एशियन पोलिटिकल सिस्टम्स', सम्पादित द्वारा बेट्टी बी० बर्च, अलान वी. कोल, डी० वेननोस्ट्रेण्ड कम्पनी, अमेरिका, १९६८, पृ० ३८५.

किया जाय। इस प्रकार श्री जिन्ना सदैव भारत में सर्वधानिक प्रगति के समस्त आनेवाली बाधाओं को किसी न किसी प्रकार हटाने का प्रयास करते रहे। उनका वास्तविक उद्देश्य भारत की प्रगति के मार्ग को प्रशस्त करना तथा मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा करना रहा। १२ मई, १९३९ को जब खलीकुज्जमाँ ने श्री जिन्ना के समक्ष पाकिस्तान के निर्माण का प्रस्ताव रखा, तो श्री जिन्ना ने कहा "क्या आपने उसके परिणामों पर विचार कर लिया है ?" उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए आगे कहा कि "वे पाकिस्तान की माँग के विरुद्ध नहीं हैं, परन्तु किसी भी ऐसी माँग को प्रस्तुत करने से पूर्व हमें उसके ऊपर सावधानीपूर्वक विचार कर लेना चाहिए।"[1] आगा खाँ इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि श्री जिन्ना १९४६ तक पाकिस्तान के सम्बन्ध में अपना मन निश्चित नहीं कर पाये थे। १९४६ के मध्य में केबिनेट मिशन योजना के बाद ही कायदे आजम ने, कांग्रेस द्वारा 'मिशन योजना' को स्वीकृत कर लेने तथा उसके मुख्य प्रबन्धों (Provisions) की भाषा को तोड़ने मरोड़ने पर ही (ऐसा मत आगा खाँ का है, पर इसमें सत्यांश बहुत कम है), पाकिस्तान के निर्माण के सम्बन्ध में अपना मत निश्चित किया।

गांधी जी और जिन्ना के विचारों में यद्यपि इस बात पर मतभेद था कि भारत की स्वाधीनता का क्या स्वरूप होना चाहिये, परन्तु जहाँ तक भारत को विदेशी शासन से मुक्त करने का प्रश्न था, उसपर दोनों के विचारों में पूर्ण समानता थी। गांधी जी का नारा था "भारत छोड़ो" ("Quit India") जब कि जिन्ना का नारा था "विभाजित करो और छोड़ो" ("Divide and Quit")। "भारत छोड़ो" शब्द दोनों को समान रूप से ग्राह्य थे। अन्तरिम सरकार में कांग्रेस और लीग दोनों ही दल एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे, परन्तु भारत की स्वाधीनता के प्रश्न पर दोनों एकमत थे। लॉर्ड इस्मे (Lord Ismay) ने हेक्टर बोलियो को भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए बताया कि ("भारत को शीघ्र स्वतन्त्रता दिये जाने का) एक अन्य कारण था। वायसराय की कार्यकारिणी परिषद्, जिसका छह या आठ बुद्धिमान व्यक्तियों को लेकर गठन होता था, अब समाप्त हो चुकी है। इसके स्थान पर अब जो केबिनेट गठित की गई है उसमें नौ कांग्रेसी तथा पाँच लीग के नेता हैं, जो केवल एक ही बात पर सहमत हो सकते हैं और वह यह कि ब्रिटिश सरकार को भारत छोड़ देना चाहिये।" ("There was another reason , the Viceroy's Executive Coun-

---

[1] एस० एम० इकराम की पुस्तक से उद्धृत.

cil, which had been composed of six or eight wise men, had disappeared. We had, instead, a Cabinet of nine Congress leaders and five Muslim League leaders, who could agree only on one thought—that the British should quit India."—Lord Ismay)[1]

कायदे आजम के विशेष गुण थे संयम, सद्भाव तथा सच्ची एवं विशुद्ध देश-भक्ति। भारत-विभाजन के समय उन्होंने भारत को उसके प्रति मित्रता की भावना रखते हुए छोड़ा। ७ अगस्त, १९४७ को अपने सन्देश में उन्होंने कहा कि "दो भारत मित्रों की भाँति सदैव की भाँति एक दूसरे से पृथक् हो रहे हैं।" यद्यपि भारत के विभाजन ने हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धों में और अधिक कटुता पैदा कर दी तथा भारत और पाकिस्तान में सर्वत्र साम्प्रदायिक दंगे और भी तेजी से भड़क उठे, तथापि श्री जिन्ना ने अत्यन्त शांति और सद्भाव से काम लिया। उन्होंने भारत के समक्ष, दोनों देशों की संयुक्त सुरक्षा की दृष्टि से तथा उनके बीच शान्ति एवं सद्भाव बनाये रखने के लिये, अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में एक साथ मिलकर कार्य करने का प्रस्ताव रखा। भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने शीघ्र ही उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, परन्तु कश्मीर समस्या के कारण दोनों देशों में सद्भावपूर्ण वातावरण न बन सका और इसके अभाव में श्री जिन्ना के प्रस्ताव को क्रियान्वित न किया जा सका। कायदे आजम जिन्ना और श्री जवाहरलाल नेहरू के देहावसान के बाद दोनों देशों के सम्बन्ध और अधिक बिगड़े हैं और जब तक कश्मीर समस्या का कोई स्थायी हल नहीं निकल आता तब तक इन सम्बन्धों में सुधार होना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

लियाकत अली खाँ :

लियाकत अली खाँ पाकिस्तान के प्रथम प्रधान मंत्री थे, जिन्होंने पहले कायदे आजम जिन्ना और उनकी मृत्यु के पश्चात् ख्वाजा नाजिमुद्दीन (पाकिस्तान के द्वितीय गवर्नर जनरल) के अधीन कार्य किया। श्री जिन्ना समस्याओं का समाधान तथा कार्यों को द्रुत गति से करने में विश्वास करते थे, परन्तु उनके विपरीत लियाकत अली कोई भी कार्य मन्द गति से तथा सावधानीपूर्वक करते थे। लियाकत अली बहुत ही धैर्यवान व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने प्रधान मंत्रित्व काल में (१४

---

१. "एशियन पॉलिटिकल सिस्टम्स", पृष्ठ ३८७.

अगस्त, १६४७ से लेकर अक्टूबर, १९५१ में उनकी हत्या की जाने तक) पाकिस्तान का आर्थिक एव राजनीतिक क्षेत्रों में सफल नेतृत्व किया । उन्होंने इग्लैण्ड और अमेरिका की यात्रा करके पाकिस्तान की प्रतिष्ठा को ऊपर उठाया तथा पाकिस्तान के भारत के साथ सम्बन्धों को, "नेहरू-लियाकत समझौता" (Nehru-Liaquat Pact") करके, सुधारने का प्रयास किया ।

लियाकत अली भारत की अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग दल के नेता थे तथा पाकिस्तान की स्थापना होने पर वहाँ के प्रथम प्रधान मन्त्री बने । यद्यपि, जब तक कायदे आजम जीवित थे, सभी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्नों के समाधान का अन्तिम उत्तरदायित्व उन्ही पर था, तथापि सभी निर्णयों को क्रियान्वित करने तथा कार्यकारिणी द्वारा उन्हें अन्तिम रूप देने का वास्तविक उत्तरदायित्व प्रधान मन्त्री के रूप में श्री लियाकत अली का ही था । कायदे आजम की मृत्यु के पश्चात् लियाकत अली को उनके उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार किया गया, परन्तु पाकिस्तान के निर्माता कायदे आजम की मृत्यु से होनेवाली क्षति की पूर्ति करना अत्यन्त कठिन कार्य था । कायदे आजम को पाकिस्तान में वीर पुरुष (Hero) का सम्मान दिया जाता था, उनका प्रत्येक शब्द पाकिस्तानी जनता के लिए अन्तिम आदेश के समान था । किसी में भी उनके आदेशों के विरुद्ध कार्य करने का साहस नही था । लियाकत अली की स्थिति कायदे आजम की स्थिति से पूर्णत भिन्न थी । वे प्रधान मन्त्री अवश्य थे, परन्तु उन्हे राष्ट्रपिता को पदवी से (जो कायदे आजम को प्राप्त थी) विभूषित नही किया जा सकता था । अत पाकिस्तानी जनता का हृदय जीतने के लिए उन्हे अपने समस्त गुणों को प्रकाशित करना था तथा अपनी विशेष योग्यता का परिचय अपने कार्यों द्वारा देना था । इग्लैण्ड तथा अमेरिका के अनेक समाचारपत्रों ने श्री लियाकत अली की योग्यता पर अविश्वास करते हुए लिखा कि जिस घर का (पाकिस्तान का) कायदे आजम ने अपने प्रयत्नों से निर्माण किया, वह उनके अभाव में शीघ्र ही धराशायी हो जायेगा । कायदे आजम की मृत्यु के समय भारत में हैदराबाद राज्य ने भारत की सेनाओ के आगे आत्मसमर्पण कर दिया । इससे प्रधान मन्त्री श्री लियाकत अली की स्थिति और अधिक अस्थिर हो गयी तथा उनकी कठिनाइयों में वृद्धि हो गयी । परन्तु लियाकत अली ने अपनी योग्यता से इन कठिनाइयों पर अन्त में विजय पा ली, जिसकी पश्चिमी आलोचकों ने काफी सराहना की । एक विदेशी वामपक्षीय आलोचक ने, उनकी श्री नेहरू तथा कायदे आजम से तुलना करते हुए, कहा "यद्यपि इनमें (लियाकत अली में) जन-नेता बनने की विशेषताओं का अभाव है, फिर भी वे अपनी प्रशासनिक योग्यता

के द्वारा इनमें से किसी भी व्यक्ति से श्रेष्ठतर हो गये हैं।"[1] "मैनचेस्टर गार्जियन" ने अपने एक अग्रलेख में लियाकत अली के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा, "....लगभग तीन वर्ष से वे अपनी वर्तमान श्रेष्ठ स्थिति का निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील थे। लियाकत अली में साहस, मानवता, व्यावहारिक आदर्शवाद तथा अपने राजनीतिक साथियों से व्यवहार करने का चातुर्य आदि ऐसे विशिष्ट गुण विद्यमान हैं, जिनके बल पर वे पाकिस्तान की समस्याओं से संघर्ष करने में सक्षम दिखाई देते हैं। उनके धैर्यपूर्वक कार्य की अब संसार में सराहना की जा रही है। वे अब राष्ट्रीय स्तर के नेता के स्थान पर अन्तरराष्ट्रीय स्तर के नेता माने जाने लगे हैं।"[2]

लियाकत अली के सफल नेतृत्व के कारण कायदे आजम की मृत्यु के पश्चात्, पाकिस्तान में, किसी प्रकार की कोई राजनीतिक अथवा प्रशासनिक अव्यवस्था न हो सकी और देश धीरे धीरे प्रगति एवं निर्माण की ओर आगे बढ़ता गया। पाकिस्तान को उस समय सबसे कठिन आर्थिक परीक्षा में से होकर गुजरना पड़ा जिस समय, पाउन्ड के अवमूल्यन के पश्चात्, स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में पाकिस्तान को छोड़कर प्रायः सभी देशों ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया। पाकिस्तान के बाहर अधिकांश लोगों का मत था कि पाकिस्तान अधिक समय तक अपने निर्णय पर टिक नहीं सकता तथा शीघ्र ही उसे भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ेगा। पाकिस्तान को अपने निर्णय के कारण आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। भारत ने, जिसके ऊपर पाकिस्तान अपने कोयले की पूर्ति के लिए निर्भर रहता था, तथा जहाँ वह जूट तथा रुई आदि अपनी प्रमुख उपजों का निर्यात करता था, उसकी मुद्रा (पाकिस्तान के रुपये की विनिमय दर पर) को आगे स्वीकार करना बन्द कर दिया। इससे भारत तथा पाकिस्तान के मध्य आर्थिक युद्ध छिड़ गया, जो एक वर्ष तक चलता रहा। पाकिस्तान को बहुत त्याग करना पड़ा। आयात और निर्यात के लिए नये बाजार खोजने पड़े। कोयले के लिए उसे अन्य देशों पर (भारत के स्थान पर) निर्भर होना पड़ा। अन्त में, २५ जनवरी, १९५१ को पाकिस्तानी रुपये के सम-मूल्य (Par-value) को भारत ने स्वीकार कर लिया, तथा १७ महीने पुराना व्यापारिक गतिरोध समाप्त हो गया। राजनीतिक स्वाधीनता के लगभग ३½ वर्ष बाद पाकिस्तान को वाणिज्य के क्षेत्रों में भी स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। यद्यपि भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापारिक सम्बन्ध पुनः

१. "एशियन पोलिटिकल सिस्टम्स," पृष्ठ ३९०.
२. उसी स्थल से.

स्थापित हो गये, तथापि "शीत युद्ध" के परिणामस्वरूप पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति पहले से कहीं अधिक सुदृढ़ हो गयी।

कायदे आजम जिन्ना पाकिस्तान में राजनीतिक जीवन के स्तर को ऊपर उठाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। इसके लिए वे शक्तिशाली प्रान्तीय मुख्य मन्त्री के विरुद्ध भी कार्य करने से नहीं हिचके और उसे उसके पद से हटा दिया, क्योंकि उसके विरुद्ध कुशासन एवं पक्षपात के आरोप थे। देश में राजनीतिक जीवन को शुद्ध करने की दृष्टि से कायदे आजम ने, पाकिस्तान के निर्माण के एक वर्ष के अन्दर ही, एक "भ्रष्टाचार-विरोधी अधिनियम" ("Anti-Corruption Act") का निर्माण किया तथा उसे कार्यान्वित कराने के लिए उचित कार्यवाही की। लियाकत अली ने इस राजनीति में शुद्धीकरण की नीति का कठोरता से अनुसरण किया। यद्यपि इस नीति के कारण लियाकत अली के अनेक शत्रु बन गये, तथापि इसकी चिन्ता किये बिना वे ईमानदारी से इस नीति का पालन करते रहे तथा देश को एक शुद्ध एवं स्वस्थ प्रशासन दिया।

कायदे आजम की मृत्यु के पश्चात् पाकिस्तान में सबसे बड़ी समस्या आधुनिक एवं परम्परागत विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित कराने की थी। यह समस्या प्रायः सभी मुस्लिम राष्ट्रों के समक्ष रही है, जिसका निराकरण प्रत्येक राष्ट्र ने अपने ढंग से करने का प्रयास किया है, जैसे, यदि तुर्की ने धर्मनिरपेक्षतावाद को स्वीकार किया है तो सऊदी अरब ने अति-परम्परावाद को। पाकिस्तान में मौलाना मौदूदी तथा जमाते-इस्लामी की कार्यवाहियों के कारण इस समस्या ने एक उग्र राजनीतिक रूप धारण कर लिया। मौलाना मौदूदी ने, जो एक समय "अल-जमीअत" ('Al-jamiat') के सम्पादक थे, अपनी पुस्तक "तर्जमन-उल-कुरान" ("Tarjaman-ul-Quran") में, जिसे उन्होंने भारत विभाजन से पूर्व लिखा था, हुकूमत-ए-इलाहिया (Hakumat-i-Ilahia) स्थापित करने की दलील दी। यद्यपि मुस्लिम लीग और उसके नेतृत्व से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था, तथापि वे पाकिस्तान को इस्लाम धर्म के नियमों के अनुसार व्यवस्थित करने की हिमायत करते थे। मौलाना और उनकी संस्था ने ब्रिटिश शासनकाल से प्रचलित दण्ड-संहिता तथा अन्य अधिनियमों को इस्लामिक कानून में बदले जाने के लिए आन्दोलन चलाया। उनका कहना था कि पाकिस्तानी अथवा मुस्लिम संसद् को ऐसे किसी भी नियम का निर्माण करने का अधिकार नहीं है जो कुरान की भावना एवं उसके नियमों के विरुद्ध हो। अप्रैल, १९४८ में "डॉन" के प्रतिनिधि को दी गयी एक भेंट में उन्होंने पाकिस्तान की संविधान-सभा के समक्ष चार माँगें रखी, जो इस प्रकार थी :

१. ईश्वर की प्रभुसत्ता को स्वीकार करना (प्रजातंत्र में जनता की प्रभुसत्ता के स्थान पर) ।
२. शरियत को संविधान के आधार के रूप में स्वीकार करना ।
३. इस्लाम-विरोधी नियमों का संशोधन करना तथा शरियत के विरुद्ध नियम न बनाने का विश्वास दिलाना एवं ।
४. पाकिस्तानी सरकार द्वारा शरियत की सीमाओं के अन्तर्गत अपनी शक्ति का प्रयोग किया जाना ।

पाकिस्तान की लीगी सरकार ने मौलाना मौदूदी और उसके दल के, विभाजन से पूर्व, लीग के प्रति दृष्टिकोण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया । इसके विपरीत, पाकिस्तान की सरकार ने जमात-ए-इस्लामी तथा मौलाना के द्वारा शरणार्थियों की देखभाल करने में सरकार को दिये गये सहयोग की सराहना की । मौलाना को आकाशवाणी, पाकिस्तान द्वारा भाषण देने के लिए कई बार आमंत्रित किया गया । लेकिन शीघ्र ही मौलाना के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से सरकार चिन्तित हो उठी । मौलाना ने सरकारी कर्मचारियों को परामर्श दिया कि वे पश्चिमी पंजाब की सरकार द्वारा माँगे जानेवाले प्रतिज्ञापत्र पर तब तक हस्ताक्षर न करें जब तक सरकार इस्लामिक न बन जाय । उन्होंने कश्मीर में लड़े जानेवाले युद्ध को भी, पाकिस्तान की भारत के साथ संधियों को देखते हुए, जेहाद (*Jehad*) कहने से इनकार कर दिया । इसपर मौलाना की पाकिस्तान के समाचारपत्रों द्वारा कटु आलोचना की गई । पंजाब सरकार ने "पंजाब सार्वजनिक सुरक्षा कानून" के अन्तर्गत मौलाना को अक्टूबर, १९४८ में बन्दी बना लिया । इसके कुछ समय पश्चात्, पाकिस्तान की संविधान-सभा के समक्ष उन सिद्धान्तों के निर्माण का प्रश्न उपस्थित हुआ जिनके ऊपर पाकिस्तान के संविधान की रचना की जानी थी । श्री लियाकत अली ने यह स्पष्ट करते हुए कहा कि यद्यपि उनकी सरकार मौलाना मौदूदी के पाकिस्तान के भविष्य सम्बन्धी विचारों से सहमत नहीं है, तथापि वे जनता को उसके इच्छानुसार संविधान देने के लिए व्रतसंकल्प हैं । ७ मार्च, १९४९ को उन्होंने पाकिस्तान की संविधान सभा में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसे 'उद्देश्य प्रस्ताव' के नाम से जाना जाता है ।

यह 'उद्देश्य प्रस्ताव' एक छोटा-सा अभिलेख था, परन्तु उसके महत्व को उन विवादों की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है जिन्हें इसने सुलझाने का प्रयास किया । जमात-ए-इस्लामी, जिसने पाकिस्तान में इस्लामी राज्य की स्थापना के लिए प्रचार किया, का प्रधान तर्क था कि प्रभुसत्ता एकमात्र अल्लाह में ही निहित

है तथा संसद् को केवल दैवी नियमों अथवा आदेशों की व्याख्या करने तथा उनके संदर्भ में कार्य करने का अधिकार है। जमात-ए-इस्लामी के अनुसार संसद् को किसी भी प्रकार के नवीन नियम बनाने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। 'उद्देश्य प्रस्ताव' ने पारस्परिक विरोधी दृष्टिकोणों में समझौता स्थापित करने का प्रयास करते हुए कहा कि अन्तिम शक्ति निश्चित ही अल्लाह के पास है, पर वह (अल्लाह) अपनी शक्ति का प्रयोग प्रभुसत्ता-सम्पन्न स्वतन्त्र पाकिस्तानी राज्य द्वारा करता है। तथा पाकिस्तानी जनता को अल्लाह के प्रतिनिधि के रूप में, उसके द्वारा (अल्लाह द्वारा) निश्चित की गई सीमाओं के अन्तर्गत रहकर, कार्य करने का अधिकार है। इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' ने संसद् को, केवल उन नियमों को छोड़कर जो कुरान एवं सुन्नाह के विरुद्ध हो, अन्य सभी प्रकार के नियमों का निर्माण करने का अधिकार प्रदान कर दिया। संसद् को एक बात का विशेष ध्यान रखना होगा, और वह यह कि ये नियम स्वरूप इस्लामिक नियमों के अनुसार, मुस्लिम समाज की परम्पराओं एवं आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर, बनाये जाएँगे।

जमात-ए-इस्लामी की दूसरी माँग थी कि पाकिस्तान को विधिवत् अपने को इस्लामी राज्य घोषित कर देना चाहिये। यद्यपि 'उद्देश्य प्रस्ताव' में इस प्रकार की माँग को स्वीकार नहीं किया गया, तथापि १९४९ के 'उद्देश्य प्रस्ताव' में, ही सन् १९५६ में, एक नवीन धारा जोड़ दी गई (इसे १९६२ के संविधान में भी प्रस्तावना के रूप में सुरक्षित रखा गया), जिसके अनुसार यह घोषित किया गया कि "पाकिस्तान सामाजिक न्याय के इस्लामिक सिद्धान्तों पर आधारित एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य होगा।"

इस्लामी राज्य के पक्ष में बोलनेवालों की एक आवश्यक माँग यह भी थी कि पाकिस्तान के मुसलमानों को कुरान एवं सुन्नाह के उपदेशों के अनुसार जीवन-यापन करने के लिये बाध्य किया जाय। "उद्देश्य प्रस्ताव" में एक प्रासंगिक प्रबंध यह था कि "पाकिस्तान के मुसलमानों को व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से, पवित्र कुरान एवं सुन्नाह द्वारा बनाये गये इस्लाम धर्म के उपदेशों के अनुसार, अपने जीवन को व्यवस्थित करने के योग्य बनाया जायेगा।" इस प्रबन्ध में "बाध्य करते" (compulsion) के स्थान पर "योग्य बनाना" अथवा सामर्थ्य पैदा करना (enabled) रखा गया है। "उद्देश्य प्रस्ताव" का वास्तविक प्रयोजन था कि यद्यपि पाकिस्तान को पूर्वकालीन सऊदी अरब अथवा यमन की भाँति धर्म-प्रधान तथा मध्य-युगीन राज्य न होकर आधुनिक एवं प्रगतिशील राज्य के रूप में विकसित होना चाहिये, तथापि जनता के इस्लामिक सामाजिक व्यवस्था के स्वप्न को क्रियान्वित करने की दिशा में प्रयत्न किये जाने चाहिये। १९५६ तथा १९६२

के संविधानों का दृष्टिकोण भी यही था। "बाध्य करने" ('compulsion') सम्बन्धी विचार को प्रासंगिक प्रबन्ध (relevant provision) से निकाल देने पर भी संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों द्वारा पाकिस्तानी जनता को कुरान एवं सुन्नाह के अनुसार अपने जीवन को व्यवस्थित करने तथा इस्लामी शिक्षा एवं सिद्धान्तों का प्रसार करने के निमित्त व्यवस्था कर दी गयी। इस प्रकार "उद्देश्य प्रस्ताव" द्वारा पाकिस्तान में विवादास्पद स्थिति को सुलझाने का प्रयत्न किया गया और अपने इस प्रयत्न में प्रधान मंत्री श्री लियाकत अली ने पूर्ण सफलता प्राप्त की।

श्री लियाकत अली के नेतृत्व में पाकिस्तान ने संवैधानिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति की तथा पूर्व की यह धारणा कि जिस पाकिस्तानी महल का कायदे आजम द्वारा निर्माण किया गया वह उनकी मृत्यु के पश्चात् ढह जायेगा, निर्मूल सिद्ध हुई। लियाकत अली ने पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने तथा उसके गौरव को ऊपर उठाने का भरसक प्रयास किया। मार्च, १९५० में उन्होंने अमेरिका की यात्रा की तथा जो भी उनके सम्पर्क में आया, उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ। अन्तरराष्ट्रीय जगत् में उन्हें कायदे आजम का योग्य उत्तराधिकारी समझा गया।

परन्तु १९५० में पाकिस्तान में संवैधानिक विरोध उठ खड़ा हुआ। सितम्बर, १९५० में प्रधान मंत्री श्री लियाकत अली ने संविधान सभा के सम्मुख "मूलभूत सिद्धान्त समिति" ("Basic Principles Committee") की अन्तरिम रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसका पाकिस्तान में अत्यधिक विरोध हुआ। इस संवैधानिक गत्यावरोध से लियाकत अली की राजनैतिक प्रतिष्ठा को बहुत बड़ा आघात लगा तथा उन्हें इससे बहुत अधिक निराशा हुई। संभवतः वे शीघ्र ही इस समस्या का कोई उचित समाधान निकाल लेते, परन्तु १६ अक्टूबर, १९५१ को उनकी गोली मारकर हत्या कर दी गयी। इससे पाकिस्तान को गहरा आघात पहुँचा और उसके ऊपर राजनैतिक संकट मँडराने लगा।

अध्याय ३

लंका

श्री लंका भारत के दक्षिणी थल-बिन्दु के समीप एक छोटे आकार का द्वीप है, जो भारत के साथ सांस्कृतिक आधारों पर अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। हिन्द महासागर में भारत के समीप होने के कारण इसका सैनिक महत्व बहुत पहले से ही स्वीकार किया जाता रहा। इस द्वीप का क्षेत्रफल लगभग २५,३३२ वर्गमील तथा जनसंख्या (१९६३ की जनगणना के अनुसार) १,०७,२४,५०७ है। इसके तट प्रदेश की लम्बाई लगभग ६०० मील है।

राजनीतिक सत्ता-परिवर्तन :

१८०२ में श्री लंका डच (हॉलैंड) साम्राज्यवाद से निकलकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्तर्गत आ गया। १९वीं शताब्दी में राजनीतिक तथा संवैधानिक विकास की दृष्टि से श्री लंका में कोई विशेष घटना नहीं हुई। भारत की अपेक्षा वहाँ का आन्तरिक राजनीतिक जीवन कहीं अधिक शान्त रहा। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में भी वहाँ इतनी राजनीतिक हलचल नहीं देखी गई, जितनी की भारत में। फिर भी भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन तथा भारत में संवैधानिक प्रगति से प्रेरणा ग्रहण कर श्री लंका के मध्य-वर्गीय लोगों ने वहाँ की ब्रिटिश सरकार में लंकावासियों को अधिक प्रतिनिधित्व दिये जाने की माँग रखी। परिणामस्वरूप १९२० तथा १९२४ में ब्रिटिश सरकार द्वारा दो संवैधानिक सुधार किये गये, जिनके द्वारा श्री लंका की विधान-परिषद् में लंका निवासियों का बहुमत स्थापित हो गया। परन्तु इससे लंकावासियों को सन्तोष नहीं हुआ। १९२८ में ब्रिटिश सरकार ने एक 'रॉयल कमीशन' की नियुक्ति की, जिसने राजनीतिक एवं संवैधानिक क्षेत्रों में कुछ और अधिक सुधार करने के सुझाव दिये जिन्हें १९३१ में कार्यान्वित कर दिया गया। लेकिन भारतीय नेताओं की भाँति अब श्री लंका के नेताओं ने भी अपने देश की पूर्ण

स्वाधीनता के लिए संघर्ष करना आरम्भ कर दिया था। १९४५ में समस्या का उचित राजनीतिक हल खोजने की दृष्टि से, एक अन्य 'रायल कमीशन' की नियुक्ति की गई। अक्टूबर, १९४७ में श्री लंका को स्वाधीनता प्रदान किये जाने की ब्रिटिश सरकार ने घोषणा कर दी। १३ नवम्बर, १९४७ को ब्रिटिश संसद् में श्री लंका को स्वाधीनता प्रदान करने के सम्बन्ध में बिल प्रस्तुत किया गया जो चार सप्ताह के अन्तर ही दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया। इस प्रकार लगभग १४९ वर्षों बाद श्री लंका को ब्रिटिश साम्राज्यवाद से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। ४ फरवरी, १९४८ को ब्रिटिश सरकार द्वारा उसे औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) प्रदान कर दिया गया।

श्री लंका की स्वतन्त्रता के पश्चात् यहाँ के प्रथम प्रधान मंत्री श्री सेनानायके बने, जिन्होंने देश की आर्थिक प्रगति के लिए पश्चिम के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित किये। श्री डडले सेनानायके लंका के संयुक्त राष्ट्रवादी दल (United Nationalist Party) के नेता थे। १९५३ में उनके स्थान पर सर जॉन कोटलेवाला लंका के प्रधान मन्त्री बने। श्री कोटलेवाला के नेतृत्व में श्री लंका के पश्चिम के साथ और भी निकट के सम्बन्ध स्थापित हुए। उन्होंने १९५५ के बांडुंग सम्मेलन में महत्वपूर्ण भाग लिया तथा पश्चिम के प्रवक्ता की भूमिका अदा की। एशियाई देशों के और भी अनेक सम्मेलनों में उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति की। इन सभी सम्मेलनों में श्री लंका ने एशिया की आध्यात्मिकता और प्रजातांत्रिक व्यवस्था में अपनी गहरी आस्था प्रकट करते हुए सैनिक गुटबन्दी को बुरा बतलाया और यह स्पष्ट कर दिया कि वह केवल आर्थिक सहायता को पसन्द करता है, यदि उसके पीछे कोई बन्धन न हो।

अप्रैल, १९५६ में लंका के आम चुनाव हुए, जिसमें 'पीपुल्स फ्रन्ट' की विजय हुई और उसके नेता श्री भंडारनायके प्रधान मन्त्री बने। उन्होंने जुलाई, १९५६ में ब्रिटिश सरकार से श्री लंका को एक गणराज्य के रूप में राष्ट्रमण्डल में सम्मिलित करने के लिए प्रार्थना की, जिसे स्वीकार कर लिया गया। श्री भंडारनायके ने लंका की तटस्थतावादी नीति को और भी अधिक निखारा तथा ब्रिटेन को इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वह ट्रिंकोमली तथा काटूनायके से अपने सैनिक-अड्डे हटाये। यह माँग लन्दन के प्रति किसी प्रकार की शत्रुता की द्योतक न होकर, श्री लंका की 'शक्ति-गुटों' से असंलग्नता की नीति का ही एक अंग थी। २५ सितम्बर, १९५९ को श्री भंडारनायके की एक बौद्ध भिक्षु द्वारा हत्या कर दी गयी, जिससे देश में एक गम्भीर राजनीतिक संकट पैदा हो गया।

१७ मार्च, १९६० को दूसरी बार आम चुनाव हुए, जिनमें संयुक्त राष्ट्रीय दल

को सफलता मिली और उसके नेता श्री डडले सेनानायके ने पुन. मन्त्रिमण्डल बनाया, परन्तु शीघ्र ही उनके मन्त्रिमण्डल को अविश्वास प्रस्ताव का शिकार होना पडा। जुलाई, १९६० मे पुन चुनाव हुए जिसमे फ्रीडम पार्टी ने अधिकाश सीटो पर विजय प्राप्त की और इस दल की नेता श्रीमती सिरिमावो भडारनायके (स्वर्गीय श्री भडारनायके की पत्नी) ने प्रधान मत्री पद ग्रहण किया। वे दिसम्बर, १९६४ तक बडी कुशलतापूर्वक शासन का सचालन करती रही।

श्रीमती भडारनायके ससार की प्रथम महिला प्रधान मन्त्री बनी। इस विदुषी महिला ने अपने शासनकाल मे अनेक क्रान्तिकारी कदम उठाये, जिनका श्री लका के अनेक वर्गो मे विरोध किया गया और सरकार का तख्ता पलटने के लिये कई असफल प्रयत्न किये गये। श्रीमती भडारनायके ने भारत-चीन सीमा-विवाद पर तटस्थ देशो के "कोलम्बो-सम्मेलन" का आयोजन किया तथा सम्मेलन द्वारा पारित "कोलम्बो-प्रस्तावो" को लेकर स्वयं पीकिंग और नई दिल्ली की यात्रा की।

श्रीमती भडारनायके की नीतियाँ तथा प्रशासन वामपथ की ओर झुके हुए थे और इसी कारण श्री लका के दक्षिण-पंथी वर्गों ने उनका विरोध किया। श्रीमती भंडारनायके ने अपने शासनकाल मे अमेरिकन तेल कम्पनियो के विरुद्ध राष्ट्रीयकरण के कदम उठाये और इस सम्बन्ध मे पश्चिमी राष्ट्रो के तीव्र दबाव का दृढतापूर्वक विरोध किया। श्री लका की "एस्सो" (Esso) तथा कॉल्टैक्स (Caltax) तेल कम्पनियो के राष्ट्रीयकरण के कदमो से विमुख करने मे असफल होकर सयुक्त राज्य अमेरिका ने लका की आर्थिक सहायता देने के अपने वायदे से फिर जाने का निश्चय किया, किन्तु इससे श्री लका की अर्थ-व्यवस्था पर कोई विपरीत प्रभाव नही पड़ा, क्योकि विदेशी तेल कम्पनियो के राष्ट्रीयकरण की उसकी नीति ने अमेरिका द्वारा दी जानेवाली आर्थिक सहायता की तुलना मे उसे कही अधिक लाभ पहुँचाया। श्रीमती भंडारनायके ने विदेशो की पूँजी की अपेक्षा अपने देश की पूँजी को अधिक विकसित करने की ओर ध्यान दिया तथा देश मे पूँजीवादी मनोवृत्ति पर रोक लगाने एवं लोगो के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की दिशा में भरसक प्रयत्न किये।

लेकिन अनेक सफलताओ के बावजूद अपने उग्र एवं क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के कारण १९६५ के आम चुनावो में श्रीमती भंडारनायके पराजित हुई और उनके स्थान पर मार्च, १९६५ में श्री डडले सेनानायके लका के प्रधान मन्त्री बने। श्री सेनानायके ने श्री लंका की परम्परागत नीति का अनुसरण किया। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे उन्होने तटस्थतावादी नीति को ही आगे बढाया तथा श्रीमती भंडारनायके के शासनकाल मे जो उसमें थोड़ा सा साम्यवाद की ओर झुकाव पैदा हो गया था वह

श्री सेनानायके के काल में समाप्त हो गया। उनके निष्पक्ष एवं न्यायसंगत दृष्टिकोण का पूर्ण आभास इसी से ही हो जाता है कि उन्होंने पद ग्रहण करने के तुरन्त बाद अपने एक वक्तव्य में भारत-चीन सीमा-विवाद में भारत के न्यायोचित पक्ष का पूर्ण समर्थन किया तथा चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने एवं कोलम्बो प्रस्तावों को न मानने के कारण उसकी तीव्र निन्दा की।

आर्थिक क्षेत्र में श्री सेनानायके की नीतियाँ परम्परागत होती हुई भी बहुत कुछ प्रतिक्रियावादी थीं। उन्होंने सत्ता सँभालते ही निजी उद्योगों को बढ़ावा देने तथा देश में विदेशी पूँजी को आकर्षित करने की ओर अपना ध्यान दिया। उन्होंने उन पश्चिमी तेल कम्पनियों को भारतीय मुआवजा देना स्वीकार कर लिया जिनकी सम्पत्ति का श्रीमती भंडारनायके की भूतपूर्व सरकार ने राष्ट्रीयकरण कर दिया था। अंधाधुंध मुनाफा बटोरने पर से प्रतिबन्ध उठा लिया गया। फलतः राजकीय क्षेत्र की कार्य-सीमा निजी क्षेत्र को बनाने-सँवारने और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित रह गयी। साथ ही जीवनयापन के खर्च में बढ़ोत्तरी होती गयी तथा देश में बेरोजगारी बढ़ गयी। इस वर्ष (१९७०) के प्रारम्भ तक बेरोजगारों की संख्या ६,००,००० (छह लाख) तक पहुँच गयी। नियन्त्रित दर पर बिकनेवाले चावल की मात्रा में आधे की कटौती कर दी गयी। इससे काले बाजार में कीमतें आसमान पर पहुँच गयीं तथा मेहनतकश जनता को गहरा आघात पहुँचा। परिणामतः मार्च, १९७० में होनेवाले आम चुनावों में उनके सेनानायके की सरकार गिर गई। उनके दल की पराजय होने पर संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी, जिसका नेतृत्व श्रीमती सिरिमावो भंडारनायके को प्राप्त हुआ।

लंका वामपंथ की ओर :

संयुक्त मोर्चे में तीन दल सम्मिलित हैं—श्रीमती भंडारनायके की 'श्री लंका फ्रीडम पार्टी' तथा दो वामपंथी दल—'ट्रॉटस्कीवादी लंका सम समाज पार्टी' (Trotskyite Lanka Sama Samaj Party) एवं मास्को की ओर झुकी 'साम्यवादी पार्टी' (Moscow Oriented Communist Party)। संयुक्त मोर्चे की सरकार से लंका की आम जनता को बहुत-सी आशाएँ हैं।

श्रीमती भंडारनायके स्वभाव से वामपंथी हैं। यह बात उनके पूर्व के शासन-काल से भी स्पष्ट हो चुकी है। १९७० के निर्वाचन के पश्चात् पुनः श्री लंका ने, श्रीमती भंडारनायके के नेतृत्व में, वामपंथ की दिशा ग्रहण कर ली तथा सिरिमावो सरकार द्वारा घोषित नीतियाँ यह बताती हैं कि इस बार पहले से कहीं अधिक व्यापक वामपंथी स्थिति ग्रहण की है।

ऐसा माना जाता है कि श्री सेनानायके की सरकार ने अपनी प्रतिक्रियावादी नीति से लंका की गरीब जनता मे असतोष पैदा कर दिया था। लंका मे हुए चुनावो के परिणामो ने यह स्पष्ट कर दिया कि ग्रामीण एव शहरी धनिक वर्ग की सुविधाओ की रक्षा करने एव आबादी के अपार बहुमत के हितों की उपेक्षा करने-वाली सेनानायके सरकार की नीति के प्रति वहाँ के मतदाताओ में गहरा असतोष था। सेनानायके की सरकार ने किसानों के बहुमत के हितो से सबधित भूमि-सुधार द्वारा इस खाद्य-सकट को हल करने का प्रयास न करके "हरी क्रान्ति" ("Green Revolution") नामक उपाय काम मे लिया, जो व्यवहार रूप मे केवल बडे किसानो के हित के लिए थी। 'हरी क्रान्ति' के लिए निर्मित विशाल विनियोजन किसान जनता तक कभी नही पहुँचे, उनमे से अधिकाश ने तो एक एकड मे अधिक खेत जोता ही नही। सयुक्त मोर्चा पार्टियो के प्रवक्ताओ ने चुनाव प्रचार के मध्य ठीक ही सकेत किया था कि जब तक आमूल परिवर्तनवादी भूमि सुधार कार्यक्रम अमल मे नही लाया जायेगा, तब तक यह 'हरी क्रान्ति' धनिक किसानो को और धनिक तथा गरीब किसानों को पहले से अधिक गरीब बनाती रहेगी। चुनाव समीप आने के दिनो मे कोई यह भी देख सकता था कि गाँवो मे बडी आयुवाले लोग प्रदर्शन की मुद्रा मे अपनी हरी कमीजें (हरा रंग सेनानायके की पार्टी का था) निकाल बाहर फेंक रहे थे और किसान महिलाएँ, जिनमे मेट्रन भी सम्मिलित थी, लंका फ्रीडम पार्टी को समर्थन देने के संकेत रूप मे नीला जैकेट पहन रही थी।

चुनाव के कुछ समय पूर्व सेनानायके सरकार ने अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक से महावेली घाटी मे एक बडे विद्युत् एव सिंचाई योजना सम्बन्धित समझौते का कार्य पूरा करने एव संसद् द्वारा पारित कराने मे काफी शीघ्रता की। इस सौदेबाजी, जो अपने आपमे योजना नही है (इसमे जलविद्युत् केन्द्रो के निर्माण तथा मोटे तौर पर १० लाख एकड बंजर भूमि को ३० वर्षों से भी अधिक समय तक सींचने की बात शामिल है), के साथ जुडी हुई शर्तों से जनता के एक बहुत बडे भाग मे असन्तोष व्याप्त रहा। लका के जनतान्त्रिक विचार रखनेवालो ने सकेत किया कि समझौते मे निरूपित शर्तें आनेवाले कई वर्षों के लिए देश को साम्राज्यवादी एकाधिकारियो पर निर्भर बना देंगी। अन्य बातो के साथ समझौते मे एक परिनिरीक्षण परिषद् की स्थापना की बात भी सम्मिलित थी, जिसमे मुख्य भूमिका अमरीकियो को सौंपी गयी थी जबकि लका की संसद् ने अपनी कोई राय नही दी थी। तब इसमे कोई आश्चर्य की बात नही कि चुनाव अभियान के काफी पूर्व से ही कोलम्बो की सडकों पर विरोधी दलो के ऐसे पोस्टर दिखाई पडने लगे जिसमे भारी बूट के नीचे दबी लंका पर अमरीकी ध्वज फहरा रहा था।

संयुक्त मोर्चे की सिरिमावो की सरकार ने नये संविधान की स्वीकृति एवं एक गणराज्य की घोषणा के नाम पर साम्राज्यवाद विरोधी एवं जनतान्त्रिक सुधार के व्यापक कार्यक्रम सामने रखे हैं। इस मोर्चे की सरकार का प्रमुख उद्देश्य राजकीय क्षेत्र में प्रमुख उद्योगों के संकेन्द्रण के साथ औद्योगीकरण करना है। सरकार का प्रस्ताव है कि निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो, प्रमुख आयातों पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो तथा सरकारी एवं सहकारी संगठनों का थोक व्यापार में भारी से भारी हिस्सा हो। साथ ही स्थानीय निजी व्यावसायिक उद्योगों को बढ़ावा दिया जाये।

श्रीमती भंडारनायके की सरकार ने सेनानायके सरकार द्वारा कटौती की गयी सामाजिक आवश्यकताओं के विनियोजन को पुनः प्राप्त करने का, साथ ही सहायतार्थ दी गयी धनराशि पर चावल की बिक्री के हेतु राशनिंग करने का वादा किया है। संयुक्त मोर्चे के कार्यक्रम में जमीन पर उनके स्वामित्व होने की बात भी है जो वस्तुतः उसे जोतते हैं। यदि कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की बात को दृष्टि में रखा जाय, तो संयुक्त मोर्चे के समक्ष पड़े काम के परिणाम की प्रशंसा की जायेगी। लंका की अर्थव्यवस्था अभी भी कृषिप्रधान है। राष्ट्रीय उत्पादन में उद्योग का हिस्सा नगण्य है। कृषि सम्बन्धी विकास भी एक ओर ही भारी है, जैसा ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन में था। देश में अभी भी तीन निर्यात फसलों—चाय, रबर और नारियल—में विशेषता प्राप्त करने का काम जारी है। जोती हुई जमीन के लगभग ६० प्रतिशत भाग में इन तीन फसलों के बागान हैं, जबकि उदाहरण के लिए चावल का उत्पादन देश की आवश्यकता से पर्याप्त कम है।

संकीर्ण विशेषज्ञता ने श्री लंका की अर्थव्यवस्था को विदेशी व्यापार पर निर्भर कर दिया है। उसके व्यापार और भुगतान का संतुलन और परिणामतः उसकी समृद्धि भारी पैमाने पर चाय, कच्चा रबर और नारियल की विश्व बाजार की कीमतों से स्थापित होती है। आज भी देश में ब्रिटिश पूँजी पैर जमाये हुए है। सबसे बड़े चाय बागान और रबर बागान का एक बहुत बड़ा भाग ब्रिटेन के अधिकार में है। ब्रिटिश पूँजीपतियों के हितों को क्षति पहुँचानेवाले किसी भी प्रयास को स्वाभाविक रूप से उसके तीव्र प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा। ब्रिटेन के लोग लंका के निर्यात व्यापार पर, विशेष रूप से चाय के निर्यात पर, दबाव डालने की स्थिति में हैं, क्योंकि चाय निर्यात का कोटा अभी भी अधिकांशतः 'लंदन की आक्सन' द्वारा नियन्त्रित है। निःसंदेह संयुक्त मोर्चे द्वारा प्रस्तावित उपायों को लंका के उच्च वनिक वर्गों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि उनके हितों को भी किसी न किसी रूप में क्षति पहुँचने की आशंका है। पश्चिमी

साम्राज्यवादियों के षड्यन्त्रों से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। यह ध्यान देने योग्य है कि पश्चिमी पूँजीवादी समाचारपत्र पहले से ही संयुक्त मोर्चे की चुनाव सफलता पर पश्चिमी शक्तियों के हितों के लिए 'खतरे' की बात कहना आरम्भ कर चुके हैं।

संयुक्त मोर्चे की सरकार ने प्रशासनिक क्षेत्र में भी कुछ नवीन नीतियाँ अपनाई हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि इस सरकार के नेतृत्व में राजनीति तथा प्रशासन एक दूसरे से मिल गये हैं। यह सब कुछ सत्ताधारी राजनीतिक दलों की स्वीकृति से ही हुआ है। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण है कि अभी हाल में सरकार के निर्णयानुसार गृहमन्त्री को ग्राम-समितियों के अध्यक्षों की नियुक्ति करने का अधिकार दिया गया है। इन अध्यक्षों के अनेक कार्यों में से भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना तथा जनता का प्रशासन में सक्रिय सहयोग प्राप्त करना आदि भी हैं। सरकार के इस निर्णय से गृहमन्त्री श्री फेलिक्स भंडारनायके को लगभग ४०,००० अध्यक्षों की नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

श्री लंका फ्रीडम पार्टी के समर्थकों को, जिन्हें श्री डडले सेनानायके की सरकार ने अत्यन्त महत्वहीन पदों पर नियुक्त कर रखा था, संयुक्त मोर्चे की सरकार ने महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सरकारी ऐजेण्टों (भारत में जिलाध्यक्षों) के रूप में नियुक्त कर दिया है।

संयुक्त मोर्चे की सरकार ने प्रशासन में, उपर्युक्त सन्दर्भ में, एक और क्रान्तिकारी प्रयोग किया है। वह यह है कि पेशेवर जनपद अधिकारियों (Professional Civil Servants) के स्थान पर सैद्धान्तिक रूप में मोर्चे की सरकार की नीतियों में विश्वास रखनेवाले साहसी एवं नवयुवक शिक्षा शास्त्रियों को विभागाध्यक्ष के पदों पर नियुक्त कर दिया गया है। इस प्रकार प्रशासन को राजनीति से मिला दिया गया है।

राजनीति एवं प्रशासन में एकरूपता लाने का यह प्रयास कहाँ तक सफल होगा, इस बारे में अभी निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मोर्चा सरकार में सम्मिलित राजनीतिक दलों में, भविष्य में, इसी प्रकार आपसी सहयोग बना रह सकेगा जैसा आरम्भ में था, इस सम्बन्ध में भी शंका की जा रही है।

शीघ्र ही लंका औपनिवेशिक स्थिति से निकलकर गणराज्य के रूप में संसार के सामने आएगा। मोर्चा सरकार ने यह निर्णय उसकी पूर्व में की गयी घोषणा के अनुसार ही लिया, जिसका अनुमोदन वहाँ की राष्ट्रीय परिषद् द्वारा कर दिया गया है। परन्तु पिछले कुछ समय में लंका में माओवादियों (नक्सलवादियों) की गतिविधियाँ उग्रतर होती जा रही हैं, जिससे श्रीमती भंडारनायके की मोर्चा सर-

प्रसार की तथा देश की आन्तरिक शान्ति को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है। अभी हाल ही में (मार्च, १९७१ में) स्थिति से निपटने के लिए, सरकार को आपात्कालीन स्थिति की घोषणा करनी पड़ी है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमती भण्डारनायके की सरकार जन-आकांक्षाओं के अनुरूप कार्य करने में सफल नहीं हो सकी है। देश की राजनीतिक स्थिति का आगे क्या रूप होगा, यह तो भविष्य ही बतलायेगा।

अध्याय ८

नेपाल

हिमालय पर्वत के दक्षिणी ढलान पर बसे नेपाल के उत्तर में तिब्बत तथा दक्षिण में भारत स्थित है। वर्तमान समय में नेपाल की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठी है, विशेष रूप से साम्यवादी चीन द्वारा तिब्बत को अपने में मिला लेने के पश्चात्। भारत के अस्तित्व के लिए नेपाल की स्थिति एक सुदृढ़ सुरक्षा स्तम्भ जैसी है। तिब्बत पर साम्यवादी चीन का सैनिक आधिपत्य हो जाने के बाद भारत की सुरक्षा बहुत कुछ नेपाल की सुरक्षा पर निर्भर करती है। यदि साम्यवादी चीन किसी प्रकार से नेपाल को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लेता है तो भारत की सुरक्षा को निश्चय ही एक गम्भीर खतरा उत्पन्न हो जायेगा।

नेपाल पर चीन की कुदृष्टि आरम्भ से ही लगी हुई है। चीन के साम्यवादी नेता यह तर्क देते रहे हैं कि १७९२ की नेपाल चीन सन्धि के अनुसार नेपाल पर चीन की राजनैतिक प्रभुसत्ता होनी चाहिए, क्योंकि चीन ने कभी भी उपर्युक्त सन्धि का परित्याग नहीं किया। चीन के साम्यवादी शासन की दृष्टि नेपाल पर लगी हुई है। इसका संकेत इस बात से मिलता है कि १९३९ में माओत्से तुंग ने अपनी पुस्तक 'चायनीज रेवोल्यूशन ऐण्ड दि चायनीज कम्यूनिस्ट पार्टी' में नेपाल को चीन के अधिराज्यों (Dependencies) की सूची में सम्मिलित कर लिया था।

जहाँ तक भारत और नेपाल का सम्बन्ध है, दोनों के मध्य कोई प्राकृतिक सीमा-विभाजक रेखा नहीं है। एक दूसरे के निकटतम पड़ोसी होने के नाते दोनों राष्ट्रों के हित परस्पर बँधे हुए हैं। कतिपय राजनैतिक एवं सामरिक कारणों से नेपाल में भारत के इतने अधिक हित नहीं थे कि वह नेपाल की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक प्रगति में प्रत्येक सम्भव सहयोग देने के लिए उत्सुक रहता। साथ ही भारत की यह लालसा कभी नहीं रही कि वह नेपाल की प्रभुसत्ता का

अतिक्रमण करे । फिर भी भारत नेपाल पर होनेवाले किसी भी सम्भावित आक्रमण की अनदेखी नहीं कर सकता । भारत-नेपाल सम्बन्धों के बारे में १७ मार्च, १९५० को भारतीय संसद् में कहे गये श्री नेहरू के ये शब्द आज भी वस्तुस्थिति का सही रूप प्रस्तुत करते हैं :

"जहाँ तक कुछ एशियाई गतिविधियों का सम्बन्ध है, भारत और नेपाल के मध्य कोई सैनिक समझौता नहीं है, लेकिन भारत सरकार द्वारा किसी भी ओर से नेपाल पर आक्रमण सहन करना सम्भव नहीं है । नेपाल पर सम्भावित कोई भी आक्रमण अवश्यम्भावी रूप से भारत की सुरक्षा के लिए खतरा होगा ।"

उदारवाद एवं प्रजातंत्र की ओर :

१८४६ ई० में राणा जंगबहादुर ने राजा को अपने नियंत्रण में कर सत्ता पर अधिकार कर लिया । तब से लेकर १९५० तक, लगभग १०८ वर्षों तक, नेपाल पर न केवल राणाओं का कठोर नियन्त्रण रहा बल्कि उसे बाह्य जगत् के सम्पर्क से भी वंचित रखा गया । राणाओं के शासनकाल में नेपाल शोषक समाज को प्रश्रय देता रहा और उसका चतुर्दिक विकास अवरुद्ध रहा । परन्तु १९५०-५१ में महाराजाधिराज श्री त्रिभुवननारायण शाह के अप्रत्याशित कदम के फलस्वरूप नेपाल राणा परिवार की काली छाया से मुक्त हुआ । भारत ने इस (एक प्रकार के) मुक्ति-आन्दोलन का स्वागत किया तथा नेपाल के शासकों को प्रजातांत्रिक सुधार लाने की सलाह दी क्योंकि नेपाल की भौगोलिक एवं राजनीतिक स्थिति की महत्ता को ध्यान में रखकर भारत नेपाल को एक स्थिर प्रजातांत्रिक राज्य के रूप में देखना चाहता था । १८ फरवरी, १९५१ को काठमाण्डू में, भारत की मध्यस्थता द्वारा, एक मिले जुले नये मंत्रिमण्डल ने शपथ ग्रहण की, जिसके प्रधान मन्त्री श्री मोहन शमशेरजंग बहादुर बने । श्री मातृकाप्रसाद कोइराला गृहमंत्री नियुक्त हुए । इस प्रकार एक नवीन नेपाल का उदय हुआ और निरंकुश सामन्तशाही शासन से नेपाली जनता को मुक्ति मिली ।

किन्तु राणाओं और नेपाल कांग्रेस के प्रतिनिधि मंत्रियों में अधिक समय तक नहीं बन सकी । महाराजा त्रिभुवन भी इस संयुक्त मंत्रिमण्डल के मतभेदों को दूर नहीं कर सके । मंत्रिमण्डल के राणा गुट और नेपाली कांग्रेस गुट के इस आन्तरिक संघर्ष में अन्त में राणा गुट की शक्ति क्षीण होती गयी और उपयुक्त अवसर पाकर महाराजा त्रिभुवन ने १३ अप्रैल, १९५१ को प्रधान मन्त्री मोहन शमशेरजंग बहादुर राणा को सर्वोच्च सेनापति के पद से हटाकर स्वयं इस पद को सँभाल लिया । इसपर दोनों दलों ने (राणा दल एवं नेपाली कांग्रेस दल) पुनः भारत सरकार से

मध्यस्थता करने की प्रार्थना की। मई, १९५१ में नई दिल्ली में यह निर्णय लिया गया कि श्री मोहन शमशेरजंग प्रधान मन्त्री के पद पर बने रहें, किन्तु मन्त्रि-मण्डल का पुनर्गठन किया जाय और साथ ही ४० सदस्यों की एक परामर्शदात्री परिषद् भी निर्मित की जाय। परन्तु पुनर्गठित मन्त्रिमण्डल भी आपसी मतभेदों के कारण कार्य नहीं कर सका और १२ नवम्बर, १९५१ को प्रधान मन्त्री श्री मोहन शमशेरजंग ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर मातृकाप्रसाद कोइराला के प्रधान मन्त्रित्व में भी नेपाल की राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। डॉ० के० आई० सिंह ने कोइराला सरकार का तख्ता उलटने का असफल प्रयास किया, हालां कि उनका प्रयास सफल न हो सका।

६ अगस्त, १९५२ को अपने प्रति बढ़ते हुए विरोध को देखकर श्री मातृका-प्रसाद कोइराला ने प्रधान मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके दो मास पश्चात् ही सितम्बर, १९५२ में परामर्शदात्री परिषद् भी भंग कर दी गयी। महाराजा त्रिभुवन ने श्री मातृकाप्रसाद कोइराला को पुनः मन्त्रिमण्डल बनाने को आमन्त्रित किया। श्री कोइराला ने अपने नवीन मन्त्रिमण्डल में टंकप्रसाद आचार्य को सम्मिलित किया परन्तु जनवरी, १९५५ में श्री टंकप्रसाद आचार्य को मन्त्री पद से मुक्त कर दिया गया और मार्च, १९५५ में श्री मातृकाप्रसाद कोइराला ने भी त्यागपत्र दे दिया। १३ मार्च, १९५५ को महाराजा त्रिभुवन की मृत्यु हो गयी और उनके उत्तराधिकारी श्री महेन्द्र वीरविक्रम शाह नेपाल के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। २७ जनवरी, १९५६ तक नेपाल नरेश स्वयं शासनसूत्र का संचालन करते रहे और उन्होंने अनेक प्रशासनिक एवं आर्थिक सुधार क्रियान्वित करने के ईमानदारी पूर्ण प्रयास किये।

२७ जनवरी, १९५६ से लेकर १३ नवम्बर, १९५७ तक श्री टंकप्रसाद आचार्य तथा डॉ० के० आई० सिंह दो प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए, और अन्त में १४ नवम्बर, १९५७ को पुनः शासनसूत्र नरेश के हाथों में चला गया। इसी बीच नेपाली कांग्रेस, नेपाली नेशनल कांग्रेस और प्रजा परिषद् ने मिलकर एक संयुक्त मोर्चा स्थापित करते हुए नेपाल में आम चुनाव कराये जाने की माँग की। दिसम्बर १९५७ में नरेश ने घोषणा की कि फरवरी, १९५९ में अवश्य ही आम चुनाव कराये जायेंगे।

१९५९ के आम चुनावों में नेपाली कांग्रेस ने १०९ में से ७४ सीटों पर विजय प्राप्त कर ली और इसके अध्यक्ष श्री बी० पी० कोइराला नेपाल के प्रधान मन्त्री बने। उनके प्रधान मन्त्री बनने पर लोगों को यह आशा बनी थी कि अब नेपाल में लोकतन्त्रात्मक शासनप्रणाली की प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो गया है। लेकिन

यह आशा निर्मूल सिद्ध हुई। १८ महीने के पश्चात् ही राजा महेन्द्र ने सरकार भंग करके शासनसूत्र अपने हाथों में ले लिया। यह स्थिति कुछ समय तक बनी रही, पर बाद में पुनः लोकतन्त्र की दिशा में प्रगति होने लगी। जनवरी, १९६६ से अप्रैल, १९६९ तक नेपाल में कई प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए, परन्तु कोई भी स्थायी रूप से कार्य नहीं कर सका। अप्रैल, १९६६ में राजा महेन्द्र से मतभेद होने के कारण श्री सूर्यबहादुर थापा ने प्रधान मन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया, और उनके स्थान पर श्री कीर्तिनिधि विस्ट नये प्रधान मन्त्री बने। वर्तमान प्रधान मन्त्री उदारवादी दृष्टिकोण के हैं तथा उनसे आशा की जाती है कि वे नेपाल में सुदृढ़ लोकतन्त्र प्रणाली के विकास तथा उनके स्थायित्व के लिए भरसक प्रयत्न करेंगे। श्री विस्ट के प्रधान मन्त्रित्व में भारत-नेपाल सम्बन्ध भी अधिक मधुर हुए हैं।

राजतन्त्र एवं राणाओं के अंकुश के कारण नेपाल में किसी भी प्रकार का राजनैतिक चिन्तन नहीं पनप सका, और वैचारिक दृष्टि से वह भारत तथा यूरोप से (अप्रभावित रहकर) अलग अलग बना रहा। भारत में ब्रिटिश सरकार ने भी नेपाल के वैचारिक विकास में कोई रुचि नहीं दिखाई। वास्तव में वह इसके पिछड़ेपन से ही अपने को भारत में अधिक सुरक्षित पाती थी। पिछले कुछ वर्षों में नेपाली जनता तथा वहां के राजनैतिक नेताओं ने अपने देश में प्रजातान्त्रिक शासनप्रणाली की स्थापना के लिए भरसक प्रयत्न किये हैं। जिन विषम परिस्थितियों में नेपाली जनता को रहना पड़ा है, उनमें इतनी राजनीतिक प्रगति एवं चिन्तन (प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए प्रयास तथा उसके प्रति जागरूकता) ही पर्याप्त है।

यही बात पर्वतीय राज्यों—सिक्किम एवं भूटान—के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जून, १९४९ में वह भारत के संरक्षण में आ गया तथा १९५० के एक समझौते के अनुसार भारत को उसके सुरक्षा, यातायात एवं विदेशी मामलों के प्रबन्ध का अधिकार प्राप्त हो गया। भूटान के साथ भी भारत की अगस्त, १९४९ में एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार के समान (भारत के स्वतंत्र होने से पूर्व) भारत सरकार की स्थिति को स्वीकार कर लिया गया। सन्धि के अनुसार भारत को भूटान के सैनिक मामलों में मार्गदर्शन करने का अधिकार है। दोनों ही राज्यों में अभी हाल के वर्षों में कुछ राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार अवश्य किये गये हैं तथापि दोनों ही राजतन्त्र हैं।

अध्याय ५

भारत

एशिया महाद्वीप का यह विशाल देश प्रकृति की गोद में उसकी सन्तान की भाँति बैठा है। इसकी उत्तरी सीमा पर स्थित हिमालय पर्वत इसे एशिया महादेश से पृथक् करता है और बाहरी आक्रमणों से रक्षा करता है। पश्चिमोत्तर में हिन्दूकुश और सुलेमान पर्वतश्रेणी इसे अफगानिस्तान, रूस, ईरान इत्यादि देशों से एवं पूर्व में अराकान पर्वत इसे ब्रह्मदेश से अलग करते हैं। इसके दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम एवं दक्षिण-पूर्व में हिन्द महासागर, अरब सागर तथा बंगोपसागर लहरा रहे हैं। इस प्रकार प्रकृति-प्रदत्त सीमा-रेखाएँ इसे न केवल पृथ्वी के विभिन्न भागों से पृथक् करती हैं, अपितु चतुर्दिक् से रक्षा भी करती हैं। भारत के उत्तर-पश्चिम में खैबर, बोलन, गोमल इत्यादि दर्रे हैं। इन दर्रों से होकर विदेशी भारत पर आक्रमण करते रहे। ऐसे आक्रमण करनेवाली जातियों में आर्य, ग्रीक, हूण, शक, तुर्क, मुगल इत्यादि प्रधान थीं। परन्तु वे इस देश में आने पर भी विदेशी न रहीं, बल्कि यहीं बस गयीं और भारत को अपनी मातृभूमि समझने लगीं।

भारत में प्रवेश करने का एक अन्य मार्ग भी है, और वह है दक्षिण का सामुद्रिक मार्ग। मध्यकालीन भारतीय शासकों ने न तो सामुद्रिक तटों को कोई महत्व दिया और न उनकी रक्षा की कोई समुचित व्यवस्था ही की। फलतः यूरोप की व्यापारकुशल जातियों को इस देश में प्रवेश करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम पुर्तगाली भारत आये, और उनके पश्चात् हॉलैण्ड निवासी डच मैदान में उतरे। शीघ्र ही डचों को अंग्रेजों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ा।

आरम्भ में सभी यूरोपीय कम्पनियों का उद्देश्य केवल व्यापार करना था और वे भारतीय राजनीति से बहुत दूर रहती थीं। अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारत की राजनीतिक स्थिति में विनाशकारी परिवर्तन हुए। ३ मार्च, १७०७

ई० के दिन शरीर और मस्तिष्क दोनों से दुःखी मुगल सम्राट् औरंगजेब अहमदनगर के कैम्प में इस संसार से चल बसा। उसकी मृत्यु से भारतीय राजनीति में विध्वंसकारी परिवर्तन हुए और मुगल साम्राज्य ताश के पत्तों की भाँति बिखर गया तथा भारत का राजनीतिक रंगमंच पारस्परिक विद्वेष, कलह और संघर्ष का अखाड़ा बन गया।

मुगल साम्राज्य को छिन्न भिन्न होते देख अंग्रेजी और फ्रान्सीसी कम्पनियाँ भारत में अपना राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगीं। फ्रान्सीसी डूप्ले के नेतृत्व में और अंग्रेज क्लाइव के नेतृत्व में देशी नरेशों को एक दूसरे से लड़ाकर और उन्हें सैनिक सहायता प्रदान कर अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। तीन कर्नाटक युद्धों में अंग्रेज और फ्रान्सीसी शक्तियों की परीक्षा हुई और अन्त में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ही विजयी हुई। सन् १७६४ में मुगल सम्राट् और अंग्रेजी कम्पनी की सेनाओं के मध्य बक्सर में मुठभेड़ हुई। 'बक्सर का युद्ध' भारत का भाग्य-निर्णायक था। यहीं से भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का श्रीगणेश हुआ। उस समय से १८५६ ई० तक कम्पनी के अधिकारियों ने विभिन्न तरीकों से भारत में कम्पनी राज्य का विस्तार किया। इस प्रकार यदि एक ओर भारत में कम्पनी राज्य का विस्तार हो रहा था, तो दूसरी ओर निरंकुश विदेशी शासन के अनैतिक प्रभाव अनेक ऐसी शक्तियों तथा प्रवृत्तियों को जन्म दे रहे थे जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की कहानी बहुत लम्बी एवं उलझी हुई है, जिसे प्रस्तुत पुस्तक के सन्दर्भ में यहाँ विस्तारपूर्वक देना न उपयुक्त ही है और न आवश्यक। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर स्वतन्त्र रूप से अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। इस पुस्तक के सन्दर्भ में यहाँ केवल उसके प्रमुख पक्षों पर ही प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रमुख विशेषताएँ :

आज के अधिकांश नेता यह दावा करते हैं कि भारतीय कांग्रेस का इतिहास ही भारतीय राष्ट्रीयता का इतिहास है और भारतीय स्वतन्त्रता कांग्रेस के प्रयत्नों का ही परिणाम है। परन्तु यह धारणा पूर्णतः सत्य नहीं है। निःसन्देह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को बढ़ाने तथा उसे जनता तक पहुँचाने में कांग्रेस ने महत्वपूर्ण योग दिया है, परन्तु भारतीय राष्ट्रीय जागृति को कांग्रेस की देन नहीं कहा जा सकता, अपितु कांग्रेस की स्थापना ही भारतीय राष्ट्रीय जागृति की देन है।

कम्पनी के शासकों की कूटनीति, सैनिक विजय, साम्राज्य-विस्तार, कर्मचारियों के दुष्टतापूर्ण कृत्य आदि के कारण भारत मे गहरा असन्तोष फैल गया। भारतीय देशी नरेश, जमीदार, सामन्त, किसान, सैनिक सब के सब असन्तुष्ट थे। डलहौजी द्वारा अपनायी गयी देशी राज्यों को हड़पने की नीति मे देशी नरेश बहुत आतंकित थे। भारतीयों के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन मे हस्तक्षेप करने से सामान्य जनता असन्तुष्ट थी। सरकारी नौकरियों में भारतीयों को नहीं रखने से मध्यवर्गीय जनता दुःखी थी। भारतीय तथा अंग्रेज सैनिकों के बीच भेदभाव करने से भारतीय सैनिक बिगड़े हुए थे। अन्त मे, १८५७ ई० मे सारे असन्तोष के विभिन्न स्रोतों ने एक धारा मे प्रवाहित होकर एक भयकर राष्ट्रीय विप्लव को जन्म दिया।

यद्यपि १८५७ की क्रान्ति असफल रही, तथापि आधुनिक भारत के राष्ट्रीय इतिहास मे इस क्रान्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। इस क्रान्ति से भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास मे एक नयी धारा का प्रादुर्भाव हुआ। इस विद्रोह के फलस्वरूप भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त हो गया और भारत के शासन की बागडोर ब्रिटिश सम्राट् के हाथ मे चली गयी। भारतीय जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए १८५८ ई० मे महारानी विक्टोरिया की ओर से एक अति महत्वपूर्ण राजकीय घोषणा (Royal Proclamation) की गयी, जिसकी भाषा अत्यन्त सुन्दर एव मर्यादित थी और जिसमे उदारहृदयता, क्षमा, मित्रता एवं न्याय की भावना का आभास मिलता था।

परन्तु इस घोषणा के अन्तर्गत जो प्रतिज्ञाएँ की गई थी वे कभी पूरी नहीं हुई, और भारत मे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असन्तोष बढ़ता ही गया। अन्त मे २८ दिसम्बर, १८८५ को अखिल भारतीय कांग्रेस का जन्म हुआ। श्री ए० ओ० ह्यूम (A.O. Hume) इसके जन्मदाता थे। श्री ह्यूम को कांग्रेस सम्बन्धी योजना मे तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड डफरिन तथा इंग्लैण्ड के प्रगतिवादियों का भी सहयोग प्राप्त था। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कांग्रेस की स्थापना का क्या उद्देश्य था और किस उद्देश्य से अन्य अंग्रेजो ने इसकी स्थापना मे सहयोग दिया ? इस सम्बन्ध मे दो विचार हैं—

१. ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा का सिद्धान्त, तथा

२. भारतीय राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त।

पर सत्य यह था कि श्री ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना, प्रमुख रूप से, अंग्रेजी साम्राज्य की रक्षा के लिए की थी। सर विलियम वेडरबर्न ने अपनी पुस्तक "ए० ओ० ह्यूम" मे कहा था कि भारतीयों की शक्तिशाली और बलशाली भावनाओं को बाहर निकालने के लिए एक सुरक्षित वाल्व की आवश्यकता थी और यह

वाल्व कांग्रेस से अच्छा और कोई नहीं हो सकता था।"[1] अतः यह निश्चित है कि कांग्रेस की स्थापना में श्री ह्यूम का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करना अधिक था, भारत की राजनीतिक प्रगति करना गौण। फिर भी कांग्रेस अपने दूसरे उद्देश्य—भारतीय राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति—की ओर आगे बढ़ती गयी, और अल्प समय में ही वह भारत के विभिन्न हितों एवं वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था के रूप में जानी जाने लगी।

साधारणतः भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :

१. प्रथम काल, जिसका आरम्भ १८८५ ई० से होता है और अन्त १९०५ ई० में, अर्थात् लार्ड कर्जन के शासनकाल तक
२. द्वितीय काल १९०५ ई० से लेकर १९१८ ई० तक माना जा सकता है; तथा
३. तृतीय काल १९१९ ई० से लेकर १९४७ ई० तक माना जायेगा, जिसे गांधी एवं नेहरू युग भी कह सकते हैं।

प्रथम काल :

१८८५ ई० से १९०५ ई० तक का काल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का शैशव काल था, जो सामान्यतः उदारवादी, सुधारवादी अथवा वैधानिक युग कहलाता है, क्योंकि १८८५ ई० से १९०५ ई० तक कांग्रेस पर उदारवादियों (Moderates) का एकाधिपत्य था जो ब्रिटिश सरकार के प्रति सहयोग की नीति के समर्थक थे। अपने शैशव काल में कांग्रेस ने कोई उग्रवादी या क्रान्तिकारी माँग नहीं की। उस समय कांग्रेस का लक्ष्य भारतीय शासन में छोटे मोटे सुधार करना था। उस युग के उदारवादी कांग्रेसी नेताओं को ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता तथा सच्चाई में विश्वास था। वे भारत की प्रगति के लिए भारत को ब्रिटेन के साथ सम्बद्ध रखने के समर्थक थे और आवेदनपत्रों तथा प्रार्थनापूर्ण प्रस्तावों द्वारा शासन में क्रमिक सुधार की माँग करते थे। उनके अस्त्र थे प्रस्ताव और प्रतिनिधि-मण्डल। वे नरम नीति का अनुसरण करते थे। इसी कारण वे उदारवादी कहलाये

---

१. "A safety-valve for the escape of great and growing forces was urgently needed and no more efficacious safety-valve than the Congress Movement could be possibly devised,"
—Sir William Wedderburn, p. 71.

और उनका कार्यक्रम 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' के नाम से विख्यात हुआ।
इस काल में कांग्रेस स्वराज्य की माँग को अपना उद्देश्य नहीं बना पायी थी। वह प्रतिनिधि-संस्थाओं की ही बारम्बार माँग करती रही। फिर भी, नागरिक अधिकारों की माँग करने के कारण कांग्रेस के कार्यों का प्रचार हुआ और कांग्रेस की लोकप्रियता बढ़ती गयी। शासन सम्बन्धी सुधारों के साथ साथ कांग्रेस ने साम्राज्यवादी नीति और सरकार की आर्थिक नीति का विरोध किया और देश की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं के समाधान की माँग की। कांग्रेस की इन कार्यवाहियों से ब्रिटिश सरकार की नीति एवं उसके कांग्रेस के प्रति व्यवहार में शनैः शनैः परिवर्तन होता गया। ब्रिटिश सरकार, जो कभी कांग्रेस को अपना मित्र एवं सहयोगी समझती थी, अब उसके प्रति पूर्णतः शंकित हो उठी तथा १९वीं शताब्दी के अन्त तक उसे अपना शत्रु समझकर उसका दमन करने पर उतारू हो गयी।

द्वितीय काल :

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत तथा विदेशों में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनके कारण भारतीय राष्ट्रीय जीवन में नयी भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ और भारतीय राष्ट्रीयता अपनी शैशवावस्था को छोड़कर तरुण होने लगी। भारतीय युवक समाज के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हुआ और तरुण वर्ग के नेताओं में उदारवादियों की "भिक्षा देहि" की नीति में आस्था नहीं रही। उन्हें अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास नहीं था और वे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उग्र विरोध के समर्थक थे। इस नये दल के अग्रणी लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष तथा लाला लाजपतराय थे। ये नेता पूर्ण स्वराज्य के पक्ष में थे। लोकमान्य तिलक का नारा था कि "स्वाराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।" ये लोग उग्रवादी कहलाये। इस प्रकार १९०४ ई० में भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। इसी काल में आतंकवाद का जन्म हुआ। दोनों ही विचारधाराओं के नेतागण साहसी व्यक्ति थे। उनमें आत्मबलिदान और स्वतंत्रता की भावना थी, प्रबलदेश प्रेम था और विदेशी राज्य के प्रति तीव्र घृणा थी। उन्हें तो आत्म-निर्भर एवं स्वतंत्र कार्यों में विश्वास था। इन नेताओं की प्रेरक भावनाएँ एक ही थी, वे भारत और उसकी जनता के पश्चिमीकरण के विरुद्ध थे, वे प्रबल ही नहीं, वरन् उग्र राष्ट्रवादी थे, उनका उद्देश्य था स्वतंत्र भारत, जो फिर प्राचीन वैभव, समृद्धि एवं पवित्रता से परिपूर्ण हो। दोनों में भेद केवल मार्ग का था।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जिन कारणों से भारतीय राष्ट्रीय क्षितिज पर उग्रवादी आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ, उनमें निम्नलिखित प्रमुख थे :

(क) ब्रिटिश सरकार की १८९२ से १९०६ तक के काल में नीति पूर्णतः प्रतिक्रियावादी थी। इस काल में ब्रिटेन में टोरी दल सत्तारूढ़ था, और इस दल के रहते हुए ब्रिटिश सरकार से किसी उल्लेखनीय प्रगतिवादी सुधार की आशा नहीं की जा सकती थी। १८९२ के भारतीय परिषद् अधिनियम द्वारा जो भी सुधार किये गये थे, वे अपर्याप्त एवं निराशाजनक थे। साथ ही, ब्रिटिश शासन की सुरक्षा के लिये बहुत अधिक व्यय किया जा रहा था। करों का सामान्य स्तर ऊँचा था तथा जनता से प्राप्त होनेवाले राजस्व का एक बहुत बड़ा अंश साम्राज्यवादी कार्यों (सैनिक कार्यों) पर व्यय किया जा रहा था। अतः प्रत्येक वर्ष कांग्रेस अपने अधिवेशनों में परिषद् के विस्तार, निर्वाचन, शासन, नियंत्रण सम्बन्धी अधिकार, परिषद् के कार्यक्षेत्र में वृद्धि इत्यादि की माँग करती रही, परन्तु सरकार ने इन माँगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। १८९२ और १९०५ के मध्य जो वाइसराय हुए, वे भी दुर्द्धर्ष साम्राज्यवादी थे तथा राष्ट्रीयता पर कुठाराघात करना अपना कर्तव्य समझते थे। ये थे लॉर्ड लैंसडाउन, लॉर्ड एल्गिन तथा लॉर्ड कर्जन।

(ख) लॉर्ड एल्गिन ने कठोर नीति द्वारा भारत के राजनीतिक वातावरण को और भी अधिक उत्तेजित कर दिया। सरकार ने उग्रवादियों के दमन के लिए, कठोर नीति अपनायी और १८९७ ई० में श्री तिलक को राजद्रोह के अपराध में बन्दी बनाकर १८ महीने का कठोर कारावास दे दिया। सरकार की दमनकारी नीति से सारे देश में क्रोध एवं प्रतिशोध की भावना उमड़ पड़ी।

(ग) लॉर्ड कर्जन की प्रतिगामी नीति तथा प्रशासकीय अदूरदर्शिता के कारण स्थिति और भी अधिक गम्भीर हो गयी। लॉर्ड कर्जन कट्टर साम्राज्यवादी था और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को आमूल नष्ट करना चाहता था। उसने कुछ ऐसे कार्य किये, जिससे भारतीयों को यह विश्वास हो गया कि सरकार साम्राज्यवाद के शिकंजे को सुदृढ़ करने पर कटिबद्ध है। उसने सर्वप्रथम स्थानीय संस्थाओं पर प्रहार किया। १८९९ में "कलकत्ता कॉरपोरेशन एक्ट" पास हुआ, जिसके

द्वारा कॉरपोरेशन के सदस्यों की संख्या घटाकर ७५ से ५० कर दी गयी। इस अधिनियम का यही उद्देश्य था कि कॉरपोरेशन पर सरकारी नियंत्रण कायम हो और भारतीयो को राजनीतिक शिक्षा न मिले, साथ ही, कॉरपोरेशन मे सरकारी बहुमत बना रहे। इससे जनता बहुत क्षुब्ध हुई।

इसी प्रकार १९०४ मे भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पास हुआ, जिसका उद्देश्य भी विश्वविद्यालयो पर सरकारी नियत्रण स्थापित करना था। लार्ड कर्जन ने यह भी घोषणा की कि भारतीय उच्च पदो के योग्य नही है, अर्थात् सरकार के समस्त ऊँचे पद सामान्यत अग्रेजो को ही प्राप्त होने चाहिए। इन बातो से शिक्षित वर्ग मे बडा असन्तोष फैला।

लार्ड कर्जन के प्रतिगामी शासन का एक अन्य उदाहरण था सन् १९०४ मे 'आफिशियल सीक्रेट्स ऐक्ट' का पास होना, जिसमे भारतीयों में बडी उत्तेजना फैली। यह ऐक्ट सरकारी गोप्य विषयों से सम्बन्धित था। इसके द्वारा समाचारपत्रो एव जनता को स्वतन्त्रता का पूर्ण अपहरण कर लिया गया।

लॉर्ड कर्जन की वैदेशिक नीति भी साम्राज्यवादी भावना से ओत-प्रोत थी। इससे सैनिक व्यय बहुत बढ़ गया जिसका भार भारतीय करदाताओ को सहना पडा। उसकी सीमान्त नीति, तिब्बत तथा फारस की खाडी के सैनिक अभियान, चीन मे फौज भेजना आदि कार्यों ने भारतीयो के मन में शासन की नीतियो के विरुद्ध तीव्र रोष पैदा किया।

इन सब बातो के अतिरिक्त लॉर्ड कर्जन ने भारतीयो से कर के रूप में वसूल किये गये धन का दुरुपयोग भी किया। उसने १ जनवरी, १९०३ को दिल्ली मे एक विराट् दरबार का आयोजन किया, जिसमें सप्तम एडवर्ड के भारत का सम्राट् होने की घोषणा की गयी। वह इस दरबार से अपने पूर्व हुए गवर्नर जनरलो को मात देना चाहता था। इस दरबार का केन्द्रीय बिन्दु स्वय लॉर्ड कर्जन था। वह अपने को किसी मुगल बादशाह से कम न समझता था। इस दरबार का भारतीयो के हृदय पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। दरबार के अतिरिक्त एक करोड़ से भी अधिक धनराशि व्यय करके 'विक्टोरिया मेमोरियल' का निर्माण किया गया। कर्जन की योजना तो यह थी कि 'मेमो-

रियल' एक राष्ट्रीय संग्रहालय होगा, परन्तु उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह भारत में "अंग्रेजों के कारनामों की प्रदर्शिनी" थी ।

(घ) उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में देश के कुछ भागों में भयंकर अकाल और प्लेग फैला । उनकी रोकथाम के लिए सरकार ने जिस नीति का अनुसरण किया, उससे जनता के रोष की सीमा न रही । भारतीयों ने, विशेषकर लोकमान्य तिलक ने, सरकार की नीति की कटु आलोचना की । शीघ्र ही सरकार का दमनकारी चक्र चलने लगा । तिलक को राजद्रोह में गिरफ्तार करके १८ मास के कारावास की सजा दे दी गयी । सरकार की इस दमन नीति का विपरीत फल हुआ ।

(ङ) भारत सरकार ने जिस अर्थनीति को अपनाया, उसका उद्देश्य भारतवासियों का हितसाधन न होकर अंग्रेज व्यापारियों और उद्योगपतियों का हितसाधन था । बाहर से आनेवाली कपास की वस्तुओं पर आयात कर (Import tax) कम कर दिया गया और भारतीय यन्त्रों पर उत्पादन कर बढ़ा दिये गये, जिससे भारतीय कपड़ा उद्योग को बड़ी हानि पहुँची । लोगों को विश्वास हो गया कि भारत की दरिद्रता का मुख्य कारण सरकार की अर्थनीति है ।

(च) साथ ही, विदेशों में भारतीयों के साथ जो व्यवहार किया जाता था, वह बहुत ही अभद्र एवं तिरस्कारपूर्ण होता था । अंग्रेजी समाचार-पत्र जातिभेद का तीव्र प्रचार कर रहे थे । दक्षिणी अफ्रीका में भारतीय प्रवासियों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जाता था । उन्हें मकान बनाने या सम्पत्ति खरीदने का अधिकार नहीं था और न वे रेलवे की उच्च श्रेणी में यात्रा कर सकते थे । ट्रान्सवाल की सरकार ने तो कानून बनाकर भारतीयों को अपना अंगुलिचिह्न देकर पंजीकृत करना आवश्यक कर दिया । इसी नियम के विरुद्ध गांधी जी ने सत्याग्रह आरम्भ किया था । इन सब बातों से भारतीय जनता ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन करने के लिये तैयार हो गयी ।

(छ) लेकिन सब से अधिक भड़कानेवाली बात थी लॉर्ड कर्जन की बंगाल को विभाजित करने की योजना । लॉर्ड कर्जन का तर्क था कि बंगाल एक बहुत बड़ा प्रान्त है और शासन की सुविधा के लिए उसका विभाजन करना आवश्यक है । सन् १९०५ में बंगाल विभाजन की

घोषणा की गयी। पूर्वी बगाल और आसाम के नये प्रदेश का निर्माण हुआ जिसका पृथक् लेफ्टिनेण्ट गवर्नर नियुक्त हुआ। इस कार्य से भारतीय राष्ट्रवादियों को विश्वास हो गया कि कर्जन का वास्तविक उद्देश्य फूट डालकर शासन करना है। वस्तुतः कर्जन के द्वारा प्रस्तुत तर्क बहाना मात्र था। वह बंगाल की राष्ट्रीय एकता को नष्ट करना तथा हिन्दुओं एव मुसलमानों मे वैमनस्य फैलाना चाहता था। कर्जन की इस नीति से सारे देश में एक सुसगठित एव अनुशासित प्रबल आन्दोलन फूट पडा। २० जुलाई, १९०५ को बग-भग की घोषणा की गयी और ७ अगस्त, १९०५ को उसका सक्रिय विरोध आरम्भ हुआ। सम्पूर्ण बगाल आन्दोलन की आग मे भभक उठा।

(ज) १९वी शताब्दी के अन्त में तथा २०वी शताब्दी के आरम्भ मे विदेशो मे कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुई जिन्होंने भारतीयो के मनोबल को बढाने मे काफी सहायता की। मिस्र, फारस और तुर्की मे प्रारम्भ हुए स्वाधीनता सग्रामो मे भारतीयो को बडा प्रोत्साहन मिला। सन् १८९६ मे एबीसीनिया के निवासियों ने इटली को पराजित किया। इटली की पराजय से महाराष्ट्र मे नयी उत्तेजना एव जागृति का उदय हुआ। सन् १९०५ मे छोटे से जापान ने दैत्याकार रूस पर विजय प्राप्त की। इन घटनाओ से भारतीयो को अंग्रेजो की श्रेष्ठता एव अजेयता पर जो विश्वास था, वह जाता रहा। भारतवासियो को विश्वास हो गया कि देशभक्ति एवं सगठन के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्त किया जा सकता है।

इन सारी घटनाओ का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। बंग-भंग को लेकर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सर्वप्रथम बंगाल मे एक तूफान फूट पड़ा, और फिर वह शीघ्र ही सारे देश में फैल गया। बडी बडी विरोध-सभाएँ हुईं। १६ अक्टूबर, १९०५ के दिन सारे बगाल मे भूख-हड़ताल तथा शोक दिवस मनाया गया, क्योंकि इसी दिन से बगाल का विभाजन क्रियान्वित हुआ था। ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओ के प्रयोग के प्रस्ताव पास होने लगे। विद्यार्थियो ने इस आन्दोलन मे बडे उत्साह से भाग लिया। कलकत्ता तथा अन्य स्थानो में दल के दल विद्यार्थी झण्डा लेकर बंकिमचन्द्र के 'वन्देमातरम्' संगीत को गाते हुए निकल पडे। इसका प्रभाव शिक्षा पद्धति पर भी पड़ा। राष्ट्रीय विद्यालयो की स्थापना होने लगी, जहाँ राष्ट्रीय आधार पर शिक्षा दी जाने लगी और

विद्यार्थियों के बौद्धिक, धार्मिक तथा नैतिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

इन सब का परिणाम यह हुआ कि देश में उग्रवाद तथा आतंकवाद का जन्म हुआ। कांग्रेस दो दलों में बँट गयी—नरम दल और गरम दल। नरम दल के प्रमुख नेता गोपालकृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। इस दल के लोगों का विश्वास था कि वैधानिक तरीकों पर चलकर ही भारतीय राजनीतिक अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु उग्र दल एक सबल नीति अपनाने के पक्ष में था। यह दल कांग्रेस के इतिहास में गरम दल के नाम से विख्यात हुआ।

सन् १९०५ के बनारस अधिवेशन के समय कांग्रेस में उग्रवादी दल या गरम दल ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। सन् १९०५ का अधिवेशन उस समय हुआ जब लाला लाजपतराय और श्री गोपालकृष्ण गोखले लन्दन से निराश लौट चुके थे और बंगाल असन्तोष और क्षोभ से तिलमिला रहा था। अधिवेशन का सभापतित्व श्री गोखले ने किया। सन् १९०६ में प्रिन्स ऑफ वेल्स के भारत आने के सम्बन्ध में नरम-दलीय कांग्रेस नेता एक स्वागत-प्रस्ताव पास करना चाहते थे, जिसका विरोध गरम दल के नेता तथा बंगाल प्रतिनिधि करना चाहते थे। यद्यपि यह प्रस्ताव पास हो गया, तथापि नरम-दलीय राष्ट्रवादियों ने अपनी नीति में कुछ परिवर्तन किया। श्री तिलक द्वारा प्रस्तुत सरकार के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) का प्रस्ताव पास नहीं हो सका।

सन् १९०६ में कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर उग्रवादियों और नरम-दलीय नेताओं में पर्याप्त तनाव था और ऐसा प्रतीत होता था कि कांग्रेस में विच्छेद होकर ही रहेगा। इस अधिवेशन के पूर्व ही भारत मन्त्री (इंगलैण्ड के सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया) ने यह घोषणा की थी कि बंगाल विभाजन एक 'सुस्थिर तथ्य' है, जिससे भारतीय नेता बहुत ही क्षुब्ध थे। दादाभाई नौरोजी, जिन्होंने इस अधिवेशन का सभापतित्व किया, के प्रयासों से उग्रवादियों एवं नरम-दलीय नेताओं के बीच संघर्ष होने से बच गया। कांग्रेस ने उग्रवादियों के चार प्रस्तावों को—स्वराज्य, स्वदेशी आन्दोलन, विदेशी बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा को—स्वीकार कर लिया।

परन्तु 'स्वराज्य' शब्द के अर्थ को लेकर दोनों दलों में गम्भीर मतभेद आरम्भ हुआ। नरम दल के नेताओं ने इसका अर्थ लगाया वैधानिक तरीकों पर चलकर उत्तरदायी सरकार की स्थापना और औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति। परन्तु उग्रवादियों का अर्थ था—पूर्ण स्वराज्य। इस बुनियादी भेद के कारण फूट अनिवार्य थी। १९०७ में सूरत अधिवेशन हुआ। उग्रवादी लोकमान्य तिलक को इस अधि-

वेशन का सभापति बनाना चाहते थे, परन्तु उदारवादियों ने अपने बहुमत के आधार पर डा० रासबिहारी घोष को अधिवेशन का सभापति निर्वाचित किया। सभापति का भाषण आरम्भ होते ही गुल-गपाड़ा शुरू हुआ, और कांग्रेस का यह अधिवेशन शोरगुल का निन्दनीय नाटक बन गया। अगले दिन १०० व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त की गयी, जिसे कांग्रेस के विधान-निर्माण का कार्य सौंपा गया। इस समिति ने कांग्रेस का जो विधान तैयार किया उसमें कांग्रेस कार्य के लिए पुरानी पद्धति और परम्परा की पुष्टि की गयी तथा वैधानिक साधनों एवं वर्तमान शासन-व्यवस्था में क्रमबद्ध सुधारों द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति का लक्ष्य प्रकट किया गया। चूँकि उग्रवादी इस नरम नीति के पूर्णत विरुद्ध थे, अत वे कांग्रेस से पृथक् हो गये, और दोनों दल अगले नौ वर्षों तक पृथक् पृथक् कार्य करते रहे।

उग्रवादियों को अंग्रेजों की न्याय-निष्ठा में किंचित् विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि भारत की स्वतन्त्रता के लिए राजनीतिक भिक्षावृत्ति नहीं, बल्कि शारीरिक एवं नैतिक रचनात्मक कार्य होना चाहिए और सबल आन्दोलन होना चाहिए। इसके लिए वे सरकार के सभी विभागों में असहयोग लाना चाहते थे। वे शस्त्र-प्रयोग को बुद्धिमत्ता नहीं समझते थे, क्योंकि समस्त राष्ट्र नि शस्त्र था। फिर भी, उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय माँग के पीछे शक्ति का होना आवश्यक है। उग्रवादी पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से घृणा करते थे और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को श्रेष्ठ मानते थे।

उग्रवादियों का सामना करने के लिये सरकार ने दमन की नीति से काम लिया। सरकार ऐसे कानूनों का निर्माण करने लगी जिनसे लोगों को कठोर दण्ड दिया जा सके। "इंडियन पेनल कोड" में इसी उद्देश्य से धारा १२४-ए तथा १५३-ए जोड़ी गयी। एक विशेष अधिनियम द्वारा सरकारी कर्मचारियों को यह भी अधिकार दिया गया कि वह जिन राजनीतिक संगठनों को राजद्रोहात्मक समझे, उन पर प्रतिबन्ध लगा दें। राजनीतिक अपराधियों के मामलों की संक्षिप्त सुनवाई की भी व्यवस्था की गयी। सरकार की दमन-नीति तेजी से चली। श्री लोकमान्य तिलक को राजद्रोह के अपराध में बन्दी बना लिया गया और बम्बई के उच्च न्यायालय में उनपर मुकदमा चला। कहते हैं, श्री तिलक ने अपनी प्रतिरक्षा में २१ घण्टे तथा १० मिनिट तक दलीलें दी, परन्तु जूरी के नौ में से सात सदस्यों ने उन्हें दोषी ठहराया और छह वर्ष के निर्वासन का दण्ड दिया गया। सन् १९१० में सरकार ने "प्रेस ऐक्ट" भी लागू कर दिया जिससे प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

उग्रवाद के साथ ही देश में आतंकवाद का भी उदय हुआ। आतंकवाद का

आरम्भ महाराष्ट्र से हुआ, परन्तु इसका प्रधान केन्द्र बंगाल था। बंगाल में इसके प्रमुख नेता थे श्री अरविन्द घोष के अनुज बीरेन्द्रकुमार घोष और स्वामी विवेकानंद के अनुज भूपेन्द्र दत्त। इन दोनों ने "युगान्तर" और "सन्ध्या" नामक क्रान्तिकारी पत्रों द्वारा आतंकवाद का प्रचार किया। क्रान्तिकारियों के अनेक कार्यक्रमों में नवयुवकों को संगठित कर क्रान्तिकारी दलों की स्थापना करना, देशी बम बनाकर, सरकारी हथियारों को चुराकर तथा विदेशों से छिपकर हथियार खरीदकर शस्त्र एकत्र करना तथा चन्दा और राजनीतिक डकैतियों द्वारा धन एकत्र करना आदि भी थे।

शीघ्र ही आतंकवाद और क्रान्तिकारी कार्य भारत के अन्य प्रान्तों और विदेशों में सक्रिय हो उठे। महाराष्ट्र और लन्दन में गुप्त रूप से क्रान्तिकारी कार्य कर रहे थे, जिसके नेता थे—श्यामजी कृष्ण वर्मा, विनायक दामोदर सावरकर और उनके बड़े भाई गणेश सावरकर। श्री विनायक सावरकर ने महाराष्ट्र में "अभिनव भारतीय सोसाइटी" की स्थापना की तथा इसके माध्यम से आतंकवाद का प्रचार किया। सन् १९०९ में उन्हें कालेपानी की सजा मिली। इसी वर्ष उनके मुकदमे का फैसला करनेवाले नासिक के जिलाधीश श्री जैक्सन को गोली मार दी गयी, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। नवम्बर, १९०९ में लॉर्ड मिण्टो तथा उनकी धर्मपत्नी की गाड़ी पर दो बम फेंके गये। वास्तव में बंग-भंग आन्दोलन ने भारत में ब्रिटिश शासन को हिला दिया था।

सरकार ने देश के उदारवादियों तथा मुसलमानों को अपने पक्ष में मिलाने की दृष्टि से १९०९ में "इण्डियन कौंसिल्स ऐक्ट" पास किया। यह सुधार "मिन्टो-मोर्ले सुधार" के नाम से विख्यात है। परन्तु इस योजना का सबसे बुरा पहलू था साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व एवं निर्वाचनों द्वारा भारतीयों में परस्पर फूट डालना। अतः कुछ अंश में केवल उदारवादियों को छोड़कर देश के अन्य राष्ट्रवादी—उग्रवादी एवं आतंकवादी—इस योजना से संतुष्ट नहीं थे। सन् १९११ में सम्राट् जॉर्ज पंचम भारत आये और उन्होंने, स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए, बंगाल-विभाजन के अन्त की घोषणा की। इसी वर्ष राजधानी को कलकत्ता से दिल्ली हटाने का निर्णय हुआ।

सूरत-विच्छेद के बाद और होमरूल-आन्दोलन के प्रारम्भ (१९१५-१९१६) के बीच के समय में भारतीय राजनीतिक जीवन प्रायः निष्प्राण रहा। मिन्टो-मोर्ले सुधार कार्यान्वित कर दिये गये थे, जिससे उदारवादी बहुत कुछ चुप हो गये। यद्यपि उदारवादी समझते थे कि यह सुधार उन्हें किसी भी प्रकार के वास्तविक अधिकार दिलाने में सफल नहीं हुए थे, फिर भी वे बहुत कुछ सन्तुष्ट दिखायी

देते थे और यदा कदा सरकार की आलोचना करके चुप हो जाते थे। साथ ही सरकार की दमनकारी नीति ने आतकवादियों के आन्दोलन को शिथिल कर दिया था। उग्रवादी नेता भी जेलो मे थे। तिलक माडले मे कैद थे, और अरविन्द घोष पाडिचेरी मे सन्यासी जीवन बिता रहे थे। बगाल के अनेक उग्रवादियो को देश से निर्वासित कर दिया गया था। बगाल-विभाजन का अन्त कर देने के सरकार के निर्णय ने भी भारतीय जनता के उत्साह को शिथिल कर दिया था। उस समय काग्रेस की बागडोर उदारवादियो के हाथ मे थी, जो किसी भी प्रकार के उग्र-आन्दोलन के पक्ष मे नही थे। इन सब कारणो से भारतीय राजनीतिक जीवन मे शिथिलता आ गयी।

सन् १९१४ मे प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश सरकार ने युद्ध के मध्य यह घोषणा की कि वे अपने साम्राज्य-विस्तार अथवा अपने स्वार्थों के लिए युद्ध नही लड रहे है, अपितु "युद्ध में जर्मनी की हार विश्व मे जनतन्त्रवाद की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।" महात्मा गाधी ने, नैतिकता एव उपकार की भावना के आधार पर, भारतीयो से तन-मन-धन से युद्ध मे ब्रिटिश सरकार की सहायता करने की अपील की। भारतीय नेताओ का विश्वास था कि जनतत्र की सुरक्षा के लिए लडे जानेवाले युद्ध का परिणाम जनतत्र का विस्तार ही होना चाहिए। परन्तु सरकार ने इस सम्बन्ध मे कोई घोषणा नही की, और इसके परिणामस्वरूप देश मे पुन. असन्तोष की लहर फैल गयी। देश में "होमरूल आदोलन" प्रारभ हुआ।

लोकमान्य तिलक के जेल से छूट आने तथा ऐनी बेसेंट के राजनीतिक क्षेत्र मे कूद पडने पर भारतवर्ष के राजनीतिक वातावरण में गर्मी आ गयी। तिलक ने २३ अप्रैल, १९१६ को होमरूल लीग की स्थापना की। इसका उद्देश्य तथा विधान वही रखा गया जो काग्रेस का था। उसके तुरन्त बाद ही तिलक महाराष्ट्र के दौरे पर निकल गये तथा नगर नगर और गाँव गाँव मे जाकर अपना सन्देश सुनाने लगे। इससे देश भर के लोगों के हृदयो मे नवीन भावना का सचार हुआ।

तिलक द्वारा होमरूल लीग की स्थापना के छह मास पश्चात् श्रीमती ऐनी बेसेंट ने होमरूल लीग नाम की ही दूसरी सस्था का आयोजन किया। श्रीमती ऐनी बेसेंट ने होमरूल आन्दोलन की प्रेरणा आयरलैण्ड के आन्दोलन से ली थी। उन्होने इस तर्क का, कि भारतवासी स्वय शासन करने योग्य नही है, खण्डन किया। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि काग्रेस होमरूल आन्दोलन शुरू करे। उनका यह भी ध्येय था कि युद्धकाल इस वैधानिक आन्दोलन के लिए सर्वथा उपयुक्त था, परन्तु काग्रेस के नरम दल के नेता किसी भी प्रकार के आन्दोलन का सूत्रपात करने मे झिझक रहे थे। श्रीमती ऐनी बेसेंट ने काग्रेस के "नरम" तथा

"गरम" दलों में समझौता कराने का प्रयास किया। उनके प्रयत्न से कांग्रेस के १९१४ के अधिवेशन में एक संशोधन पास किया गया जिससे उग्रवादी पुनः कांग्रेस में आ सकें, और १९१६ में दोनों दलों में पुनः ऐक्य स्थापित हो गया।

श्रीमती ऐनी बेसेंट का उद्देश्य भारत को जगाना था। उन्होंने आयरलैण्ड के आन्दोलन की भांति ही एक चार सूत्रीय कार्यक्रम रखा। इस कार्यक्रम के भाग थे—(१) स्वदेशी, (२) बहिष्कार, (३) राष्ट्रीय शिक्षा तथा (४) स्वराज्य। श्रीमती ऐनी बेसेंट का विचार था कि स्वशासन भारत का अधिकार है।

सन् १९१७ में होमरूल आन्दोलन अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। सरकार इस आन्दोलन से घबरा उठी तथा उसने इसे कुचल देने का निश्चय किया। इस आन्दोलन के प्रचार को रोकने के लिए सरकार ने 'प्रेस ऐक्ट' का प्रयोग किया। मद्रास सरकार ने श्रीमती ऐनी बेसेंट तथा उनके सहयोगियों को नजरबन्द करने का आदेश दे दिया, जिसका अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी विरोध किया। सारे देश में अशान्ति और असन्तोष फैल गया। उन राष्ट्रीय नेताओं ने भी, जो अभी तक होमरूल से पृथक् थे, इसकी सदस्यता ग्रहण कर ली।

इसी बीच राजनीतिक घटनाचक्र तेजी से घूमता गया। मेसोपोटामियन कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशन ने इंग्लैण्ड तथा भारत में खलबली मचा दी तथा भारतीय राजनीतिक सुधारों को विशेष समर्थन तथा बल मिला। लॉर्ड हार्डिंज की सरकार तथा भारत-मन्त्री, चेम्बरलेन, ने जिस प्रकार युद्ध का संचालन किया था, कमीशन ने उसकी तीव्र आलोचना की। परिणामस्वरूप चेम्बरलेन ने त्यागपत्र दे दिया और उनके स्थान पर मांटेग्यू की नियुक्ति भारत-मन्त्री के पद पर हुई। मांटेग्यू ने भारतीय नीति की नई घोषणा का मसविदा तैयार करने का काम अपने हाथ में ले लिया। इसी बीच मुस्लिम लीग में राष्ट्रवादियों का जोर बढ़ा। परिणामस्वरूप लीग और कांग्रेस एक दूसरे के निकट आये और दोनों में सन् १९१६ में पुनः ऐक्य स्थापित हो गया। जिस योजना के द्वारा लीग और कांग्रेस में ऐक्य स्थापित हुआ वह 'लखनऊ पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ऐक्य द्वारा भारतीय राजनीतिक सुधारों को और अधिक बल मिला। कांग्रेस-लीग पैक्ट द्वारा संवैधानिक सुधारों की एक योजना बनी। मांटेग्यू भारत आये और उन्होंने भारतीय नेताओं से परामर्श किया तथा कांग्रेस-लीग योजना का भी अध्ययन किया। ८ जुलाई, १९१८ को भारत में संवैधानिक सुधार सम्बन्धी योजना का प्रकाशन किया गया। परन्तु सरकार की इस योजना से भारतीय राजनीतिज्ञों को घोर निराशा हुई।

अगस्त, १९१८ में इस योजना पर विचार करने के लिए बम्बई में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। उग्रवादी इस योजना का पूर्णतया विरोध

करना चाहते थे, परन्तु उदारवादी इससे बचना चाहते थे। लीग ने भी इस सुधार-योजना का विरोध किया। फिर भी इस योजना के आधार पर १९१९ का भारतीय *शासन-अधिनियम बना, जिसने प्रान्तों में द्वैध-शासन-व्यवस्था का सूत्रपात* किया। उदारवादियों को छोड़कर अन्य सभी राष्ट्रवादियों ने इस अधिनियम का विरोध किया। उदारवादी लोग उग्रवादियों के विरोध के कारण इस अधिनियम से पूर्व ही (नवम्बर, १९१८ में) कांग्रेस से पृथक् हो गये तथा उन्होंने 'नेशनल लिबरल फेडरेशन' की स्थापना की।

सन् १९१९ से लेकर १९४७ में *भारत के स्वतन्त्र होने तक का समय गांधी-*नेहरू काल के नाम से जाना जाता है, जिसमें भारतीय स्वाधीनता का आन्दोलन तीव्र गति से आगे बढ़ा। इस काल में महात्मा गांधी ने स्वाधीनता आन्दोलन में नये मूल्यों का श्रीगणेश किया तथा गांधी जी और नेहरू जी ने मिलकर उसे नयी दिशा प्रदान की और उसे अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाया।

तृतीय काल (गांधी-नेहरू काल)

महात्मा गांधी भारतीय राजनीति में एक सहयोगी के रूप में प्रविष्ट हुए। जनवरी, १९१५ में गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने अहिंसक सविनय अवज्ञा आन्दोलन की सृष्टि की, जो एक सर्वथा नयी पद्धति थी। इस पद्धति का उन्होंने सफल प्रयोग दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों तथा स्थानीय व्यक्तियों के साथ सरकार की जातिभेद-नीति के विरोध में किया था।

जिन दिनों गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे, उन दिनों विश्वयुद्ध चल रहा था। इस युद्ध में भारत ने भी मित्र-राष्ट्रों की ओर से प्रवेश किया था। स्वदेश लौटने पर लगभग दो वर्षों तक गांधी जी ने एक गवेषक (Explorer) के रूप में देश का भ्रमण किया और वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त की। चम्पारन जिले में नील की खेती होती थी और अंग्रेज उसके मालिक थे। नील के कोठीदार वहाँ के गरीब और भोले किसानों पर तरह तरह का अत्याचार करते थे, और उन्हें नील की खेती करने के लिए विवश करते थे। सन् १९१७ में चम्पारन ने महात्मा गांधी का आह्वान किया। गांधी जी ने निल्हों के अत्याचार से किसानों को बचाने *के लिए सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग किया। इसी समय गांधी जी ने खेड़ा आन्दो-*लन आरम्भ किया, जहाँ वे सरदार वल्लभ भाई पटेल के निकट सम्पर्क में आये। अनावृष्टि के कारण खेड़ा की फसल मारी गयी थी। गांधी जी ने 'कर नहीं दो'

(No Tax Campaign) का आन्दोलन प्रारम्भ किया और सत्याग्रह का प्रयोग किया। दोनों ही आन्दोलनों में गांधी जी को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई।

सन् १९१९ में गांधी जी के राजनीतिक जीवन में एक परिवर्तनकारी मोड़ आया। इस समय भारत के राजनीतिक क्षितिज पर कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हुई और कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनसे प्रभावित होकर सहयोगी गांधी जी असहयोगी बन गये और ब्रिटिश सरकार की न्यायपरायणता में अगाध विश्वास रखने-वाले गांधी जी अंग्रेजी सरकार को 'शैतान' कहने लगे। फरवरी, १९१९ में सर्वोच्च धारा-सभा में दो विधेयक प्रस्तुत हुए, जिन्हें रॉलेट विधेयक कहते हैं। इनके प्रस्तुतीकरण से देश में एक अपूर्व आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। सारे देश ने इसका विरोध किया, फिर भी उनमें से एक को १७ मार्च, १९१९ को पारित कर दिया गया। इसके द्वारा सरकार को राजनीतिक आन्दोलन तथा सरकार के विरुद्ध किसी अन्य कार्य का दमन करने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस ऐक्ट द्वारा भारतीय जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया। गांधी जी ने इसका विरोध किया तथा जनता को सलाह दी कि वह सत्य और अहिंसा द्वारा काले कानून की अवज्ञा का प्रण करे। ६ अप्रैल, १९१९ सारे देश में शोक-दिवस के रूप में मनाया गया तथा उस दिन सभी स्थानों पर हड़ताल रखी गयी। आवेश में आकर भीड़ ने कहीं कहीं हिंसात्मक कार्य भी किये। गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया। गांधी जी की गिरफ्तारी से देश की जनता उत्तेजित हो उठी। पंजाब में सर्वाधिक उत्तेजना फैली। वहां का गवर्नर माइकल ओडायर राष्ट्रीय आन्दोलन का कट्टर विरोधी था तथा उसे कुचलने पर कटिबद्ध था। पंजाब में अनेक लोक-प्रिय नेताओं की गिरफ्तारी ने उसे अराजकता का केन्द्र बना दिया। अमृतसर में मार-काट और विरोध-प्रदर्शन शुरू हुए। कुछ क्रुद्ध लोगों ने सार्वजनिक भवनों को जलाकर राख कर दिया और अनेक यूरोपियनों को मार डाला गया। विवश होकर सरकार ने शहर को सैनिक अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया। जनरल डायर ने, जो जालंधर जिले का कमाण्डर था, १२ अप्रैल, १९१९ को अमृतसर का कार्यभार सँभाला और १३ अप्रैल के दिन जलियाँवाला बाग का लोमहर्षक हत्याकाण्ड हुआ। दूसरे दिन सारे पंजाब में फौजी कानून (Martial Law) जारी कर दिया गया तथा लोगों को भाँति भाँति के दण्ड दिये गये।

जब यह घटना प्रकाश में आयी तो सारे देश में एक सनसनी फैल गयी। देश के विभिन्न भागों में पंजाब की घटनाओं की जाँच पड़ताल की माँग होने लगी। परिणामस्वरूप एक समिति नियुक्त की गयी, जिसे हण्टर कमेटी के नाम से जाना जाता है। इस समिति ने पंजाब के अधिकारियों के कार्यों पर पर्दा डालने का

प्रयत्न किया। जनरल डायर के व्यवहार को एक शुद्ध तथा निष्कपट परन्तु भ्रमाक्रान्त कर्तव्य-भावना की संज्ञा दी गयी। लार्ड सभा में जनरल डायर को ब्रिटिश साम्राज्य का "शेर" कहा गया तथा उसे "मान की तलवार" (Sword of Honour) एवं २,००० पौंड भेंट में दिये गये। इससे भारतीयों के सम्मान को गहरी चोट पहुँची।

लगभग इसी समय ब्रिटिश सरकार की तुर्की के साथ विरोधी एवं अपमान-जनक नीति से असन्तुष्ट होकर भारतीय मुसलमानों ने खिलाफत का आन्दोलन किया। खिलाफत आन्दोलनकर्ताओं की माँग थी कि "तुर्की साम्राज्य का सधारण किया जाय और खिलाफत का ऐहिक एवं आध्यात्मिक संस्था के रूप में अविच्छिन्न अस्तित्व बना रहे।" गाधी जी तथा कांग्रेस ने खिलाफत आन्दोलन का साथ दिया, और कांग्रेस-लीग संयुक्त मोर्चा तैयार किया गया। खिलाफत की समस्या ने असहयोग आन्दोलन चलाने के विचार को, जिसे गाधी जी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक शक्तिशाली शस्त्र के रूप में प्रयोग करना चाहते थे, और अधिक बल दिया।

सितम्बर, १९२० में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसमें असहयोग आन्दोलन चलाने का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। कलकत्ता अधिवेशन में असह-योग आन्दोलन का प्रस्ताव थोड़े बहुमत से पारित हुआ था, क्योंकि श्री सी० आर० दास, श्री बी० सी० पाल, प० मालवीय, श्रीमती ऐनी बेसेंट, मि० जिन्ना आदि इस आन्दोलन के विरोधी थे। परन्तु नागपुर अधिवेशन में, जो दिसम्बर, १९२० में हुआ, भारी बहुमत से यह प्रस्ताव पुनः स्वीकृत हो गया। इस अधि-वेशन में कांग्रेस के संविधान में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इसी अधिवेशन में कांग्रेस का लक्ष्य "पूर्ण स्वराज्य" घोषित किया गया, जिसका अर्थ गाधी जी के शब्दों में था, "जहाँ तक सम्भव हो, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अन्यथा यदि आवश्यक हो तो बाहर।"[1] थोड़े में, स्वराज्य का अर्थ था स्वशासन तथा ब्रिटिश सरकार से सम्बन्ध विच्छेद। दूसरे, अभी तक कांग्रेस का मार्ग वैधानिक मार्ग था, परन्तु इस अधिवेशन में अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सभी शान्तिपूर्ण और उचित साधन को अपनाने का निश्चय किया गया।

गाधी जी ने अली बन्धुओं के साथ सम्पूर्ण देश का दौरा किया और जनता को आन्दोलन में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। गाधी जी के नेतृत्व में १९२१ में यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों ने ही भाग

---

१. डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या, "कांग्रेस का इतिहास", खण्ड १, पृष्ठ २०७-०८ एस० चाँद, दिल्ली, १९६९.

लिया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक विद्यार्थियों ने अपनी शिक्षण संस्थाएँ छोड़ दीं, वकीलों ने वकालत करना बन्द कर दिया तथा बहुतों ने अपनी उपाधियाँ लौटा दीं और आन्दोलन में कूद पड़े। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया और शराब तथा विदेशी कपड़े की दुकानों को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। नवम्बर, १९२१ में प्रिन्स ऑफ वेल्स भारत आये, जिनका समस्त देश ने बहिष्कार किया।

इस आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार ने दमन-नीति का सहारा लिया। मार-पीट, लाठी-दण्ड तथा गोलीकाण्ड इत्यादि अन्धाधुन्ध रूप से सरकार द्वारा अपनाये गये। ३०,००० से अधिक राजनीतिक बन्दी बनाये गये। लेकिन इससे आन्दोलन में कोई शिथिलता नहीं आयी। ४ फरवरी, १९२२ को गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा नामक स्थान में एक दुर्घटना हो गयी। २१ सिपाहियों और एक पुलिस थानेदार को क्षुब्ध जनसमूह ने थाने में जीवित जला दिया। इसी समय मालाबार में और बम्बई में कुछ दंगे हो गये। गांधी जी ने हिंसात्मक प्रवृत्ति को रोकने की दृष्टि से अपने असहयोग आन्दोलन को वापस लेने का निर्णय लिया। बारदोली में कांग्रेस की कार्यकारिणी ने स्थगन के प्रस्ताव पर विचार किया और प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। अनेक नेताओं ने, विशेषतः मुस्लिम नेताओं ने, जिन्हें सत्य और अहिंसा का सिद्धान्त पूर्णतः समझ में भी नहीं आया था, गांधी जी के इस निर्णय से असन्तोष प्रकट किया। गांधी जी की लोकप्रियता, आन्दोलन के स्थगित कर दिये जाने के कारण, बहुत घट गयी। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर सरकार ने गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया और उनपर राजद्रोह का अभियोग चलाकर उन्हें छह वर्षों के लिए कारावास में बन्द कर दिया।

यह सत्य है कि असहयोग आन्दोलन सफल नहीं हो सका तथा गांधी जी द्वारा इसे स्थगित कर देने से देश में निराशा का वातावरण छा गया, फिर भी इससे आन्दोलन का महत्व कम नहीं होता। यह पहला जन-आन्दोलन था, जिसका उद्देश्य स्वराज्य-प्राप्ति था। इसके द्वारा सारे देश में राष्ट्रीयता का तीव्र प्रचार हुआ। इस आन्दोलन के द्वारा कांग्रेस की कार्यप्रणाली में भी परिवर्तन हुए। अभी तक कांग्रेस की नीति वैधानिक साधनों द्वारा अपने उद्देश्य की प्राप्ति थी। परन्तु अब कांग्रेस ने शान्तिपूर्ण ढंग से सभी साधनों के प्रयोग का निश्चय किया। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने सक्रिय आन्दोलन की नीति अपनायी और सरकारी कानूनों की अवज्ञा आरम्भ की।

असहयोग आन्दोलन के शिथिल पड़ने पर हिन्दू-मुस्लिम एकता भी, जो खिलाफत के समय स्थापित हुई थी, प्रायः समाप्त हो गयी और आन्दोलन के विरुद्ध

सरकार का दमन-चक्र तेजी से चलने लगा। कांग्रेस के पास कोई ऐसा कार्यक्रम नही था, जिसके द्वारा जनता का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता था। केवल रचनात्मक कार्य कांग्रेस के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपर्याप्त थे। इसका गम्भीर परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के नेताओ के विचार की दो धाराएँ पुन प्रकट हुई। कांग्रेस के कुछ नेता, जो असहयोग आन्दोलन मे विश्वास नही करते थे, कांग्रेस के कार्यक्रम मे परिवर्तन की माँग करने लगे। खुली कार्यवाही (Direct Action) के स्थान पर ससदवाद की प्रवृत्ति का विकास हुआ और कुछ कांग्रेसी नेताओ ने कौंसिल के बहिष्कार को निरर्थक समझकर 'कौंसिल प्रवेश' का नारा लगाया। इस प्रकार स्वराज्य पार्टी का जन्म हुआ। उन्हे 'प्रो-चेन्जर्स' (Pro-Changers), अर्थात् नीति-परिवर्तन के पक्ष मे, भी कहा जाता था। इनके विरुद्ध जो कांग्रेसी थे, वे गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम मे विश्वास करते थे तथा कौंसिल प्रवेश का विरोध करते थे। क्योंकि ये कांग्रेस की नीति मे परिवर्तन किये जाने के पक्ष मे नही थे, अत. इन्हे 'नो-चेन्जर्स' (No-Changers) भी कहा जाता था।

स्वराज्यवादियो का उद्देश्य वही था, जो गांधीवादियो का था। स्वराज्य पार्टी का उद्देश्य स्वराज्य-प्राप्ति था। पर स्वराज्यवादी अहिंसा आन्दोलन मे विश्वास नही करते थे। उनका उद्देश्य था कि कौंसिल मे प्रवेश कर जनता को अपनी योग्यता का परिचय दें तथा नौकरशाही द्वारा बने किले को अन्दर से नष्ट करें। उनका लक्ष्य था सरकार के कार्यों में बाधा डालना। साथ ही, वे ऐसे विधेयक और प्रस्ताव पास करना चाहते थे, जिनके द्वारा राष्ट्रीय रचनात्मक कार्यक्रम को सहयोग मिले। कौंसिल के बाहर वे गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम को सहयोग देते थे और असहयोग आन्दोलन को नौकरशाही के अत्याचारो के विरुद्ध अन्तिम शस्त्र मानते थे। वास्तव मे उनकी स्थिति अत्यन्त द्विविधापूर्ण एव अस्पष्ट थी।

आरम्भ मे स्वराज्य दल को कुछ सफलता अवश्य प्राप्त हुई, परन्तु आगे चलकर यह दल सरकार के कार्यो मे विघ्न डालने की नीति में अधिक सफल नही हो सका। सन् १९२६ के अन्त तक स्वराज्य दल की शक्ति समाप्त हो गयी। फिर भी, स्वराज्यवादियो का महत्व कम नही होता। स्वराज्य पार्टी का निर्माण उस समय हुआ था, जिस समय असहयोग आन्दोलन प्राय असफल हो चुका था और भारत के राजनीतिक क्षितिज पर निराशा विद्यमान थी तथा समस्त राष्ट्र हतोत्साह होकर निराशा के सागर मे गोते लगा रहा था। ऐसी स्थिति मे स्वराज्यवादियो ने राष्ट्रीयता के प्रकाश को अक्षुण्ण रखकर जनता मे नवस्फूर्ति का सचार किया। उन्होने अपनी अड़गा नीति द्वारा नौकरशाही को तंग किया तथा यह सिद्ध कर दिया कि द्वैध शासनप्रणाली असफल, अव्यावहारिक तथा दोषपूर्ण थी। स्वराज्य

पार्टी ने ही सर्वप्रथम देश के लिए संविधान तथा गोलमेज परिषद् की मांग की। उसकी माँगों पर ही मुडीमैन समिति तथा निर्धारित समय से दो वर्ष पूर्व साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई। स्वराज्य पार्टी ने सरकारी कार्यों की आलोचना, अनुदानों की अस्वीकृति तथा बजट का विरोध कर जनता में उत्साह का संचार किया। साइमन कमीशन ने भी यह स्वीकार किया था कि उस समय स्वराज्य दल ही एक सुसंगठित और अनुशासित दल था जिसके पास एक सुनिश्चित कार्यक्रम था।

१९२७ में साइमन कमीशन की नियुक्ति की गयी। सन् १९१९ के भारत सरकार अधिनियम की धारा ८४ के अनुसार, सुधारों के कार्यान्वित रूप को देखने के लिए १० वर्षों के उपरान्त सरकार द्वारा एक राजकीय कमीशन (Royal Commission) की नियुक्ति की जाती थी, परन्तु कई कारणों से दो वर्ष पूर्व ही कमीशन की नियुक्ति की राजकीय घोषणा की गयी। यह घोषणा ८ नवम्बर, १९२७ के दिन वायसराय लॉर्ड इरविन द्वारा की गयी।

कमीशन के सातों सदस्य ब्रिटिश संसद् के सदस्य थे तथा इसके अध्यक्ष सर जॉन साइमन थे। क्योंकि कमीशन के सभी सदस्य अंग्रेज थे, अतः इससे भारतीय बहुत ही क्षुब्ध हुए। यद्यपि उस समय दो भारतीय ब्रिटिश संसद् के सदस्य थे, तथापि उन्हें कमीशन में सम्मिलित नहीं किया गया था जो भारतीयों के लिए अत्यन्त अपमानजनक था। कांग्रेस ने दिसम्बर, १९२७ के मद्रास अधिवेशन में इस कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय किया। चूँकि कमीशन की नियुक्ति भारतीय प्रतिष्ठा के विरुद्ध थी, अतः मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, उदार संघ, कांग्रेस इत्यादि सभी ने इसकी निन्दा की और इसके बहिष्कार का निश्चय किया। ७ फरवरी, १९२८ को जब आयोग बम्बई में उतरा तो उसका स्वागत देशव्यापी हड़ताल द्वारा किया गया। जिन जिन नगरों में आयोग गया, वहाँ तूफानी प्रदर्शन, काले झण्डे तथा 'साइमन कमीशन वापिस जाओ' के नारे द्वारा उसका स्वागत किया गया। सरकार ने प्रदर्शनकर्ताओं के दमन की पूरी चेष्टा की। पंजाब में प्रदर्शनकर्ताओं का नेतृत्व पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय ने किया। लाला जी उस समय हृदय रोग से पीड़ित थे तथा उनके ऊपर पुलिस द्वारा लाठियों से प्रहार किया गया जिसके फलस्वरूप कुछ सप्ताह बाद उनका देहान्त हो गया। लखनऊ में पुलिस ने जवाहरलाल नेहरू एवं गोविन्दवल्लभ पन्त पर भी लाठियों का प्रहार किया। सरकार की इस दमन नीति ने जनता में प्रतिरोध की भावना को और भी अधिक भड़का दिया। इसी विद्वेषपूर्ण वातावरण में आयोग ने अपनी जाँच-पड़ताल समाप्त की।

कमीशन की रिपोर्ट में भारतीयों की औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की

उपेक्षा की गयी थी। प्रान्तों के गवर्नरों को अभिरक्षणों और रक्षाकवचों से इस प्रकार सुसज्जित कर दिया गया था कि प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की सिफारिश अर्थहीन थी। केन्द्र में उत्तरदायी शासन को स्वीकार नहीं किया गया था। भारतीय नेताओं ने इस रिपोर्ट का बहिष्कार किया।

जिस समय साइमन कमीशन की नियुक्ति की जा रही थी, अनुदार दल के भारत-सचिव लॉर्ड बर्केनहेड ने यह कहा था कि भारतवासियों में परस्पर साम्प्रदायिक विद्वेष इतना अधिक है कि वे अपने लिए किसी भी संविधान का निर्माण करने में असमर्थ हैं। भारतीय नेताओं ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए एक सर्वदलीय सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें २९ संगठन सम्मिलित हुए तथा पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में संविधान का मसविदा तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त हुई। इस समिति की रिपोर्ट "नेहरू रिपोर्ट" के नाम से विख्यात है। रिपोर्ट में जो मुख्य बात कही गयी वह यह थी कि भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जाय तथा उसका स्थान ब्रिटिश शासन में अन्य उपनिवेशों के समान हो। रिपोर्ट में कुछ अन्य प्रमुख सुझाव जो दिये गये, वे इस प्रकार से थे—केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाय, केन्द्र में दो सदनों की व्यवस्था हो, प्रान्तों में भी उत्तरदायी शासन हो, केन्द्र और प्रान्तों के बीच शक्तियों का विभाजन हो, अवशिष्ट अधिकार (Residuary Powers) केन्द्र को दिये जायें, जनता को मूल-अधिकार प्रदान किये जायें, सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की जाय, साम्प्रदायिक निर्वाचन का अन्त किया जाय, इत्यादि इत्यादि।

दिसम्बर, १९२८ के कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस ने इस रिपोर्ट को स्वीकार किया, यद्यपि कांग्रेस के तरुण वर्ग ने इसका विरोध किया। तरुण वर्ग के लोग पूर्ण स्वतन्त्रता के आधार पर इसे स्वीकार करना चाहते थे। सिक्ख इस रिपोर्ट के साम्प्रदायिक अनुबन्धों से सन्तुष्ट नहीं थे। जिन्ना और उनके अनुयायी भी इससे सन्तुष्ट नहीं थे। लीग ने श्री जिन्ना का "चौदह सूत्रीय कार्यक्रम" नेहरू रिपोर्ट के विकल्प के रूप में रखा था। फिर भी, समय को देखते हुए, नेहरू रिपोर्ट प्रगतिवादी थी।

यद्यपि गांधी जी के हस्तक्षेप के कारण औपनिवेशिक स्वराज्य सम्बन्धी नेहरू रिपोर्ट स्वीकार कर ली गयी, तथापि तरुण वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए कलकत्ता अधिवेशन में यह चेतावनी भी सरकार को दे दी गयी थी कि यदि यह विधान ३१ दिसम्बर, १९२९ अथवा इससे पूर्व नहीं माना गया तो कांग्रेस उससे बाध्य न होगी, तथा यदि ब्रिटिश संसद् उस तारीख तक इस विधान को स्वीकार न करेगी तो कांग्रेस देश को सलाह देगी कि वह सरकार को कर देना तथा हर प्रकार की

सहायता देना बन्द कर दे तथा अहिंसात्मक असहयोग को पुनः जारी कर देगी। श्री जवाहरलाल नेहरू तथा नवयुवक वर्ग इस चुनौती से इसलिए सन्तुष्ट हो गया था कि उनको विश्वास था कि सरकार कांग्रेस द्वारा स्वीकृत संविधान को कभी स्वीकार न करेगी तथा उसे पुनः पूर्ण स्वाधीनता के लिए सत्याग्रह आरम्भ कर देना होगा। और वास्तव में अन्त में हुआ भी यही।

१९२९ में देश में विचित्र अशांति का वातावरण फैल गया। मध्यम वर्ग के युवकों में हिंसात्मक प्रवृत्ति बढ़ रही थी। विश्व की आर्थिक मन्दी के साथ भारत में निम्न कोटि की आर्थिक मन्दी आयी हुयी थी। कृषकों, मजदूरों तथा व्यापारियों की स्थिति शोचनीय हो गयी थी। साम्यवादी दल और कृषक संगठन का निर्माण हो रहा था। सरकार साम्यवादियों के दमन का प्रयत्न कर रही थी। इसी सिलसिले में "मेरठ षड्यन्त्र केस" चला था जिसमें ३० साम्यवादी नेता गिरफ्तार किये गये थे। १९२९ में इंगलैण्ड में मजदूर दल पुनः सत्तारूढ़ हुआ था और श्री रैमजे मैकडानल्ड पुनः प्रधान मंत्री बने थे। श्री मैकडानल्ड भारत के लिए "स्वराज्य" के विचार से सहानुभूति रखते थे। प्रधान मंत्री बनने के कुछ महीने पूर्व उन्होंने घोषणा की थी कि भारत ब्रिटिश कामनवेल्थ का औपनिवेशिक राज्य बनेगा। भारतीयों को पुनः यह आशा बँधी थी कि उनके साथ न्याय किया जायगा, परन्तु उनकी आशा पूरी न हो सकी। मजदूर सरकार ने भारत के वायसराय लॉर्ड इरविन द्वारा ३१ अक्टूबर, १९२९ को (सम्राट् की ओर से) जो घोषणा करायी गयी, वह अस्पष्ट थी। इस घोषणा में देशी राज्यों की समस्याओं को सम्मिलित कर समस्या को अधिक जटिल बना दिया गया था। घोषणा में यह नहीं कहा गया था कि भारत को कब औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जायगा। भारत के उदारवादियों ने फिर भी सरकार को भारत के लिए औपनिवेशिक संविधान बनाने में अपना सहयोग देने का वचन दिया। परन्तु कांग्रेस के नवयुवक पूर्णतः असन्तुष्ट थे। वे पूर्ण स्वतंत्रता के हिमायती थे। साथ ही जब मजदूर सरकार को, ब्रिटिश लोकसभा में, अनुदारवादियों ने कटु आलोचना की तथा श्री चर्चिल ने भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान करना एक अपराध बताया और तत्कालीन भारत-मंत्री वेजवुड बेन को यह घोषणा करने पर मजबूर किया गया कि भारत के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा, तो इससे भारत में उत्तेजना फैल गयी।

उत्तेजनापूर्ण और क्षुब्ध वातावरण में दिसम्बर, १९२९ में कांग्रेस का लाहौर में अधिवेशन हुआ, जिसका जवाहरलाल नेहरू ने सभापतित्व किया। अत्यन्त उग्र वातावरण में ३१ दिसम्बर, १९२९ को अर्द्धरात्रि के समय स्वतंत्रता-प्रस्ताव पास

हुआ, जिसमें औपनिवेशिक स्वराज्य को अर्थपूर्ण स्वाधीनता बताया गया। इसके बाद कांग्रेस की कार्यसमिति ने २ जनवरी, १९३० की बैठक में २६ जनवरी को प्रतिवर्ष स्वतंत्रता दिवस मनाने का निश्चय किया। इस निश्चय के अनुसार २६ जनवरी को सारे देश में पूर्ण स्वाधीनता दिवस पर्याप्त उत्साह के साथ मनाया गया। उस समय से २६ जनवरी को प्रतिवर्ष हम स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाते हैं। भारत का नवीन संविधान भी १९५० में २६ जनवरी को प्रवर्तन में आया और अब २६ जनवरी प्रतिवर्ष गणतंत्र दिवस के रूप में मनाया जाता है।

१९३० से लेकर १९३५ तक, जबकि भारत सरकार अधिनियम (The Government of India Act of 1935) पारित हुआ, देश में गांधी जी द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया गया। लन्दन में ब्रिटिश सरकार और भारतीय प्रतिनिधियों के बीच गोलमेज परिषदें आयोजित की गयीं, गांधी-इरविन समझौता हुआ, गांधी जी द्वारा आमरण अनशन का निश्चय किया गया, जिसके फलस्वरूप पूना पैक्ट हुआ, आदि अनेक घटनाएँ हुईं। ६ अप्रैल, १९३० को डांडी में नमक-कानून तोड़कर गांधी जी ने सम्पूर्ण देश में सविनय अवज्ञा का सूत्रपात किया। ४ मई को गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया तथा यरवदा जेल भेज दिया गया। परन्तु इससे अवज्ञा आन्दोलन बन्द होने की बजाय और अधिक तीव्र हुआ। यह आन्दोलन लगभग छह मास तक और चलता रहा। १२ नवम्बर, १९३० को प्रथम गोलमेज सम्मेलन प्रारम्भ हुआ, जिसका कांग्रेस ने बहिष्कार किया। २५ जनवरी, १९३१ को कांग्रेस के सभी नेता छोड़ दिये गये, तथा ५ मार्च, १९३१ को गांधी-इरविन समझौते के फलस्वरूप आन्दोलन को स्थगित कर दिया गया। नवयुवक वर्ग इस समझौते से पूर्ण असन्तुष्ट था। ७ सितम्बर, १९३१ को द्वितीय गोलमेज सम्मेलन आरम्भ हुआ, जिसमें गांधी जी सम्मिलित हुए परन्तु क्योंकि अंग्रेज सरकार भारतवासियों को साम्प्रदायिक तथा सामाजिक भेदों की भूलभुलैया में डालकर सारी समस्या इस प्रकार हल करना चाहती थी जिससे भारतवासियों को कम से कम अधिकार देने पड़ें, अतः गांधी जी लन्दन से खाली हाथ भारत वापस लौटे। २१ दिसम्बर को वे बम्बई पहुँच गये। लौटने पर उन्होंने कहा कि यद्यपि "मैं खाली हाथ लौटा हूँ पर मैंने अपने देश की इज्जत पर बट्टा नहीं लगने दिया।"

गांधी जी ने द्वितीय गोलमेज में ही घोषित कर दिया था कि यदि अछूतों को हिन्दुओं से पृथक् करने की चेष्टा की गयी तो वे उसे रोकने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देंगे। मैकडॉनल्ड निर्णय (ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की १७ अगस्त, १९३२ की घोषणा 'मैकडॉनल्ड निर्णय', 'Macdonald Award' के नाम से

प्रसिद्ध है) में अछूतों के लिए पृथक्-निर्वाचन-क्षेत्र की व्यवस्था से गांधी जी को बहुत ठेस पहुँची। १८ अगस्त को उन्होंने निर्णय लिया कि वे इस उपबन्ध के विरुद्ध आमरण अनशन करेंगे। गांधी जी ने अपना अनशन २० सितम्बर को यरवदा जेल में आरम्भ किया तथा उन्होंने कहा कि इस अनशन को तोड़ने का निर्णय तभी होगा जब सरकार अछूतों के पृथक् निर्वाचन सम्बन्धी निर्णय को वापस ले लेगी। इससे भारतीय नेताओं में चिन्ता व्याप्त हो गयी, और वे कोई ऐसा हल निकालने में जुट गये जो कि गांधी जी को मान्य हो। २४ सितम्बर को एक हल निकल आया जिसे गांधी जी ने स्वीकार कर लिया। इसे 'पूना पैक्ट' कहा जाता है, जिसे बाद में हिन्दू महासभा तथा ब्रिटिश सरकार ने भी स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि अछूत उम्मीदवार सम्मिलित निर्वाचित क्षेत्रों द्वारा चुने जायेंगे। २६ सितम्बर, १९३२ को सायंकाल गांधी जी ने उपवास तोड़ दिया। ८ मई, १९३३ को गांधी जी को जेल से रिहा कर दिया गया। सविनय अवज्ञा का जन-आन्दोलन गांधी जी द्वारा स्थगित कर दिया गया। परन्तु व्यक्तिगत आन्दोलन मार्च, १९३४ तक चलता रहा।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन १७ नवम्बर, १९३२ को आरम्भ हुआ। उस समय राष्ट्रीय नेता जेल में थे। इस सम्मेलन में सरकार ने अत्यन्त प्रतिक्रियावादी नीति अपनाई। मार्च, १९३३ में सरकार ने एक श्वेतपत्र का प्रकाशन किया जिसमें भारत के भावी संविधान के सम्बन्ध में प्रस्ताव किये गये। ये प्रस्ताव इतने प्रतिगामी थे कि भारत के प्रत्येक प्रगतिशील लोकमत के लिए सर्वथा अस्वीकार्य थे। भारत में इनका विरोध किया गया परन्तु सरकार ने इसपर ध्यान नहीं दिया। संसद् की दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर समिति ने भी इसपर विचार कर अपनी सम्मति दी तथा फलस्वरूप इसमें जो संशोधन किये गये, उन्होंने इसे और भी बिगाड़ दिया। इसी के आधार पर एक विधेयक (ब्रिटिश) संसद् में प्रस्तुत किया गया, जो स्वीकृत होकर १९३५ का 'भारतीय शासन अधिनियम' कहलाया।

यह अधिनियम भारत के वैधानिक इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि इसने सर्वप्रथम भारतीय शासन को एक संघात्मक रूप दिया। परन्तु इस अधिनियम के नाम से की गयी सुधार-योजना प्रतिक्रियावादी थी। श्री ए०बी० कीथ के अनुसार इस अधिनियम द्वारा एक ओर तो भारतीयों को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की गयी थी कि उन्हें सब कुछ दे दिया गया है और दूसरी ओर संरक्षणों की व्यवस्था कर अंग्रेजों को यह विश्वास दिलाया गया कि कुछ भी नहीं खोया है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस अधिनियम को 'दासता का घोषणापत्र' (Charter of Slavery) कहकर इसकी भर्त्सना की। इस अधिनियम ने ब्रिटिश

व्यापार, उद्योग, बैंकिंग तथा जहाजी व्यापार को, जिनका पहले से ही आधिपत्य था, अब और अधिक सुदृढ़ किया। इस विधान के अनुसार भारत के राजस्व, सेना तथा वैदेशिक नीति सब मामलों में पूर्ण नियन्त्रण पूर्ववत् ब्रिटिश हाथों में ही बना रहा। सत्य तो यह है कि इस विधान ने वायसराय को पहले से भी अधिक शक्तियाँ सौंप दीं। भारत के सभी वर्गों ने इस सुधार-योजना की तीव्र आलोचना की। लीग ने अप्रैल, १९३६ के अपने बम्बई अधिवेशन में इसकी आलोचना करते हुए प्रान्तीय सुधारों को स्वीकार किया, किन्तु केन्द्रीय सुधारों को अस्वीकार कर दिया।

इस अधिनियम के अधीन १९३७ में निर्वाचन हुए जिसमें लीग ने विभिन्न प्रान्तों के विधान मण्डलों के चुनाव में भाग लिया। इस निर्वाचन में कांग्रेस ने भी भाग लिया और आशातीत सफलता प्राप्त की। बम्बई, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त और सीमा प्रान्त में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बने। कांग्रेस पद ग्रहण करे अथवा नहीं, इस प्रश्न पर दक्षिणपंथियों तथा वामपंथियों में काफी मतभेद था। श्री नेहरू और सुभाष कांग्रेस द्वारा पदग्रहण करने अथवा मन्त्रि-मण्डल बनाये जाने के पक्ष में नहीं थे, जबकि श्री राजगोपालाचारी, सरदार पटेल, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद आदि इसके पक्ष में थे। कांग्रेस में दक्षिणपंथियों का बहुमत था, अतः निर्णय उनके पक्ष में हुआ। परन्तु पदग्रहण करने के लिए एक आवश्यक शर्त यह रखी गयी कि *कांग्रेस तभी अपने बहुमत वाले प्रान्तों में मंत्रिमण्डल बना*-येगी जब कि गवर्नर उन्हें यह आश्वासन दे दें कि वह मंत्रियों के वैधानिक कार्यों में अपनी असाधारण शक्तियों द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस बात का विश्वास होने पर ही कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बने। परन्तु जन प्रतिनिधित्व करनेवाले कांग्रेसी मंत्रिमण्डल अधिक समय तक बने न रह सके। द्वितीय महायुद्ध शीघ्र ही आरम्भ हो गया। ३ सितम्बर, १९३९ को इंग्लैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और वायसराय ने भारतीय नेताओं से परामर्श किये बिना भारत को भी युद्धलिप्त राष्ट्र घोषित कर दिया। इसके विरोध में नवम्बर महीने के प्रथम सप्ताह में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये, और गवर्नर प्रान्तीय शासन को १९३५ के भारत शासन अधिनियम की धारा ९३ के अधीन संचालित करने लगे। यह देश के लिए शोक का पैगाम था, लेकिन मुस्लिम लीग और उसके कर्णधार श्री जिन्ना इससे बहुत ही प्रसन्न थे, क्योंकि उनकी दृष्टि से अन्ततः कांग्रेसी शासन का अन्त हुआ और उन्हें त्राण मिला। १९४० से पृथक् राज्य पाकिस्तान की माँग लीग द्वारा की जाने लगी, और यह आगामी वर्षों में निरन्तर जोर पकड़ती गयी जिसके फलस्वरूप देश में दंगे हुए और अन्त में भारत का विभाजन कर दिया गया।

कांग्रेस का कहना था कि पहले ब्रिटिश सरकार अपने युद्ध के उद्देश्यों को

स्पष्ट करे तथा यह आश्वासन दे कि युद्ध के पश्चात् भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायेगी, तभी कांग्रेस युद्ध में ब्रिटिश सरकार का समर्थन कर सकती है। श्री नेहरू ने निरन्तर सरकार पर अपनी युद्धनीति स्पष्ट करने का जोर डाला। कांग्रेस ने १४ सितम्बर, १९३९ को युद्ध के उद्देश्य सम्बन्धी प्रस्ताव पास किया, जिसके निर्माता श्री नेहरू ही थे।[१] जब सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया तो कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। क्योंकि भारत में जनमत, सरकार की अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से भारत को युद्ध में घसीटने की नीति के विरुद्ध था, अतः सरकार ने समस्या का कुछ समाधान ढूँढने का प्रयत्न किया। इसका एक विशेष कारण यह था कि इंग्लैण्ड की १९४० के मध्य युद्ध में स्थिति संकटापन्न हो गयी थी। ८ अगस्त, १९४० को वायसराय ने अपने वक्तव्य में औपनिवेशिक स्वराज्य को भारत का लक्ष्य घोषित किया तथा अन्य बातों के साथ अपनी कार्यकारिणी के विस्तार तथा एक युद्ध सलाहकार समिति की नियुक्ति की बात कही, परन्तु ब्रिटिश सरकार की नीति, विशेषकर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चिल की घोषणाओं को देखते हुए, कांग्रेस वायसराय की घोषणा से सन्तुष्ट नहीं थी। कांग्रेस अध्यक्ष श्री मौलाना आजाद का कहना था कि कांग्रेस द्वारा स्वाधीनता की माँग तथा वायसराय की कार्यकारिणी समिति के विस्तार में कोई समन्वय नहीं है। यद्यपि इस घोषणा से कांग्रेस की कुछ माँगें पूरी हो जाती थीं, सरकार ने भारतीयों को भावी संविधान निर्माण करने का भी उत्तरदायित्व दे दिया, परन्तु फिर भी इससे भारत की तत्कालीन वैधानिक स्थिति में न तो कोई परिवर्तन ही होता था और न कोई स्पष्ट वायदे किये गये थे। अतः गतिरोध बना रहा। गांधी जी ने स्थिति से निपटने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह की योजना बनायी। गांधी जी को स्वयं सत्याग्रहियों का चयन करना था जो इस बात का प्रचार करते हुए कि युद्ध में धन तथा जन से सहायता देना अनुचित है, गिरफ्तार हो जाते। सत्याग्रह आरम्भ होने से पूर्व ही वायसराय ने अपनी कार्यकारिणी का आंशिक भारतीयकरण (भारतीयों की संख्या में वृद्धि—१३ में से ८ भारतीय) कर दिया। कांग्रेस ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया और उसके द्वारा चलाया गया व्यक्तिगत सत्याग्रह चलता रहा।

७ दिसम्बर, १९४१ को जापान युद्ध में मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध कूद पड़ा। अंग्रेजों की स्थिति अब बहुत ही चिन्ताजनक हो गयी और ब्रिटिश सरकार भारतीयों का सहयोग पाने की इच्छुक हो गयी। उसने धीरे धीरे सभी राजनीतिक बन्दियों

---

१. मौलाना आजाद, "इण्डिया विन्स फ्रीडम", कलकत्ता (१९६७), पृष्ठ २२-२६.

को छोड़ दिया। यद्यपि गांधी जी ब्रिटिश सरकार के रुख से तनिक भी प्रभावित नहीं हुए तथा वे आन्दोलन को स्थगित करने के पक्ष में नहीं थे, तथापि कांग्रेस की कार्यकारिणी ने परिवर्तित परिस्थितियों में व्यक्तिगत सत्याग्रह स्थगित करने का निर्णय लिया। ब्रिटिश सरकार भी भारत-विषयक नीति में संशोधन करने को विवश थी। ११ मार्च, १९४२ को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने लोकसभा में घोषणा की कि युद्ध की समाप्ति पर यथासम्भव शीघ्र से शीघ्र भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जायगा। श्री चर्चिल की इस घोषणा का भारत में स्वागत किया गया। २३ मार्च, १९४२ को सर स्टैफर्ड क्रिप्स (ब्रिटिश युद्ध मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य) ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों सहित भारत आये। उन प्रस्तावों में कांग्रेस की दो माँगों को स्वीकार किया गया था—(१) युद्ध के बाद औपनिवेशिक राज्य की स्वीकृति तथा (२) संविधान निर्माण के हेतु एक संविधान-निर्मात्री परिषद् का गठन। इस दृष्टि से यह योजना १९४० की अगस्त योजना से अधिक स्पष्ट एवं निश्चित थी, फिर भी इसमें कुछ ऐसे दोष थे जिनके कारण कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। इसमें औपनिवेशिक स्वराज्य देने की कोई अवधि निश्चित नहीं की गयी थी; देशी राजाओं को अपनी जनता की राय के बिना अपने प्रतिनिधियों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया था तथा देशी राज्यों एवं लीग को प्रसन्न करने के लिए देशी राज्यों और मुस्लिम-बहुल प्रान्तों को यह अधिकार दिया गया था कि वे स्वयं भारत-संघ में सम्मिलित होने का निर्णय करें। साथ ही युद्धकाल में देश की रक्षा का समस्त भार अंग्रेजों के हाथ में रखा गया था। इन्हीं दोषों के कारण क्रिप्स के प्रस्ताव अप्रभावपूर्ण प्रमाणित हुए और अस्वीकृत कर दिये गये।

क्रिप्स योजना की विफलता से सम्पूर्ण देश में नैराश्य का वातावरण छा गया। युद्ध में अंग्रेजों की निरन्तर पराजय होती जा रही थी और जापान भारत की उत्तरी-पूर्वी सीमा की ओर वेग से बढ़ता चला आ रहा था। भारत के लोग दासों की भाँति सरकारी अफसरों के आदेशों का पालन कर रहे थे। इस विषम परिस्थिति में गांधी जी के विचारों में परिवर्तन हुआ। उनकी प्रेरणा से तथा उनके विचारों से सहमति रखते हुए, ८ अगस्त, १९४२ को कांग्रेस की महासमिति ने अपनी बम्बई की बैठक में प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का प्रस्ताव पारित किया। गांधी जी ने सभी भारतीयों से संगठित रहने की अपील की। उन्होंने यह घोषणा की कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए यह उनके जीवन का अन्तिम संग्राम होगा और 'करो या मरो' के सिद्धान्त पर आधारित होगा। पर इस सिद्धान्त का शान्तिपूर्वक ढंग से ही पालन किया जाना चाहिए, यह भी गांधी जी ने स्पष्ट कर दिया था।

९ अगस्त के प्रातःकाल ही गांधी जी तथा कांग्रेस के अन्य नेता बन्दी बना लिये गये तथा सरकार ने दमनकारी नीति का आश्रय लिया। इससे सर्वत्र उत्तेजना फैल गयी और उसने हिंसात्मक कार्यवाही का रूप धारण कर लिया। इसी समय नेता जी सुभाषचन्द्र बोस, जो पहले ही सरकार की आँखों में धूल झोंककर भारत से बाहर भाग गये थे, बर्मा में आजाद हिन्द सेना का संगठन करके बर्मा की ओर से भारत की ओर बढ़ रहे थे तथा अपने रेडियो भाषणों से जनता को सरकार के विरुद्ध क्रान्ति करने का सन्देश दे रहे थे। इससे क्रान्ति और भी तीव्र हो गयी। इस क्रान्ति ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव हिला दी और यह सिद्ध कर दिया कि स्वाधीनता के लिए भारतवासी मर मिटने को तैयार हैं। यद्यपि इसे कठोरता से दबा दिया गया और १९४३ तक यह शिथिल पड़ गयी, फिर भी ब्रिटिश शासन को यह पता चल गया कि अब उसे आगे चलाने के लिए एक बड़ी ब्रिटिश सेना की आवश्यकता होगी, जिसके लिए इंग्लैण्ड असमर्थ था। इस प्रकार १९४२ की क्रान्ति ने भारतीय स्वतन्त्रता की भूमि तैयार कर दी।

सरकार ने विश्व के जनमत को अपने पक्ष में लेने के लिए गांधी जी और कांग्रेस पर यह झूठा आरोप लगाया कि उन्होंने जनता को हिंसात्मक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया है। क्षुब्ध होकर गांधी जी ने कारावास में ही २१ दिन का ऐतिहासिक अनशन शुरू किया। गांधी जी के इस उपवास की विश्वव्यापी प्रतिक्रिया हुई। इंग्लैण्ड में भी गैर-सरकारी क्षेत्र में गहरी चिन्ता व्यक्त की गयी। गांधी जी का उपवास जेल में ही पूर्ण हुआ और ब्रिटिश सरकार की इससे विश्व भर में बहुत बदनामी हुई।

१९४३ से लेकर १९४७ तक के बीच, जबकि भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई, भारतीय स्थिति का अध्ययन करने तथा राजनीतिक गतिरोध के समाधान हेतु विभिन्न घोषणाएँ की गयीं तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा विभिन्न स्तरों पर विचार विमर्श किये गये। युद्धोपरान्त इंग्लैण्ड में नया निर्वाचन हुआ, जिसमें श्री चर्चिल की सरकार का पतन हुआ और लेबर पार्टी की सरकार ने २६ जुलाई, १९४५ को कार्यभार सँभाला। परिस्थितियाँ भारत के पक्ष में तीव्रता से बदलने लगीं। फरवरी, १९४६ में भारतीय नौसेना ने अंग्रेज अफसरों के दुर्व्यवहार से तंग आकर उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। बम्बई, कलकत्ता, विजगापट्टम आदि स्थानों में हड़तालें हुईं। कराची में भारतीय तथा ब्रिटिश सैनिकों में भिड़न्त हो गयी। यद्यपि भारतीय नेताओं के बीच-बचाव से शीघ्र ही यह विद्रोह समाप्त हो गया, तथापि इससे यह स्पष्ट हो गया कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भविष्य खतरे में

है। नाविक विद्रोह ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के पक्ष को अत्यधिक बल दिया। २३ मार्च, १९४६ को मन्त्रिमण्डल का शिष्टमण्डल (Cabinet Mission) भारत आया, जिसने भारत में अंग्रेज शासकों एवं भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श कर १६ मई, १९४६ को अपनी योजना प्रस्तुत की। इसके आधार पर श्री नेहरू के नेतृत्व में २४ अगस्त, १९४६ को अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई, जिसने २ सितम्बर को कार्यभार सँभाला। यह सरकार लीग की इच्छा के बिल्कुल विरुद्ध थी। वायसराय लॉर्ड वैवेल के मनाने पर लीग ने २५ अक्टूबर को अन्तरिम सरकार में प्रवेश किया। यह अन्तरिम सरकार लीग की नीति से प्रोत्साहित साम्प्रदायिक दंगों के दमन में असफल रही। लीग के प्रवेश का उद्देश्य सरकार को सफल बनाना नहीं था, वरन् उसके कार्यों में अड़गा डालना था। वह अपनी स्थिति को दृढ़ करना तथा पाकिस्तान की माँग को स्वीकार कराना चाहती थी। अतः उसने श्री नेहरू के नेतृत्व से असहयोग किया, किन्तु अन्तरिम सरकार में बनी रही। ९ दिसम्बर, १९४६ से *संविधान-निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ, जिसमें लीग* ने भाग नहीं लिया। राजनीतिक गतिरोध चलता रहा।

मार्च, १९४७ में वैवेल के स्थान पर माउण्टबेटन भारत के वायसराय बनकर दिल्ली आये। वे आते ही भारत की राजनीतिक समस्या के हल में प्रयत्नशील हो गये। ३ जून, १९४७ को उन्होंने अपनी योजना प्रस्तुत की जो 'माउण्टबेटन योजना' के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना में पाकिस्तान का निर्माण स्वीकार कर लिया गया। कांग्रेस के समक्ष इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। वह अंग्रेजों की कूटनीति से तंग आ चुकी थी और अब अधिक समय तक स्वतन्त्रता के लिए प्रतीक्षा नहीं करना चाहती थी। अतः भारत के विभाजन के विरुद्ध रहते हुए भी कांग्रेस ने पाकिस्तान की माँग को स्वीकार कर लिया। *'माउण्टबेटन योजना' के अनुसार भारत को दो उपनिवेशों में विभाजित कर दिया* गया—भारत और पाकिस्तान। १५ अगस्त को भारत पर से सम्राट् की सरकार का नियन्त्रण समाप्त हो गया और भारत एवं पाकिस्तान दो स्वतन्त्र राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

राष्ट्रीय आन्दोलन के पश्चात् अब हम उन प्रमुख राजनीतिक चिन्तकों एवं उनके विचारों का अध्ययन करने का प्रयास करेंगे, जिन्होंने (मेरी दृष्टि में) या तो स्वाधीनता आन्दोलन को सर्वाधिक प्रभावित किया अथवा जिन्होंने स्वतन्त्रता के बाद भारत को नवीन दिशा प्रदान की है तथा उसके राजनीतिक चिन्तन को प्रमुख रूप से प्रभावित किया है।

बाल गंगाधर तिलक (१८५६-१९२०) :

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का जन्म १८५६ में महाराष्ट्र में चितपावन ब्राह्मण कुल में हुआ। अर्थात् मराठा राज्य पर अंग्रेजों द्वारा अधिकार स्थापित कर लिये जाने के ३८ वर्ष बाद श्री तिलक का जन्म हुआ था।

श्री तिलक की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे केवल एक उच्च कोटि के राजनीतिक जननेता ही नहीं थे, प्रत्युत एक प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, चिन्तक, विद्वान्, लेखक एवं सफल पत्रकार भी थे। संस्कृत एवं गणित में उन्हें उनके पिता द्वारा शिक्षा दी गयी थी। उनके ऊपर प्राचीन भारत की धार्मिक एवं आध्यात्मिक परम्पराओं का गहरा प्रभाव था और यही कारण था कि वे प्राचीन भारतीय मूल्यों के प्रबल समर्थक थे। मराठा इतिहास एवं शिवाजी महान् की उपलब्धियों के प्रति भी वे पूर्ण सजग थे।

श्री तिलक, स्वयं अंग्रेजी शिक्षा में दक्ष होकर भी, इस बात से चिन्तित थे कि अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय युवकों को अपनी राष्ट्रीय परम्पराओं से दूर कर दिया है। वे ऐसी शिक्षा के समर्थक थे जो भारतीय युवकों में अपने देश की संस्कृति तथा उसके मूल्यों के प्रति उनमें आदर के भाव जागृत कर सके। उनके संस्कृत के ज्ञान ने उन्हें भारतीय संस्कृति के स्रोतों एवं भारतीय दर्शन तथा चिन्तन का समुचित ज्ञान कराया। संस्कृत का अध्ययन करना उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया था तथा भारत के संस्कृत के विद्वानों में उनका प्रमुख स्थान था। अपने संस्कृत एवं गणित के ज्ञान के आधार पर उन्होंने 'ओरियन, स्टडीज इन दि एन्टिक्विटी ऑफ दि वेदाज' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद की स्थापना ईसा से लगभग ४,५०० वर्ष पूर्व हुई थी। इस ग्रन्थ की पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत सराहना की है। वेदों के ऊपर उन्होंने एक अन्य पुस्तक 'दि आर्कटिक् होम ऑफ दि वेदाज' की भी रचना की जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आर्य लोग पहले एशिया महाद्वीप के सुदूर उत्तरी छोरों (northern reaches) पर निवास करते थे। यह उनकी अत्यन्त मौलिक पुस्तक मानी जाती है। एक पुस्तक 'वैदिक क्रॉनॉलॉजी' का प्रकाशन उनकी मृत्यु के पश्चात् हुआ था, जिसमें उनकी अन्य शोध सामग्री संकलित है। पर इन सब में प्रधान पुस्तक उनकी 'गीता रहस्य' है, जिसे उन्होंने माण्डले जेल में लिखा था। इसमें गीता के उपदेशों का दार्शनिक अध्ययन एवं उनकी व्याख्या करने का सफल प्रयास किया गया है। कर्मयोग के सिद्धान्त की व्याख्या एवं उसका प्रतिपादन करना ही इसमें श्री तिलक का विशिष्ट उद्देश्य रहा

है। इसके माध्यम से वे भारतवासियों को जीवन में धर्म की प्रधानता सिखाना चाहते थे। उन्हें भारतीयों की शक्ति पर पूर्ण विश्वास था।

तिलक के सम्बन्ध में महात्मा गांधी का कहना था कि वे हिमालय की भाँति महान् तथा ऊँचे व्यक्ति थे तथा देशप्रेम की ज्योति जगानेवाले पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने स्वराज्य की प्राप्ति को अपना जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया। वे जन्मजात योद्धा थे तथा उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था—भारत की सोई हुई आत्मा को गहन निद्रा से जगाकर उसमें चेतना का संचार करना, जिससे वह पुनः अपने गौरवशाली अतीत को प्राप्त कर सके। तिलक सन् १९०० से १९१८ तक भारतीय राजनीतिक क्षेत्र के एक महान् नेता थे तथा उनका जनता के ऊपर बहुत अधिक प्रभाव था। लेकिन उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम केवल राजनीतिक स्तर पर ही नहीं लड़ा, प्रत्युत उसके लिए शिक्षा एवं सामाजिक क्षेत्रों का भी उपयोग किया।

राष्ट्रीय शिक्षा के माध्यम से वे भारतीय युवक को राष्ट्र के गौरवशाली अतीत के दर्शन कराना चाहते थे तथा उसे खोये हुए राष्ट्रगौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्ष-रत रहने की प्रेरणा देना चाहते थे। भारतीय शिक्षा के प्राचीनीकरण पर वे अधिक बल देते थे। उन्होंने अपने मित्रों—श्री जी० जी० आगरकर एवं वी० के० चिप्लूणकर—के साथ मिलकर सस्ती शिक्षा की योजना बनाई और सन् १८८० में 'पूना न्यू इंगलिश स्कूल' खोला। दक्षिण शिक्षा समिति एवं फर्ग्युसन कॉलेज, पूना की स्थापना में भी उनका हाथ था। एन० सी० केलकर के अनुसार इन तीनों मित्रों का उद्देश्य (विशेषकर श्री तिलक का) शिक्षा का भारतीयकरण करना तथा देश में सामाजिक एवं राजनीतिक सुधार करना था। श्री केलकर के शब्दों में, "इन सभी का उद्देश्य था कि राष्ट्र अपने गौरवशाली अतीत के बारे में ज्ञान प्राप्त करे, जिससे उसका अपनी शक्ति में विश्वास जागृत हो तथा वह परिवर्तित परिस्थितियों में, बिना अपने व्यक्तित्व को खोये, अपने को ढाल सके।"[1] श्री तिलक ने अपने मित्र आगरकर की सहायता से 'मराठा' और 'केसरी' दो समाचारपत्र प्रकाशित करने आरम्भ किए। इन समाचारपत्रों ने जनता में जागृति फैलाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। जब कभी भी वे किसी बात के लिए तत्पर हो जाते थे तो फिर पीछे हटना उनके लिए असम्भव था। वे भारत

१. एन० सी० केलकर, 'प्लेज़र्ज ऐण्ड प्रिविलेजेज ऑफ दि पेन,' भाग १, पृष्ठ १२१.

के पश्चिमीकरण के विरोधी थे तथा धर्म में उनकी असीम आस्था थी। भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी श्रेष्ठ एवं महान् है उसके वे उपासक थे। भारत को अपने गौरवपूर्ण अतीत से वर्तमान अधोगति तक लाने के लिए वे अंग्रेजों को उत्तरदायी समझते थे। वैलेन्टाइन शिरोल[1] ने उन्हें राष्ट्रवाद (जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म था) का महान् पुजारी तथा शासन के विरुद्ध विद्रोह फैलानेवालों में अग्रदूत कहा। उसके अनुसार वस्तुतः तिलक ही भारतीय अशान्ति के जन्मदाता थे। उनमें संगठन करने की अपूर्व क्षमता थी तथा जिस योग्यता से उन्होंने गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव तथा अन्य समितियों का संगठन करके भारत में राष्ट्रीयता की भावना फैलाने का अथक प्रयत्न किया, वैसी योग्यता उस समय के किसी भी राजनीतिज्ञ में नहीं दिखाई देती।

श्री तिलक को आधुनिक भारत का कौटिल्य कहा गया है। उनका विश्वास था कि लक्ष्य के न्यायपूर्ण होने पर सब साधन न्यायपूर्ण होते है। भारत की स्वाधीनता के लिए वे सभी साधनों को उचित मानते थे। अपनी पुस्तक 'गीता रहस्य' में उन्होंने कहा है कि "महापुरुष सामान्य नैतिक सिद्धान्तों से ऊपर होते हैं"। गीता का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा, "यदि हम स्वार्थ की भावनाओं से प्रेरित नहीं, तो अपने गुरुओं तथा सम्बन्धियों की हत्या में भी कोई पाप नहीं होगा।"[2] इतना होते हुए भी तिलक ने हिंसा का प्रचार नहीं किया, परन्तु उन्होंने अन्यों को इस बात के लिए नहीं रोका कि वे जनता को विदेशी शासन के प्रति न भड़काएँ। वे यह भली भाँति समझते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में हिंसा कभी भी सफल नहीं हो सकती।

लोकमान्य तिलक अपने समय के पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप दिया। वे उदारवादियों के विचारों तथा साधनों से सन्तुष्ट नहीं थे। वे राजनीतिक अधिकारों को भिक्षा के रूप में प्राप्त करना नहीं चाहते थे, वरन् वे चाहते थे कि लोग साहसी, निर्भय, स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर बनें। उदारवादियों ने केवल वाणी का प्रयोग किया तथा वैयक्तिक त्याग करने से भागते रहे, वहाँ तिलक अपने विचारों एवं कार्यों के लिए वैयक्तिक त्याग करने को सदैव प्रस्तुत रहे। वे अपने अध्यवसाय, अनुराग, बलिदान, साहस तथा दृढ़ निश्चय के बल पर अपने मार्ग से कभी विचलित नहीं हुए। १९०७ में सूरत के अधिवेशन में उनमें तथा उदारवादियों में भारी मतभेद उत्पन्न हो गया और विवश

---

१. वैलेन्टाइन शिरोल, 'इण्डियन अनरेस्ट', पृष्ठ ४०-४१.
२. तिलक, 'गीता रहस्य', पृष्ठ ४६-४७.

होकर उन्हें कांग्रेस को छोड़ना पड़ा। तिलक की प्रसिद्धि तथा लोकप्रियता इस समय पराकाष्ठा तक पहुँच गयी थी और सरकार उनके उग्रवादी दृष्टिकोण से भयभीत हो चुकी थी। सूरत कांग्रेस की फूट से सरकार ने लाभ उठाया और उग्रवादी तथा क्रान्तिकारियों को कुचलने के लिए सख्त कानून बनाये। १९०८ में तिलक को छह वर्ष की कैद की सजा देकर माण्डले (बर्मा) भेज दिया गया। यहीं पर तिलक ने "गीता रहस्य" तथा "आर्कटिक होम ऑफ दि वेदाज" नामक पुस्तकों की रचना की थी, जिनके सम्बन्ध में ऊपर लिखा गया है। १९१४ में जेल से मुक्त होने पर उन्होंने पुनः राष्ट्रीय संगठन का कार्य किया। १९१६ में उन्होंने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए होमरूल लीग की स्थापना की और आन्दोलन चलाया। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के प्रयत्नों से तिलक पुनः कांग्रेस में आ मिले, और १९२० तक इसी में कार्य करते रहे।

अंग्रेजों की दृष्टि में यद्यपि तिलक भारतीय असन्तोष के जन्मदाता थे, तथापि उनका उद्देश्य किसी सशस्त्र विद्रोह को फैलाना नहीं था। इसके विपरीत वे कानून के अन्दर रहकर ही भारत की जनता में स्वराज्य के लिए अधिकाधिक जागृति फैलाना चाहते थे। स्वराज्य से तिलक का अभिप्राय यह नहीं था कि ब्रिटिश सम्राट् के शासन को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाय, प्रत्युत यह था कि भारतीयों को अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों की भाँति औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) प्राप्त हो जाय। वे विदेश-नीति पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण रहने देने के लिए भी तैयार थे। प्रान्तों को वे भाषा के आधार पर बाँटना चाहते थे। उनका विचार था कि भारत के लिए संघात्मक सरकार ही श्रेष्ठ होगी।[1] प्रथम महायुद्ध के बाद जब पेरिस में शान्ति-सम्मेलन आरम्भ हुआ, तो लोकमान्य तिलक ने २१ मार्च, १९१९ को अपने स्मरणपत्र की एक प्रति शान्ति सम्मेलन के प्रधान मि० क्लेमेन्शो को भेजी। इस स्मरणपत्र में तिलक ने भारत के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग की, जिसे वे भारतीयों का जन्मसिद्ध अधिकार कहते थे। उन्होंने मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों को भारत के लिए अपर्याप्त एवं निराशा-जनक बताकर इस बात पर बल दिया कि जब तक केन्द्र में अनुत्तरदायी शासन एवं नौकरशाही बनी रहेगी तब तक प्रान्तीय शासन में सुधार नहीं हो सकेगा। उन्होंने भारत-सचिव की परिषद् की समाप्ति की माँग की और कहा कि प्रान्तों में दोहरा शासन (Dyarchy) अवैज्ञानिक है और इसपर अमल नहीं हो सकेगा। चूँकि तिलक ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध तोड़ने के पक्ष में नहीं थे, अतः

१. डॉ० वी० पी० वर्मा, "मॉडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट", पृष्ठ २३७-२३८.

वे इस बात के लिए सहमत हो गये थे कि युद्ध और शान्ति, विदेशी मामले, स्थलीय तथा जल सेना पर भले ही अंग्रेजी नियन्त्रण बना रहे, परन्तु सेना में बड़े बड़े पद भारतीयों को अवश्य दिये जायें। यद्यपि लोकमान्य परिस्थिति से विवश होकर कुछ मामलों पर ब्रिटिश नियन्त्रण बने रहने देने के लिए सहमत हो गये थे, परन्तु वे हृदय से भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे।[1]

यद्यपि तिलक एक श्रेष्ठ क्रान्तिकारी थे, तथापि रूसी क्रान्तिकारी बाकुनिन, प्रिन्स क्रोपॅटकिन तथा लेनिन की भांति उनके सोचने का तरीका नहीं था। तिलक समझते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में भारत में सशस्त्र क्रान्ति सम्भव नहीं हो सकती। स्वाधीनता संग्राम के लिए उन्होंने जिन राजनीतिक अस्त्रों का उपयोग किया, वे थे राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) तथा संवैधानिक आन्दोलन। वे ब्रिटिश सरकार से असहयोग के भी पक्षपाती थे, यदि इससे स्वराज्य की प्राप्ति हो सके। निश्चय ही तिलक यथार्थवादी थे। उन्होंने अपने प्रयत्नों द्वारा १९१६ में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग में समझौता करा दिया। 'खिलाफत आन्दोलन' का भी उन्होंने समर्थन किया।[2] इस प्रकार लोकमान्य तिलक ने उस समय स्वराज्य की मांग की तथा उसके लिए आन्दोलन किया जब ब्रिटिश सरकार से लोग अत्यधिक भयभीत थे। राष्ट्रीय आन्दोलन को उन्होंने गति प्रदान की तथा उसके प्रवाह को पूर्ण स्वराज्य की दिशा की ओर मोड़ा।

वैचारिक जगत् में तिलक की पहली प्रतिक्रिया पश्चिमी सभ्यता के प्रति थी। उन्होंने उन बुद्धिजीवियों से असहमति प्रकट की जो अपने सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यक्रमों का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के जीवन-दर्शन के आधार पर करने के अभ्यस्त थे। ये बुद्धिजीवी वास्तव में पाश्चात्य सभ्यता की उपज थे, जिन्हें भारतीय संस्कृति के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। इनके विपरीत, लोकमान्य तिलक प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रशंसक थे। उनका मत था कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में ही देश में सुधार किये जाने चाहिए। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि भारत की सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है, परन्तु उनके मतानुसार वह परिवर्तन भारतीय आत्मा के अनुरूप ही होना श्रेयस्कर है। श्री अरविन्द घोष ने इस नवीन दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रस्तुत किया है : "व्यवस्थाओं एवं स्थितियों में परिवर्तन होता है और होता

---

१. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २३२-३४.
२. वही, पृष्ठ २४६.

रहेगा, परन्तु नवीन व्यवस्था अथवा परिवर्तन अनिवार्य रूप से नवीन आत्म-अभिव्यक्ति तथा आत्म-दृष्टि के रूप मे होना चाहिए, यह अपनी आत्मा से ही उद्भूत नवीन रचना होनी चाहिए, न कि विदेशों से अनुकरण की गयी ।"[1]

श्री तिलक ने पाश्चात्य दर्शन के हेतुवाद (Rationalism) तथा सदेहवाद (Scepticism) का खण्डन करते हुए बताया कि धर्म मे विश्वास किये बिना, कोरे व्यावहारिक ज्ञान द्वारा, सत्य की खोज करना असम्भव है। इस सन्दर्भ में उन्होने भारतीयो को अपने दर्शन से ही प्रेरणा ग्रहण करने की बात कही। भारतीय दर्शन से ही उन्होने अपने जीवन-दर्शन का निर्माण किया, जिसके अनुरूप उन्होने अपने राजनीतिक एव सामाजिक कार्यक्रमो की रूपरेखा तैयार की।

तिलक ने भारत के उन सभी धार्मिक मूल्यो एव परम्पराओ को समझने का प्रयत्न किया, जो अब मृतप्राय है पर जिन्होने कभी भारतीय संस्कृति के निर्माण मे समुचित योगदान किया था। उन्होने अनुभव किया कि हिन्दू धर्म केवल रीतिरिवाजों एव परम्पराओ तक ही सीमित नही था। यदि ऐसा होता तो वह अब तक पूर्णत. नष्ट हो गया होता। परन्तु वह अभी तक जीवित है, क्योकि उसका आधार सत्य की तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर से सम्बन्धित नियमो की खोज करना रहा है।[2] भारतीय दर्शन ने सदैव, तिलक के अनुसार, लोगो को सुदृढ नैतिक आदर्श दिये है, जिनके अभाव मे व्यक्तिगत जीवन में अथवा राष्ट्रीय जीवन में प्रगति करना प्राय दुर्लभ है। यहाँ महात्मा गाधी और तिलक के विचारो मे बहुत कुछ साम्य दिखाई देता है। गाधी जी भी, तिलक की भाँति, विश्वासरहित पश्चिमी सभ्यता के विरोधी थे तथा भारत का पुनर्निर्माण उसकी अपनी धार्मिक एव नैतिक परम्पराओ के सदर्भ मे ही करना चाहते थे।

भारतीय सभ्यता एवं उसके इतिहास मे ही तिलक ने अपने सामाजिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तो के निर्माण की प्रेरणा ली। उन्होने कहा कि भारतीयो को अपनी सभ्यता को हेय नही समझना चाहिए। इसके विपरीत उन्हे उसपर गर्व होना चाहिए। भारतीय मूल्य पश्चिमी मूल्यों से भिन्न अवश्य हैं, पर हीन नही है। तिलक का कहना था कि अपनी सभ्यता को बिना समझे तथा उसपर बिना विश्वास किये (अपने) राष्ट्र का निर्माण कैसे किया जा सकता है। यह 'भारत-धर्म' ही था, जिसने हमे विश्व की नैतिक सार्थकता को समझने की दृष्टि प्रदान

१. अरविन्द घोष, 'दि फाउन्डेशन्स् ऑफ इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ८-९.
२. एम० वी० बापट (सम्पादित), 'ग्लीनिंग्ज फ्रॉम तिलक्स राइटिंग्ज ऐण्ड स्पीचेज', पृष्ठ ३४६.

की, हमें जीवन-दर्शन दिया तथा हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यक्रमों को सदैव नवीन दिशा प्रदान की। इसी विश्वास के साथ लोकमान्य तिलक तथा उनके साथियों ने नवीन भारत के निर्माण के लिए प्रयत्न आरम्भ किये। यद्यपि पश्चिमी सभ्यता के अन्धभक्तों ने तिलक को प्रतिक्रियावादी कहकर उनका उपहास किया, तथापि वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए। तिलक 'आर्य धर्म' में विश्वास करते हुए भी धर्मान्धता के कट्टर विरोधी थे। वे वर्तमान भारतीय सामाजिक व्यवस्था की बुराइयों से भली भाँति परिचित थे तथा उसमें आमूल परिवर्तन करने के पक्षपाती थे, परन्तु वे उन लोगों से तनिक भी सहमत नहीं थे जो पश्चिमी सभ्यता के मूल्यों का अनुकरण करके नवीन भारत का निर्माण करने के पक्ष में थे। उनकी दृष्टि में सुधार करने का अर्थ भारतीय आत्मा को नष्ट करना कदापि नहीं था। यूरोप का अनुकरण करके सुधार करने के हेतु योजनाओं के निर्माण में उनका विश्वास नहीं था; उनके सुधारवादी कार्यक्रम तो प्रत्यक्ष होते थे तथा परिस्थितियों के अनुरूप बनते थे। अकाल-पीड़ितों के रक्षार्थ, सूती कपड़े की मिलों में कार्यरत मजदूरों के सहायतार्थ तथा प्लेग की रोकथाम के लिए उनके द्वारा किये गये कार्य सीधे एवं स्पष्ट थे। तिलक आरामकुर्सी पर बैठकर योजना बनाने में विश्वास नहीं रखते थे; वे तो जनता के व्यक्ति थे तथा जनता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करना जानते थे।

तिलक सुधार चाहते थे, अनुकरण नहीं। उनके अनुसार सभी सुधार जनता को साथ लेकर अथवा उनके द्वारा किये जाने चाहिए, न कि किसी विदेशी सरकार द्वारा। उनका मत था कि जब तक जनता की रुचि सुधारों में नहीं होगी, तब तक कोई भी सुधार सफल नहीं हो सकता। अपनी आस्था के आधार पर उन्होंने दो बातें अपने साथियों के समक्ष रखीं तथा उन्हें क्रियान्वित करने का भरसक प्रयत्न किया। प्रथम, उन्होंने देशवासियों में अपनी प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता को समझने तथा भावी भारत का उसके अनुरूप निर्माण करने की चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। द्वितीय, यह जानते हुए कि देश में किसी भी प्रकार की प्रगति—धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार की—करना तभी सम्भव हो सकता है जब देश स्वतन्त्र हो। उन्होंने देश के लिए 'स्वराज्य' की माँग की तथा उसके हेतु निडरतापूर्वक ब्रिटिश शासन के साथ युद्ध किया। गीता पर अपना अद्वितीय भाष्य लिखकर उन्होंने देशवासियों को स्वराज्य-प्राप्ति के लिए प्रेरित किया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को नवीन दिशा प्रदान की। 'कर्मयोग' की शिक्षा देकर उन्होंने राष्ट्र को, आलस्य छोड़कर, कर्म करने के लिए प्रोत्साहित किया।

लोकमान्य तिलक द्वारा 'स्वराज्य' के लिए आग्रह उनके द्वारा स्वीकृत व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन के ही अनुरूप था। उन्होंने सभी समस्याओं को एक यथार्थवादी की दृष्टि से समझने का प्रयास किया। उनके समक्ष उदाहरण स्वरूप (उनके अपने) महाराष्ट्र का इतिहास तथा राष्ट्र-दर्शन का निरपवाद आदेश (Categorical Imperative of Nation's Philosophy) थे। जैसा श्री अरविन्द घोष लिखते हैं, "अतीत के गौरव पर भविष्य के गौरव की सृष्टि करना तथा भारतीय राजनीति में भारतीय दर्शन के प्रति उत्साह तथा आध्यात्मिकता का प्रवेश करना आदि भारत में राजनीतिक चेतना जागृत करने के लिए अनिवार्य बातें हैं। अन्य लेखकों, विचारकों तथा आध्यात्मिक नेताओं ने भी इस सत्य को पहचाना था, परन्तु तिलक ही ऐसे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में उसका उपयोग किया।"[1]

राष्ट्रवादियों ने जनता को स्वाधीनता आन्दोलन के लिए शिक्षित करने की दृष्टि से राजनीतिक शिक्षा का श्रीगणेश किया। तिलक ने इस सम्बन्ध में बताया कि जनता में इस प्रकार राजनीतिक धर्म का प्रचार करना हमारे भारतीय धर्म का ही एक राष्ट्रीय स्वरूप है, क्योंकि उनकी (तिलक की) दृष्टि में राजनीति को धर्म से पृथक् नहीं किया जा सकता। ठीक इसी प्रकार के विचार गांधी जी ने आगे चलकर व्यक्त किये थे। लोकमान्य तिलक के अनुसार, देश में राजनीतिक शिक्षा एवं आन्दोलन की आवश्यकता केवल इसलिए नहीं थी कि विदेशी शासन द्वारा देश का शोषण किया जा रहा था अथवा बंगाल का विभाजन कर दिया गया था, प्रत्युत देश में स्वराज्य लाने की दृष्टि से भी इनकी नितान्त आवश्यकता थी। तिलक की दृष्टि में 'स्वराज्य' सभी आत्मसम्मान रखनेवाले व्यक्तियों का अधिकार एवं धर्म है। अतः इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।

तिलक और उनके समर्थक राष्ट्रवादियों ने देश के समक्ष राजनीतिक कार्यक्रमों के रूप में तीन सिद्धान्त रखे। ये तीन सिद्धान्त थे—विदेशी माल का बहिष्कार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा। प्रारम्भ में इन सिद्धान्तों का निर्माण विदेशी सरकार द्वारा बंगाल-विभाजन सम्बन्धी प्रयत्नों को विफल करने की दृष्टि से किया गया था, परन्तु बाद में इनका प्रयोग राष्ट्रीय आन्दोलन में किया जाने लगा। 'बहिष्कार' से तिलक का अर्थ विदेशी माल के बहिष्कार से था, जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार पर आर्थिक दबाव डाला जा सके। साथ ही इसका उद्देश्य राष्ट्रीय उत्पादन को

१. 'बाल गंगाधर तिलक, हिज राइटिंग्स ऐण्ड स्पीचेज', भूमिका, पृष्ठ ७.

बढ़ावा देना था, जिससे राष्ट्रीय आय में अभिवृद्धि हो। 'स्वदेशी' बहिष्कार का ही दूसरा रूप है। इसका अर्थ है आत्म-साहाय्य एवं आत्म-निर्भरता। विदेशी माल के स्थान पर अपने देश की बनी वस्तुओं के प्रयोग से राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होगी तथा देश के व्यापार को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त होगा। तिलक ने 'स्वदेशी' को, कार्यक्षेत्र में, वन्देमातरम् की संज्ञा प्रदान की। राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य, तिलक के अनुसार, भारतीय युवकों में भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की जानकारी कराना तथा उनके प्रति आदर का भाव जागृत करना था। तिलक ने कहा कि लॉर्ड मेकाले द्वारा दी गयी पश्चिमी ढंग की शिक्षा-पद्धति भारतवासियों के लिए असम्मानजनक एवं हानिकारक थी, क्योंकि उसने भारतीय युवक को भारत में ही विदेशी बना दिया था। बाद में तिलक तथा राष्ट्रवादियों ने इन तीनों कार्यक्रमों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को समर्पित कर दिया।

इन कार्यक्रमों को मूर्त रूप देने के लिए तिलक ने शान्तिपूर्ण निष्क्रिय प्रतिरोध का मार्ग सुझाया। जैसा पिछले पृष्ठों में (तिलक से सम्बन्धित) बताया जा चुका है, तिलक की कार्यपद्धति वास्तव में प्रजातन्त्रात्मक एवं संवैधानिक थी, यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने उन्हें हिंसात्मक मार्ग का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति कहकर उन्हें कई बार दण्डित किया। तिलक ने अपने समय में जनता को आन्दोलन में संगठित होकर सक्रिय भाग लेने के लिए जिस प्रकार से प्रोत्साहित किया, वह अत्यन्त सराहनीय है। अपने पीछे लोकमान्य तिलक स्वाधीनता आन्दोलन के लिए एक बड़ी विरासत छोड़ गये। गांधी जी तथा अन्य राष्ट्रवादियों ने उनके (तिलक के) सिद्धान्तों पर चलकर उनके द्वारा अधूरे छोड़े गये कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया और अंततः १९४७ में भारत को पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो गयी।

महात्मा गांधी (१८६९–१९४८) :

महात्मा गांधी का जन्म २ अक्टूबर, १८६९ ईस्वी को पोरबन्दर में हुआ था। उनका नाम मोहनदास था तथा उनके पिता का नाम करमचन्द गांधी था। अतः गांधी जी का पूरा नाम (परम्परा के अनुसार) मोहनदास करमचन्द गांधी था। उनके पिता राजकोट रियासत के दीवान थे। उन्होंने इंग्लैण्ड से बैरिस्टरी पास की, और भारत लौटने पर वकालत आरम्भ की। अपनी वकालत के सम्बन्ध में ही वे १८९३ में दक्षिण अफ्रीका गये, जहाँ वे लगभग २० वर्ष रहे। अफ्रीका में उन्होंने काले और गोरे का भेद देखा। स्वयं उन्हें भी वहाँ पर अपमानित होना पड़ा। इसलिए उन्होंने रंग-भेद की नीति के विरुद्ध सत्याग्रह चलाया और इसमें उन्हें महान् सफलता प्राप्त हुई। १९१५ में वे भारत लौट आए। प्रथम महायुद्ध

मे यद्यपि उन्होंने अंग्रेजो की सहायता की, तथापि साथ ही चम्पारन (बिहार) मे गोरो द्वारा किसानो पर हुए अत्याचारो के विरुद्ध भी आवाज उठाई। इसमे उन्हें सफलता मिली। इसी प्रकार अहमदाबाद में मिल-मालिको से मजदूरो के हितो की रक्षा की। गुजरात के किसानो के हितो के रक्षार्थ भी उन्होंने खेडा मे सत्याग्रह किया, जिसमें उन्हे आशातीत सफलता प्राप्त हुई। १९२० से गाधी जी पूर्ण रूप से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे कूद पडे, जिसमें उन्होंने नवीन राजनीतिक अस्त्रो का प्रयोग किया। उनके द्वारा किये गये प्रयत्नो के फलस्वरूप १९४७ में भारत को विदेशी शासन से मुक्ति मिली।

गांधी जी एक अलौकिक एव आध्यात्मिक पुरुष थे। सत्य की खोज करना उनके जीवन का परम लक्ष्य था। इसी सत्यान्वेषण के सदर्भ मे उनके विचारो को, चाहे वे किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित क्यो न हो, समझना होगा। तभी हम उनके व्यक्तित्व एव विचारो को भली भाँति समझ सकेंगे। साथ ही, गाधी जी के किसी भी विचार को उनके अन्य विचारो से पृथक् करके नही देखा जा सकता। उनके सभी विचार एक दूसरे के साथ इस प्रकार जुडे हुए हैं कि किसी भी एक विचार का अवलोकन करने के लिए उनके अन्य विचारो को न्यूनाधिक जानना अत्यन्त आवश्यक है। और उनके सभी विचारो का आधार-बिन्दु हैं उनका जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा उनमे सत्यान्वेषण की प्रबल प्रवृत्ति।

गाधी जी का विश्वास सरल और त्यागमय जीवन मे था। उनका स्वय का जीवन इसका ज्वलत उदाहरण था। उनकी धारणा थी कि साधारण जीवन के द्वारा ही आत्मबोध सम्भव है तथा विवेक की प्राप्ति हो सकती है। विवेक एवं आत्मबोध के अभाव मे मनुष्य में किसी भी प्रकार की क्रान्ति सम्भव नही है। बडे रूप मे यही बात समाज के साथ भी लागू होती है। किसी भी समाज मे क्रान्ति अथवा परिवर्तन की संभावनाएं उतनी ही होगी जितनी उस समाज के लोगो मे आत्मबोध की अथवा विवेक की शक्ति होगी, और यदि क्रान्ति हो भी जाए तो उसे स्थायी रखने के लिए विवेक की अत्यन्त आवश्यकता होगी और विवेक के लिए अनिवार्य है कि लोगों का जीवन सरल एवं त्यागमय हो। जिस समाज के लोग भोग-विलास में डूबकर अपने कर्तव्यो को भूल जाते हैं, वह समाज निश्चित ही अवनति के गर्त मे गिर जाता है। संभवत गाधी जी की दृष्टि मे पूँजीवाद के पनपने तथा विश्व में अधिकाधिक आर्थिक असमानता बढने का मुख्य कारण था आधुनिक मनुष्यो एवं राष्ट्रों मे बढती हुई भौतिकवादी प्रवृत्ति।

गाधी जी कहा करते थे कि यदि पूँजीवाद तथा उससे पैदा होनेवाली बुराइयो को संसार मे नष्ट करना है, तो उसके लिए आवश्यक है भौतिकवादी

मनोवृत्ति से अलगाव। यही कारण था कि उन्होंने पाश्चात्य देशों की भौतिकवादी प्रवृत्ति का डटकर खण्डन किया। भौतिक सभ्यता के प्रवाह ने यूरोप की मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रगति को बिल्कुल रोक दिया है। रोम और मिस्र के उदाहरण देकर गांधी जी ने प्रमाणित करने का प्रयास किया कि जो राष्ट्र भौतिक उन्नति का आदर्श लेकर संसार में आगे बढ़ा है, वह सदैव अवनति के गर्त में गिरा है। सच्चे समाजवाद की स्थापना भौतिक उन्नति के माध्यम से सम्भव नहीं। भौतिकवादी दृष्टिकोण मनुष्य में पाशविक प्रवृत्तियों को जन्म देता है, और जब तक पाशविक प्रवृत्तियों को पनपने के लिए बल मिलता रहेगा तब तक संसार से न तो पूँजीवाद को समाप्त किया जा सकता है और न ही सच्चे समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। यूरोप साम्राज्य और भौतिक विकास के फन्दे में फँसा है। इसका परिणाम महाभारत के रूप में स्पष्ट है।

यही कारण था कि गांधी जी भारत को यथासंभव भौतिक सभ्यता के जाल से मुक्त करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि यदि हम यूरोप की धन-दौलत के पीछे जायेंगे, तो हमें उसकी सभ्यता के अभिशाप को भी सहन करना पड़ेगा। यह आशा करना कि भारत में पूँजीवाद का परिणाम वैसा बुरा न होगा, अपने आपको धोखा देना है। गांधी जी उन सब संस्थाओं, प्रवृत्तियों और प्रणालियों के विरुद्ध थे, जिनसे देश में पश्चिमी सभ्यता का प्रचार होना संभव था।

गांधी जी की स्वराज्य की कल्पना भी कई पश्चिमी देशों की स्वराज्य कल्पना से पूर्णतः भिन्न थी। पश्चिमी ढंग से स्वराज्य का अर्थ लगाना अथवा उस ढंग से शासन-प्रणाली का गठन करना अथवा प्रजातन्त्र की स्थापना करना उन्हें ठीक नहीं जँचता था। वे तो भारतवर्ष में उसकी संस्कृति के अनुरूप एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे, जिसमें किसी भी प्रकार की असमानता, शोषण, उत्पीड़न, अन्याय आदि के लिए कोई स्थान न हो, जिसमें पूर्ण आर्थिक न्याय संभव हो तथा जिसमें मनुष्य की शक्ति उसके अपने हाथों में ही सुरक्षित रहे। इस दृष्टि से गांधी जी ने पश्चिमी ढंग की संसदात्मक शासन-प्रणाली का विरोध किया। १९०९ के पश्चात् उन्होंने कई बार इसकी भर्त्सना की। १९४२ में लुई फिशर से इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि पश्चिमी ढंग के प्रजातंत्र में, जो संसदात्मक शासन प्रणाली पर अवलम्बित है, उनका विश्वास नहीं है। वास्तव में वे इस पद्धति के विरुद्ध नहीं थे, पर वे इसके बाह्य आवरण की अपेक्षा इसके आंतरिक स्वरूप को अधिक प्रश्रय देते थे। संसदीय सरकारें जिस प्रकार से कार्य करती हैं, उससे उन्हें असन्तोष था। गांधी जी ने अनुभव किया कि पश्चिमी प्रजातन्त्र बहुधा तानाशाही सरकारों की भांति हिंसा पर आधारित होता है।

तानाशाही सरकारों की ही भाँति पश्चिमी प्रजातंत्र युद्ध, पूँजीवाद, शोषण आदि अनेक बुराइयों को प्रोत्साहित करता है। प्रजातंत्रात्मक सरकारों के नेता प्रायः दुराचारी एवं असंयमी होते हैं, और ऐसे व्यक्तियों से न्याय की आशा करना निरर्थक है। "हिन्द स्वराज्य" में उन्होंने "संसदों की जननी" ब्रिटिश पालियामेन्ट को एक बाँझ स्त्री के समान बताया, जिसमें दिखावे के अतिरिक्त वास्तविकता नाम को नहीं। वे इसे इंग्लैण्ड का एक कीमती खिलौना कहते थे। भारत में १९१९ के सुधार के अनुसार स्थापित प्रान्तीय एवं केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाओं में भी उनका विश्वास नहीं था। इसीलिए उन्होंने इनका बहिष्कार किया।

गांधी जी का कहना था कि संसदीय सरकारों का जीवन अस्थिर होता है, अतः ये सरकारें कोई भी ठोस कार्य करने में असमर्थ होती हैं। इनका अधिकांश समय निरर्थक वाद-विवाद में खर्च होता है। निर्वाचन के समय होनेवाले भ्रष्टाचार से सारा वातावरण दूषित हो जाता है, और देश एवं राष्ट्रहित की अपेक्षा सरकारें अपने दलों की सुरक्षा एवं उनकी स्थिति ठीक करने में अधिक व्यस्त रहती हैं।

साथ ही, संसदीय सरकारें भी बहुधा दमन एवं शक्तिप्रदर्शन में विश्वास करनेवाली होती हैं। जनता पर दबाव डालकर अपनी बात मनवाना इनका स्वभाव बन जाता है। मत देने के अतिरिक्त जनता के हाथ में अन्य कोई कारगर शक्ति नहीं होती। सारी जनता की शक्ति संसद् में बैठे कुछ लोगों के हाथ में रहती हैं, जो सरकार का दायित्व सँभालते हैं। उस सरकार का भी एक मुखिया (प्रधान मन्त्री) रहता है। इस प्रकार समस्त शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है। इस प्रकार का प्रजातन्त्र, गांधी जी के मतानुसार, सच्चा प्रजातन्त्र नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रजातन्त्र में व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं गरिमा नष्ट हो जाती है, जिनकी सुरक्षा प्रजातन्त्र का मूल उद्देश्य है।

गांधी जी के अनुसार, स्वराज्य या प्रजातन्त्र में सामान्य जनता के हितों को चन्द लोगों अथवा वर्गों के हितों पर तरजीह मिलनी चाहिए। स्वराज्य पर निहित स्वार्थवालों का एकाधिकार हो अथवा वे लोग ही उसका समस्त लाभ उठायें, ऐसा नहीं होना चाहिए। स्वराज्य की योजना में सामान्य जनता का हित ही सर्वोपरि होना चाहिए। गांधी जी ने 'यंग इंडिया' में लिखा है :

"ऐसा प्रत्येक हित, जो बेजबान करोड़ों के हित के विरुद्ध हो, या तो बदला जाना चाहिए या यदि वह बदला न जा सकता हो तो उसमें कमी की जानी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि शेष वर्गों—मध्यम वर्ग, पूँजीपतियों, जमींदारों

आदि को मिटा दिया जाय। उद्देश्य इतना ही है कि इन सब वर्गों को, गरीबों के हित को मुख्य मानकर उनकी सेवा करनी चाहिए।"[1]

सरकार की शक्तियों एवं उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में गांधी जी के विचार बहुत कुछ अराजकतावादियों से मेल खाते हैं। क्योंकि गांधी जी का विश्वास सच्चे स्वराज्य में था, अतः उनके अनुसार वही सरकार ठीक होगी जो कम से कम शासन करनेवाली हो। वास्तव में, उनके अपने ढंग के प्रजातन्त्र एवं अर्थ-व्यवस्था में सरकार की कोई उपयोगिता ही नहीं रहती। लेकिन यदि उसकी आवश्यकता को स्वीकार कर लिया जाय, तो उसे कम से कम शक्ति प्रदान की जानी चाहिए। गांधी जी के अनुसार जहाँ नागरिक अपनी आजादी की रक्षा के विषय में सजग होंगे, वहाँ लोगों की सारी आवश्यकताएँ पूरी करने का कार्य राज्य नहीं करेगा और न वह जनता से सत्ता हथियाने की अनधिकार चेष्टा ही करेगा। सत्ता पर स्वामित्व जनता का है और होना भी चाहिए। स्वराज्य का अर्थ गांधी जी के अनुसार यह है कि जनता सरकार के नियन्त्रण से—सरकार विदेशी हो या स्वदेशी—मुक्त होने के लिए लगातार प्रयत्न करती रहेगी। जिस स्वराज्य में लोग अपने जीवन के छोटे छोटे कामों के लिए सरकार का मुँह ताका करें, वह स्वराज्य किसी भी काम का नहीं होगा।[2] जहाँ राजनीतिक सत्ता जागृत, शिक्षित और अनुशासन की शिक्षाप्राप्त ऐसी जनता के हाथ में होगी, जिसने सत्ता का नियमन और नियंत्रण सीख लिया है, वहाँ फिर इस बात का डर नहीं रह जायगा कि राज्य निरंकुश बन जायगा अथवा वह अपनी जड़ें इतनी मजबूत कर लेगा, कि वर्गहीन समाज की उस स्थिति की ओर, जिसमें राज्य का विलय हो जाता है, जनता की प्रगति में बाधा उपस्थित कर सकेगा। निश्चय ही गांधी जी इस जागृत लोकतन्त्र के हिमायती थे, जिसमें सर्वसामान्य को उसकी पूरी प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

गांधी जी, राज्य-शक्ति से विहीन जिस राज्य अथवा समाज की कल्पना करते थे उसका आधार सत्य और अहिंसा था। अहिंसा पर आश्रित समाज तभी स्थापित हो सकता है जब लोग परस्पर सहयोग से कार्य करें और एक दूसरे की सहायता करना अपना कर्तव्य समझें। इसके हेतु हमें ग्रामों को इकाई बनाना होगा। ग्रामों में जो मनुष्य निवास करते हैं यदि वे एक दूसरे के साथ स्वेच्छापूर्वक सहयोग करें और शान्ति के साथ परस्पर मिलकर रहें, तभी अहिंसात्मक समाज का निर्माण सम्भव है। ग्रामों के संगठन का आधार शक्ति या पुलिस न होकर पारस्परिक

---

१. यंग इंडिया, १६-४-३१.
२. यंग इंडिया, ६-८-२५.

सहयोग होगा। ये ग्राम पूर्णरूपेण लोकतन्त्र होंगे। ग्राम के निवासी सामाजिक दृष्टि से एक दूसरे के समान होंगे और उनमे ऊँच नीच, छुआछूत का कोई भेद नहीं रहेगा। आर्थिक दृष्टि से भी ये समान होंगे। क्योंकि सत्य, अहिंसा, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के समान वे अपरिग्रह व्रत का भी पालन करेंगे और बडे कारखानों का अभाव होने से किसी को दूसरों का शोषण करने का अवसर प्राप्त नही होगा। ऐसे समाज मे कभी सत्ता संभव ही नही हो सकती, क्योंकि कृषि और गृह-व्यवसायों मे मालिक और मजदूर का भेद हो ही नही सकता। जिन परिस्थितियो में पूँजीवाद का जन्म हुआ है, वे इन ग्रामो मे होगी ही नही। ग्रामो के आधार पर एक ऐसे समाज का निर्माण होगा, जिसमे स्वामी और मजदूर का अथवा अमीर और गरीब का विशेष भेद नही रहेगा।

गाधी जी के अनुसार राज्य इन्ही स्वावलंबी ग्रामो का समुदाय होगा। इन ग्रामों की पंचायते अपनी सत्ता एव शक्ति किसी केन्द्रीय सरकार से प्राप्त नही करेंगी, अपितु ये ग्राम आवश्यकतानुसार स्वेच्छापूर्वक मिलकर जो सगठन बनाएँगे, उसी से राज्यसत्ता का प्रादुर्भाव होगा। स्वतन्त्र एव स्वावलम्बी ग्राम जिले के शासन के हेतु प्रतिनिधियों के चुनाव करेगी। जिलों के प्रतिनिधियो की सभाएँ केन्द्र के शासन के लिए प्रतिनिधियो का चुनाव करेंगी। इस प्रकार देश के शासन की असली शक्ति ग्रामों मे केन्द्रित होगी। जिले, प्रान्त और सम्पूर्ण देश की सरकारो के पास जो शक्ति होगी, उसे वे नीचे से ही प्राप्त करेगी। गाधी जी शासन कार्य में विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती और केन्द्रीकरण के विरोधी थे।

गाधीवादी समाजवाद और पश्चिमी समाजवाद मे बहुत बडा अन्तर है। गाधी जी का दावा था कि पश्चिम से समाजवाद भारत में आया, पर उसके बहुत पहले ही वे समाजवादी रहे हैं। समाजवादियो के सिद्धान्त को वे दक्षिणी अफ्रीका मे रहते हुए ही अपना चुके थे, लेकिन उनका समाजवाद किसी पुस्तक से नही लिया गया था; वह उनके अवलोकन और अनुभव की उपज था और इस प्रकार से उन्हे वह स्वाभाविक तौर पर प्राप्त हुआ था। वह अहिंसा में उनके अविचल विश्वास से पैदा हुआ था।

साम्यवादियों की भाँति गाधी जी का उद्देश्य भी ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना करना था, जिसमें राजशक्ति क्रमश. क्षीण होकर प्राय: नि शेष हो गयी होगी। लेकिन इस उद्देश्य तक पहुँचने के उनके रास्तो मे बुनियादी अन्तर था। इतना ही नही, गाधी जी और साम्यवादियो के दृष्टिकोणों, उनके दर्शन एवं मान्यताओ मे भी बहुत बडा अन्तर है। सारा मार्क्सवाद जीवन की आर्थिक एवं भौतिकवादी व्याख्या पर आधारित है, लेकिन गाधी जी का समाजवाद आर्थिक धरातल

से ऊपर मानवीय एवं आध्यात्मिक धरातल पर अवलम्बित है। गांधी जी मनुष्य के आन्तरिक एवं आत्मा के पक्ष को अधिक महत्व देते थे, जो पश्चिमी समाजवादियों को केवल काल्पनिक दिखाई देता है। इसीलिए गांधी जी के समाजवाद को अवैज्ञानिक एवं आत्मगत कहा जाता है।

लेकिन फिर भी गांधी जी समाजवादी थे और उनका समाजवाद पश्चिमी समाजवाद से कहीं अधिक विशुद्ध एवं व्यापक था। गांधीवादी समाजवाद गांधीवादी तरीकों से ही प्राप्त किया जा सकता है और वे तरीके अहिंसात्मक सत्याग्रह के तरीके हैं।

वास्तव में गांधी जी का समाजवाद किसी राष्ट्र एवं राज्य-विशेष के लिए नहीं था, प्रत्युत उनके मतानुसार सत्य एवं अहिंसा के आधार पर संपूर्ण विश्व में समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। वे एक ऐसी विश्व-व्यवस्था के कायल थे जिसमें किसी भी वर्ग-विशेष के प्रति अनादर एवं घृणा न हो। मार्क्स एवं सिसमोंडी सरीखे पश्चिमी समाजवादी वर्ग-संघर्ष में विश्वास करते थे, पर गांधी जी के समाजवाद में किसी भी प्रकार के वर्ग-संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं है। वे एक ऐसे अहिंसात्मक समाजवाद के पक्ष में थे जो पूर्णतः प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुकूल होगा तथा जिसमें भौतिक शक्तियों की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्तियों को अधिक प्रधानता दी जायगी। वर्ग-संघर्ष द्वारा प्रेरित एक सामाजिक संघर्ष के स्थान पर वे त्याग, ऐच्छिक दरिद्रता, श्रमिक की महत्ता, स्त्री-पुरुष में समानता एवं सार्वभौमिक बन्धुता के सिद्धान्तों की बात कहते थे। गांधी जी का विश्वास था कि वर्ग-संघर्ष से घृणा पैदा होती है और जिस समाज में घृणा व्याप्त होगी, उस समाज में सच्चे समाजवाद की स्थापना करना प्रायः असंभव है। गांधी जी का कहना था कि जो क्रान्ति हिंसा के द्वारा की जाती है, उसमें सत्ता उन इने गिने लोगों के हाथ में चली जाती है जिन्होंने उस क्रान्ति का नेतृत्व किया है और इस प्रकार क्रांति का उद्देश्य विफल हो जाता है। यह बात फ्रांसीसी एवं रूसी क्रान्तियों से स्पष्ट हो जाती है।

गांधी जी का तानाशाही में, वह मजदूर वर्ग की हो या किसी वर्ग की, बिल्कुल भी विश्वास नहीं था। ऐसा राज्य तानाशाह के हाथ में अन्याय का ही साधन बना रहेगा। इसलिए गांधी जी किसी भी प्रकार की सर्वसत्ताधारी शासन व्यवस्था की वेदी पर जनता का बलिदान नहीं करना चाहते थे। वे यह तो स्वीकार करते थे कि मनुष्य अधिकतर अपनी पड़ी आदतों से परिचालित होता है, किन्तु साथ ही वे यह भी महसूस करते थे कि मनुष्य अपनी बुद्धि और संकल्प शक्ति का ऐसा विकास कर सकता है कि शोषण की बुराई को अहिंसा के द्वारा ही बहुत दूर तक

काम करना संभव हो जाय। यह प्रक्रिया संभवत धीमी सिद्ध हो, किन्तु इसके अन्तर्गत अंतिम सफलता निश्चित है।

गाधी जी के समाजवाद का अन्तिम लक्ष्य है सर्वोदय। सर्वोदय का अर्थ है सब का समान उदय अथवा विकास—ऐसा विकास जो संघर्ष एव हिंसा द्वारा प्राप्त न किया जाकर त्याग, अहिंसा एवं प्रेम द्वारा प्राप्त किया गया हो। वास्तव मे, गाधी जी का समाजवाद, जिसे उन्होने सर्वोदय कहा था, व्यक्ति-उन्मुख था, जबकि पश्चिमी समाजवाद राज्योन्मुख है। और यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति का आतरिक विकास हो, वह अपने को पहचानने मे समर्थ हो तथा विवेक द्वारा अहिंसा के मार्ग का अनुसरण करता हुआ सत्य एवं अपरिग्रह व्रत का पालन करे। सर्वोदय के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए गाधी जी ने कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे, जैसे शारीरिक श्रम का सिद्धान्त, वितरण की समानता का सिद्धान्त, संरक्षना का सिद्धान्त, आदि।

गांधी जी के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका अर्जन करने के लिए कुछ शारीरिक परिश्रम अवश्य करना चाहिये। रोटी के लिए किये जाने-वाले इस शरीर-श्रम के कई रूप हो सकते हैं। इस विषय मे गाधी जी का मार्ग-दर्शन "अन्टू दिस लास्ट" की शिक्षाओं ने किया था। रस्किन ने अपनी इस पुस्तक मे बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक श्रम करना अनिवार्य है और जो शारीरिक श्रम करेगा, उसे ही जीवित रहने का अधिकार है। रस्किन औद्योगी-करण के विरुद्ध था, क्योंकि इसमे संपत्ति का कुछ हाथो मे सचय होता है तथा दासता को पनपने का प्रोत्साहन मिलता है। बौद्धिक वर्ग एव श्रमिक वर्ग मे भेद-भाव होना समाज के लिए घातक है और यह अन्तर तभी समाप्त हो सकता है जब श्रमिक वर्ग अपने उद्योग का स्वय स्वामी हो तथा बडे बडे उद्योग धन्धे, जिनसे पूँजीवाद पनपता है, समाप्त हो जायँ। रस्किन के अनुसार सभी प्रकार की दासता एव भेदभाव समाप्त होना चाहिए। गाधी जी ने जॉन रस्किन को शिक्षाओं को इस प्रकार समझा था :

(क) सबकी भलाई मे हमारी भलाई निहित है।

(ख) वकील एवं नाई दोनो के काम की कीमत एक समान होनी चाहिये, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको समान है।

(ग) सादा मेहनत मजदूरी का जीवन तथा किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।[1]

१. आत्मकथा, भाग चार, १९५७, पृ० १८.

गांधी जी के अनुसार रोटी के लिए किये जानेवाले शरीर-श्रम का सही रूप केवल खेती है, पर क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए खेती करना संभव नहीं, इसलिए खेती के बदले वह कात सकता है, बुन सकता है, बढ़ई का काम कर सकता है या अन्य कोई शारीरिक श्रम का कार्य कर सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को अपना भंगी भी स्वयं होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, मानवीय जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति जिन वस्तुओं से होती है, उनका निर्माण या अनिवार्य उद्योगों में किया जानेवाला परिश्रम रोटी का श्रम माना जा सकता है। शारीरिक श्रम के लिए आवश्यक है कि वह किसी दबाव से न किया जाकर स्वेच्छा से किया गया हो, अन्यथा उसका महत्व समाप्त हो जायगा और उससे गुलामी की स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

गांधी जी बौद्धिक परिश्रम को परिश्रम नहीं मानते थे, अतः बौद्धिक परिश्रम हमें खाने का अधिकार देने के लिए पर्याप्त नहीं। उनके मतानुसार बौद्धिक श्रम बुद्धि के संतोष का साधन है और शारीरिक श्रम शरीर की तुष्टि, अर्थात् खाने पीने का। अतः शारीरिक श्रम का इतना महत्व होने के कारण अधिकांश उत्पादन उसी के द्वारा होना चाहिये। श्रम की बचत करनेवाले साधनों—मशीन आदि, का उपयोग नियमित मात्रा में ही होना चाहिये। गांधी जी के अनुसार उत्पादन मुख्यतः आवश्यकता-पूर्ति के लिए होगा, व्यापार अथवा लाभ के लिए नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि गांधी जी बड़े उद्योगों अथवा रेल, तार, जहाज आदि के बिल्कुल विरुद्ध थे। मशीन का उपयोग तो अनिवार्य है, पर मशीन मशीन में अन्तर है। हम इन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—मारक, शोषक और पोषक। तोप, बन्दूक, मशीनगन, बम आदि मारक मशीनों में आते हैं, अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं। बड़े बड़े कारखाने शोषक हैं अतः ये भी त्याज्य ही हैं। रेल, जहाज, सिलाई की मशीन, हल, चरखा, फावड़ा आदि पोषक मशीनें हैं, अतः इनका उपयोग होना चाहिए। इसी से गांधी जी सदैव ग्रामोद्योग और खादी पर बल देते थे। भारत जैसे गरीब देश के लिए कुटीर उद्योगों का बहुत महत्व है। इन्हीं के द्वारा पूँजी का समान वितरण हो सकता है तथा उसे कुछ हाथों अथवा स्थानों पर इकट्ठा होने से रोका जा सकता है। साथ ही, इसके द्वारा गरीब जनता के शोषण को समाप्त किया जा सकता है तथा उनकी दरिद्रता को मिटाया जा सकता है।

गांधी जी के अनुसार वितरण का प्राकृतिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी तात्कालिक आवश्यकता मात्र को ले। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता भर ही को ले और किसी संग्रह के चक्कर में न पड़े, तो किसी को कमी न पड़े। भौतिक समृद्धि से बहुधा नैतिक पतन की आशंका बनी रहती है। अपनी चरम

समृद्धि के दिनो मे ही रोम का पतन हुआ। यही हाल मिस्र तथा अन्य देशों का भी हुआ। व्यक्तियों के पास अधिक धन-वैभव का एकत्रित हो जाना न तो स्वयं के लिए अच्छा है और न समाज के लिए। अत गाधी जी का आदर्श था 'वितरण की समानता'। वे न्याययुक्त वितरण के पक्ष मे थे। विषमताओ को दूर करने और समता की अधिकाधिक प्राप्ति करने के दो उपाय है। इनमे एक तो साम्यवादी उपाय है, जिसके अनुसार धनिको का धन छीनकर उसे सर्वहित मे लगाया जाय। दूसरा यह है कि धनी लोग स्वेच्छा से, कर्तव्य समझकर, अपना धन सर्वसाधारण के हित में लगाएँ और अपने को निर्धनों का अभिभावक या सरक्षक (ट्रस्टी) समझें।

वास्तव मे समान वितरण के इस सिद्धान्त की जड धनवानो के अनावश्यक धन की संरक्षता का या ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त होना चाहिए, क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार वे अपने पडोसियों से एक रुपया भी अधिक नही रख सकते। यह सब अहिंसक मार्ग हिंसा से प्रत्यक्ष रूप मे श्रेष्ठ है। धनवान के पास उसका धन रहेगा, परन्तु उसका उतना ही भाग वह अपने काम मे लेगा जितना वह अपनी निजी आवश्यकताओ के लिए उचित रूप मे आवश्यक समझता है और बाकी को समाज के उपयोग के लिए धरोहर समझेगा। और यदि हमारे पूरा प्रयत्न करने के बाद भी धनवान लोग गरीबों के हित मे अपने धन का संरक्षक होना स्वीकार न करें तो गाधी जी के अनुसार उनके विरुद्ध सविनय आज्ञा भंग और अहिंसक असहयोग किया जायगा। कारण स्पष्ट है, धनवान लोग समाज के गरीब वर्ग के सहयोग के बिना धन संग्रह कर ही नही सकते। यह गाधी जी का अत्यन्त व्यावहारिक उपाय है।

ग्रीन की भाँति गाधी जी का भी मत था कि पूँजी का उपयोग स्वभावतः सामाजिक होता है। इस दृष्टि से गाधी जी पूँजीवाद और साम्यवाद दोनो की प्रतिद्वन्द्वी एक तीसरी व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे, जिसमे दोनों के गुणो का समन्वय हो और दोनों ही के दोषों का अभाव। गाधी जी पश्चिमी समाजवादी व्यवस्था के विपरीत भारत के लिए एक ऐसी स्वाभाविक अर्थव्यवस्था कायम करने की बात कहते थे जिसमे बडे पैमाने पर उत्पादन करनेवाले यन्त्रोद्योगों और गाँवो के हस्तकला उद्योगो का सुमेल होगा। वे बडे उद्योग, जो देश की अर्थव्यवस्था के लिए आधारभूत महत्व के है और जिनकी देश को आवश्यकता है, केन्द्रित किये जा सकते है, लेकिन ऐसी कोई भी वस्तु, जिसका उत्पादन गाँवो मे हो सकता है, शहरो में केन्द्रित उत्पादन के लिए नही चुनी जा सकती। गाधी जी जिन वस्तुओं का उत्पादन गाँवो में सरलता से हो सकता है उनका उत्पादन बडे पैमाने पर काम करनेवाले यंत्रोद्योग के जरिये करने के विरुद्ध थे। और आवश्यकता से जो भारी

उद्योग देश में चलेंगे उनपर राष्ट्र की मिल्कियत होगी, लेकिन ये सब उद्योग गांवों में चलनेवाली विशाल राष्ट्रीय प्रवृत्ति का एक अंश मात्र होंगे।

उद्योगों के दोनों विभागों में सुमेल की स्थापना राज्य के हाथ में सत्ता के केन्द्रीकरण द्वारा नहीं, प्रत्युत 'संरक्षता' के सिद्धान्त के अर्थ का विस्तार करके ही की जा सकती है। गांधी जी की राय में वैयक्तिक स्वामित्व की हिंसा की तुलना में राज्य की हिंसा अधिक हानिकारक होती है। लेकिन यदि यह अनिवार्य हो तो वे राज्य की काम से कम मिल्कियत का समर्थन करने के पक्ष में थे।

वास्तव में गांधी जी राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों में विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे। जिस प्रकार सारे देश की व्यवस्था ग्रामों के माध्यम से होगी और शक्ति ग्रामों के द्वारा ही ऊपर जायगी, उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी गांव ही आर्थिक उत्पादन एवं उत्पादन-वितरण का मुख्य केन्द्र रहेंगे। वे कहते थे कि आर्थिक विषमता का एक ही हल है और वह यह कि गांवों को स्वयंपूर्ण बनाया जाय। स्मरणातीत काल से जिस स्वतन्त्रता का उपभोग गांव करते आए हैं, उसकी रक्षा वे तब तक नहीं कर सकते, जब तक वे जीवन की मुख्य आवश्यकताओं के उत्पादन का नियन्त्रण खुद न करते हों।[1]

इसी प्रकार वितरण की व्यवस्था भी साथ ही साथ गांवों में होनी चाहिए। इस तरह न पूँजी का संग्रह होगा और न ही आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण। गांव ही दोनों प्रकार की शक्तियों के स्रोत होंगे। शहर और राज्य केवल गांवों की सहायता करेंगे, उनका शोषण नहीं। प्रत्येक गांव यथासम्भव स्वावलम्बी एवं स्वयंपूर्ण होगा और उसको अपनी शक्ति उसी के पास रहेगी।

इस प्रकार गांधी जी का अर्थशास्त्र अपनी पृथक् विशेषता रखता है। भारत की उन्नति तथा उसके विकास का यह एक विशिष्ट मार्ग है, जो सर्वथा शान्ति और सहयोग पर आधारित है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू (१८८९-१९६४):

पण्डित जवाहरलाल नेहरू के प्रति प्रकृति एवं वातावरण दोनों ही उनके जीवन-काल में सहानुभूतिपूर्ण रहे। उनका जन्म १४ नवम्बर, १८८९ को इलाहाबाद में एक सम्पन्न कश्मीरी परिवार में हुआ। उनके पिता श्री मोतीलाल नेहरू अनन्त सम्पदा के स्वामी तथा भारत के प्रसिद्ध वकील थे। श्री जवाहरलाल अपने पिता के इकलौते पुत्र तथा ११ वर्षों तक अकेली सन्तान थे अतः उन्हें परिवार में सभी

---

१. यंग इंडिया, २-७-३१.

का अगाध प्रेम मिला। प्रारम्भ से ही उनका पालन-पोषण पश्चिमी प्रभाव एवं शैली पर हुआ। घर पर एक आयरिश शिक्षक फर्डिनेण्ड टी० ब्रुक्स के निर्देशन में उनकी शिक्षा चली। बाद में उन्हें इग्लैण्ड भेज दिया गया, जहाँ से उन्होंने बी० ए० ऑनर्स तथा बैरिस्टरी पास की।

श्री नेहरू के ऊपर, बाल्यकाल में, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट का भी काफी प्रभाव पडा। श्रीमती बेसेन्ट के प्रभाव से ही उनकी रुचि थियोसोफिकल समाज के प्रति बढी। श्रीमती बेसेन्ट का प्रभाव नेहरू पर उनके पिता से भी अधिक दिखाई देता था। पर उनके ऊपर सर्वाधिक प्रभाव पिता का ही था, और वह इतना गहन एवं अटूट था कि दोनो मे परस्पर विरोधी विचार होते हुए भी वह भग्न नही हो सका। पिता से जीवन मे उन्हे शालीनता एवं अनुशासन प्राप्त हुए। उनकी माता स्वरूपरानी हिन्दू परम्पराओं में विश्वास करनेवाली सम्भ्रान्त महिला थी। स्वभावगत कोमलता श्री नेहरू को अपनी माता से ही प्राप्त हुई। लेकिन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की भाषा मे वे उसी प्रकार अपने पिता के पुत्र थे जिस प्रकार गाधी जी अपनी माता के। अपने पिता के प्रति उनका कितना अगाध स्नेह था, यह उनकी 'आत्मकथा' (*An Autobiography*) से ही स्पष्ट हो जाता है। माता और पिता दोनो के प्रभाव ने श्री नेहरू के स्वभाव में विरोधी तत्वो को जन्म दिया। इसी प्रकार लगभग सात वर्ष तक इग्लैण्ड में रहने के कारण (तथा बाल्यकाल भी विदेशी शिक्षको के प्रभाव मे व्यतीत होने के कारण) उनके ऊपर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव पूरा था, और वह इतना गहरा था कि जीवन भर उसके आकर्षण से वे मुक्त नही हो सके। उनके विचार तथा सोचने का तरीका बहुधा पश्चिमी ढंग के थे। परन्तु उनकी आत्मा भारतीय थी। भारत की स्वतन्त्रता के प्रति लगाव उनमें बाल्यकाल मे ही पैदा हो गया था, और धीरे धीरे वह इतना प्रबल हो गया कि वे अन्त मे, अपने सारे वैभव का मोह छोडकर, स्वाधीनता आन्दोलन मे कूद पडे। भारत के दर्शन, उसकी संस्कृति, उसकी भूमि, सभी से उन्हें अगाध स्नेह था। यदि बुद्धि से उन्हे विदेशी मान भी लिया जाय (ऐसा बहुतो का मत था और है), फिर भी उनकी आत्मा पूर्ण भारतीय थी। उन्होने भारत की स्वाधीनता तथा उसकी समृद्धि के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया। उनकी अन्तिम इच्छा के अनुसार उनकी भस्मी को भारत के खेतो मे तथा उसकी पवित्र नदियो में बिखेर दिया गया एव विसर्जित कर दिया गया। इस प्रकार उनके स्वभाव में अनेक विरोधी तत्वो का समन्वय दिखाई देता था।

श्री जवाहरलाल नेहरू का व्यक्तित्व वास्तव में अत्यन्त दुर्बोध्य था। अनेक व्यक्तियो, विचारो एवं भावधाराओ ने उन्हें जीवन में छुआ था। स्वभाव से भावुक

एवं निष्ठावान होते हुए भी उनका जीवन एवं युग की समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण था। एक दूसरे से विपरीत विचारधाराओं के प्रभाव एवं सम्मिश्रण के कारण ही उनका व्यक्तित्व ऐसा उलझा हुआ प्रतीत होता था कि वह भारतीयों एवं पाश्चात्य विद्वानों के लिए एक पहेली बन गया था।

वास्तव में, श्री नेहरू का व्यक्तित्व अपने में पूर्णतः नवीन था। वे एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राजनीतिक सिद्धान्तों की अपेक्षा उनके व्यावहारिक स्वरूप को सँवारने में लगा दिया। साथ ही, सैद्धान्तिक पक्ष भी उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ। अपने असीमित अध्ययन एवं दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण, निश्चय ही, वे वर्तमान समस्याओं को उनकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के आधार पर तौलते थे। एक राजनीतिज्ञ होते हुए भी, वे मैकियाविलियन टाइप की राजनीति से दूर थे। धर्म के प्रति अधिक आस्था न रखते हुए भी निजी एवं सार्वजनिक जीवन में वे नैतिक मूल्यों को स्वीकार करते थे। गांधी जी के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए तथा उनके (गांधी जी) "आदर्श की प्राप्ति के हेतु श्रेष्ठ साधन ही उपयुक्त है" के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी वे गांधी जी के जीवन के प्रति आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण के सिद्धान्त के प्रति सदैव उदासीन रहे। इसी प्रकार, मार्क्स के समाजवाद के प्रति आकृष्ट होकर भी, उन्होंने मार्क्स के समग्र दर्शन को कभी भी अंगीकार नहीं किया। स्वभाव से वे हिंसा में विश्वास नहीं करते थे, अतः मार्क्सवाद उन्हें त्रुटिपूर्ण दिखाई दिया। सभी समस्याओं को उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व अनेक विरोधी तत्वों एवं विचारधाराओं का सम्मिश्रण था। इस विरोधाभास के रहते हुए भी, यदि हम उनकी प्रमुख भावनाओं एवं आशाओं को दृष्टि में रखकर उनके व्यक्तित्व को समझने का प्रयास करें, तो उनकी जीवन एवं देश के प्रति आशाओं, भावनाओं एवं क्रिया-कलापों का चित्र हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है।

श्री नेहरू नवीन भारत के प्रमुख निर्माता थे तथा भारतीय जनता एवं बुद्धिजीवी वर्ग पर उनका निर्णायक प्रभाव था। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को राष्ट्रीय संघर्ष के मध्य तथा स्वाधीनता प्राप्ति के बाद सर्वाधिक (केवल गांधी जी को छोड़कर) प्रभावित किया। स्वतंत्रता आन्दोलन के मध्य अनेक बार, उन्हें, अपने दृष्टिकोण को मनवाने के लिए प्रमुख नेताओं के साथ संघर्ष करना पड़ा, और अन्त में कांग्रेस को नवीन दिशा प्रदान की। गांधी जी जब तक जीवित रहे तब तक कांग्रेस में श्री नेहरू का दूसरा स्थान रहा और गांधी जी की मृत्यु के पश्चात् उनका स्थान सर्वोच्च हो गया।

भारतीय राजनीतिक रगमच पर श्री नेहरू का आविर्भाव धीमी गति से हुआ, परन्तु उनका प्रभाव अमिट था। १९२६ तक उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन मे कोई नवीन योगदान नही किया। वे केवल कुछ सकोचपूर्वक गाधी जी का ही अनुसरण करते रहे। १९२६ मे वे यूरोप गये, जहाँ वे लगभग एक वर्ष नौ मास तक रहे। अपनी यूरोप यात्रा के बीच १९२७ मे उन्होंने ब्रुसेल्स मे समाजवादियों एवं साम्यवादियो की काग्रेस मे भाग लिया, जिसका प्रभाव उनके मन पर गहरा पड़ा और उनकी समाजवाद में आस्था पक्की हो गयी। नवम्बर, १९२७ में उन्होंने रूस की यात्रा भी की। १९२७ और १९३० के मध्य नेहरू के समाजवादी चिन्तन का पर्याप्त विकास हुआ और यह उनकी राष्ट्रवादी विचार-प्रणाली का मुख्य आधार बन गया।

भारत लौटने पर श्री नेहरू ने दिसम्बर, १९२७ के अन्त मे मद्रास मे आयोजित भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के ४२वें अधिवेशन मे भाग लिया। मद्रास अधिवेशन मे ही उन्होंने एक प्रस्ताव पारित कराकर काग्रेस को "पूर्ण राष्ट्रीय स्वतत्रता" के लक्ष्य के प्रति वचनबद्ध कर दिया। मद्रास में अपनी विजय से प्रोत्साहित होकर श्री नेहरू काग्रेसजनों, युवकों तथा कार्यकर्ताओं को शिक्षित करने के अपने मिशन मे आगे बढ़े। चूँकि वे औपनिवेशिक दर्जे के विचार के विरुद्ध थे, अत. २७ दिसम्बर, १९२८ को उन्होंने कलकत्ता मे अपने पिता की अध्यक्षता में हुए काग्रेस महासमिति के अधिवेशन में औपनिवेशिक स्तर पर महात्मा गाधी के प्रस्ताव मे एक सशोधन पेश करके "पूर्ण स्वतन्त्रता" की माँग पर जोर दिया। अगले वर्ष वे स्वयं काग्रेस-अध्यक्ष निर्वाचित हुए। दिसम्बर, १९२६ मे उन्होंने काग्रेस के लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता की तथा "पूर्ण स्वतत्रता" को भारत का अपरिवर्तनीय लक्ष्य बना दिया। अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होंने दृढ़तापूर्वक स्पष्ट कर दिया कि भारतीयों की स्वतंत्रता का अर्थ "ब्रिटिश प्रभुत्व और ब्रिटिश साम्राज्यवाद" से पूर्ण स्वतत्रता है। ३१ दिसम्बर, १९२९ को अर्धरात्रि के तुरन्त बाद उन्होंने रावी के किनारे (लाहौर में) तिरंगा फहराकर भारत के लिए पूर्ण आजादी का सकल्प दोहराया, और देश को आनेवाले संघर्ष के लिए तैयार रहने को कहा। यह राष्ट्रीय नीतियों मे श्री नेहरू की प्रमुख विजय थी।

भारत क्रमश: अपने लक्ष्य की प्राप्ति की ओर बढ़ चला। १९३१–३३ के वर्षों मे वे भारत मे पनपती हुई साम्प्रदायिक भावना से बहुत क्षुब्ध हुए। उन्होंने सोचा कि भारत की साम्प्रदायिक समस्या का एकमात्र समाधान स्वतन्त्र सविधान हो सकता है जो पूर्ण प्रतिनिधित्ववाली सभा द्वारा बनाया गया हो। अतः १९३४ में काग्रेस के बम्बई अधिवेशन में उन्होंने स्वतंत्र भारत के लिए संविधान बनाने के

उद्देश्य से संविधान सभा बुलाने का एक प्रस्ताव पेश किया, जिसे कांग्रेस ने सर्व-सम्मति से स्वीकार कर लिया ।

पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग को दृष्टिगत रखकर ही श्री नेहरू ने १९३५ का भारत सरकार अधिनियम अस्वीकार कर दिया और उसे "दासता का एक नया अध्याय" बताया । फिर भी उन्होंने १९३७ में कार्यसमिति का वह प्रस्ताव कुछ संकोचपूर्वक मान लिया, जिसमें १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल बनाने और पद ग्रहण करने को कहा गया था । यह प्रस्ताव उन्होंने यह समझाये जाने पर स्वीकार किया कि कांग्रेस विधान-मण्डल के अन्दर और बाहर रहकर समस्त प्रकार के साधनों से नवीन संविधान से लड़ना चाहती है ।

१९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध फूट पड़ा और अंग्रेजों के 'युद्ध-इरादों' के प्रश्न पर विवाद खड़ा हो गया । सरकार ने भारत को युद्ध में शामिल देश घोषित कर दिया । श्री नेहरू ने भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार को अपने युद्ध-उद्देश्य स्पष्ट करने के लिए कहा । वे युद्ध में मित्र-देशों (Allies) को भारत के सहयोग के लिए स्वतन्त्रता को पूर्व शर्त बनवाना चाहते थे । कांग्रेस ने इस दृष्टिकोण का पूर्ण समर्थन किया । क्योंकि सरकार ने अपने युद्ध सम्बन्धी उद्देश्य स्पष्ट करने के सम्बन्ध में कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं किया तथा वायसराय का प्रस्ताव राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माँग से न्यून था, अतः गांधी जी के नेतृत्व में वैयक्तिक सविनय अवज्ञा के आरम्भ की घोषणा कर दी गयी । श्री नेहरू अक्टूबर, १९४० में गिरफ्तार कर लिए गये । १९४२ में राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र हो गया । अन्य नेताओं के साथ श्री नेहरू को भी गिरफ्तार कर लिया गया, और उन्हें अहमदनगर जेल भेज दिया गया । अहमदनगर जेल में वे लगभग तीन वर्ष रहे, और वहाँ उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत की खोज' (*Discovery of India*) की रचना की । १९४५ के पश्चात् घटनाचक्र तेजी से भारतीय स्वतन्त्रता की दिशा में घूमने लगा । अगस्त, १९४६ में वायसराय लॉर्ड वैवेल ने श्री नेहरू से केन्द्र में अन्तरिम सरकार बनाने के लिए कहा । १३ दिसम्बर, १९४६ को विधान सभा (Constituent Assembly) में उन्होंने अन्तरिम सरकार के अध्यक्ष के रूप में, एक 'उद्देश्य प्रस्ताव' (Objectives Resolution) रखा, जिसके द्वारा भारत की आन्तरिक एवं बाह्य नीतियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया । इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' के द्वारा उनकी प्रजातन्त्र एवं समाजवाद में आस्था परिलक्षित होती है । साथ ही, अन्य देशों के प्रति मित्रता के सम्बन्ध रखने की भावना का भी पता चलता है । १५ अगस्त, १९४७ को भारतवर्ष स्वाधीन हो गया ।

इस प्रकार श्री नेहरू ने कांग्रेस एवं राष्ट्रीय आन्दोलन को पूर्ण स्वतन्त्रता की

और बढ़ने के लिए दिशा प्रदान की। स्वतन्त्रता के पश्चात् उन्होंने देश का पूर्ण नेतृत्व सँभाल लिया तथा अपना राष्ट्रवादी चिन्तन साकार करने के लिए कांग्रेस का मार्ग-दर्शन किया। उन्होंने साम्प्रदायिकता, धार्मिक रूढ़िवादिता, जातिवाद और प्रान्तीयता के विरुद्ध संघर्ष किया, क्योंकि वे भारत की एकता को सर्वोपरि समझते थे। वे भारत की एकता को बौद्धिक दृष्टि से ही नहीं, वरन् भावात्मक अनुभव के कारण भी पर्याप्त महत्व देते थे। वे समझते थे कि वास्तविक एकता इतनी शक्तिशाली होती है कि कोई भी राजनीतिक तूफान, विनाश या प्रलय इससे पार नहीं पा सकती। वस्तुत: अब जिस नवीन धर्मनिरपेक्ष संयुक्त भारत का उदय हुआ है इसका श्रेय श्री नेहरू के चिन्तन को ही है। कांग्रेस ने तो केवल उनके नेतृत्व का अनुसरण ही किया।

श्री नेहरू ने केवल राष्ट्रीय क्षेत्र में ही कांग्रेस तथा राष्ट्र का नेतृत्व नहीं किया, प्रत्युत उनके मार्गदर्शन में कांग्रेस ने देश के लिए अपनी आर्थिक नीतियों का भी निर्माण किया। श्री नेहरू का विश्वास था कि आर्थिक एवं सामाजिक समानता तथा स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक आजादी अर्थहीन होकर रह जाती है। इसी कारण उन्होंने धीरे धीरे राष्ट्रीय कांग्रेस को समाजवादी दृष्टिकोण अपनाने को प्रोत्साहित किया। १९२९ में वे 'भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड युनियन कांग्रेस' के अध्यक्ष चुने गये। साथ ही वे राष्ट्रीय कांग्रेस के भी अध्यक्ष निर्वाचित हुए। दोनों ही संस्थाओं के अध्यक्ष होने के नाते उन्होंने दोनों को एक दूसरे के समीप लाने का प्रयास किया, क्योंकि वे जानते थे कि मजदूर वर्ग उस समय तक राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति जागरूक नहीं होगा तथा उसमें सक्रिय भाग लेना आरम्भ नहीं करेगा जब तक कांग्रेस के कार्यक्रमों में मजदूरों के अधिकारों की रक्षा की बात नहीं कही जायगी, अर्थात् जब तक कांग्रेस के कार्यक्रम समाजवादी नहीं होंगे। अत: श्री नेहरू के नेतृत्व में राष्ट्रीय कांग्रेस वामपन्थी विचारधारा की ओर बढ़ने लगी, यद्यपि इसकी गति बहुत ही धीमी थी। समाजवाद की दिशा में एक महत्व-पूर्ण पग १९३१ के कराची अधिवेशन में उठाया गया। श्री नेहरू ने कार्य-समिति को मूलभूत अधिकारों और आर्थिक नीति पर एक सतर्क समाजवादी प्रस्ताव पारित करने के लिए मना लिया। इस प्रस्ताव में अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा गया कि "राज्य प्रमुख उद्योगों और सेवाओं तथा खनिज साधन, रेलवे, जलमार्ग, जहाजरानी तथा सार्वजनिक परिवहन के अन्य साधनों पर स्वामित्व या नियन्त्रण रखेगा।" यह कराची प्रस्ताव समाजवाद के बारे में कांग्रेस की प्रथम अधिकृत प्रतिज्ञा थी। यह श्री नेहरू की व्यक्तिगत विजय थी, क्योंकि इस प्रस्ताव ने कुछ सीमा तक उस समाजवादी लोकतन्त्रीय राज्य की नींव रखी, जिसका श्री

नेहरू स्वतन्त्र भारत में निर्माण करना चाहते थे। परन्तु समाजवादी उद्देश्यों की दिशा में आगे बढ़ना कोई सरल कार्य नहीं था। नेहरू के समाजवादी प्रचार के प्रभाव ने अनेक वरिष्ठ कांग्रेसजनों को परेशान कर दिया। कांग्रेस के दक्षिणपन्थी वर्ग का विश्वास था कि समाजवादी कार्यक्रम राष्ट्रवादी शक्तियों को विभाजित करके राष्ट्रीय संघर्ष को कमजोर बना देगा। परन्तु नेहरू अपनी समाजवादी योजनाओं और गतिविधियों की पूर्ति में सक्रिय रहे।

१९३७ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने (१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत) प्रान्तों में कार्य करना आरम्भ किया, परन्तु श्री नेहरू इनके कार्य करने के ढंग से संतुष्ट नहीं थे। कांग्रेस राजनीति के रुख और देश में साम्प्रदायिकता के बढ़ते हुए प्रभाव से निरुत्साहित होकर उन्होंने अपना सारा ध्यान राष्ट्रीय योजना समिति की गतिविधियों में केन्द्रित किया, जिसकी स्थापना १९३८ में कांग्रेस के कहने पर की गयी थी। युद्ध आरम्भ होने पर योजना समिति समाप्त कर दी गयी। अगले वर्षों में, स्वाधीनता-प्राप्ति तक, श्री नेहरू को या तो जेल रहना पड़ा या फिर वे राजनीतिक कार्यों में उलझे रहे, जिससे वे किसी रचनात्मक आर्थिक कार्यक्रम में भाग नहीं ले सके।

स्वाधीनता के पश्चात् श्री नेहरू ने अपनी पूरी शक्ति से समाजवादी आधार पर भारत के निर्माण का कार्य आरम्भ किया। अपने समाजवादी विचारों को क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने नियोजन का सहारा लिया। उनके अनुसार नियोजन का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना था। अवाड़ी और नागपुर में कांग्रेस महासमिति के अधिवेशनों में जो प्रस्ताव पेश हुए, वे नेहरू द्वारा प्रेरित थे। वहीं कांग्रेस महासमिति ने यह निर्णय लिया कि "नियोजन समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य से होना चाहिए, जहाँ उत्पादन के प्रमुख साधन सामाजिक स्वामित्व एवं नियंत्रण के अन्तर्गत होंगे और जहाँ राष्ट्रीय सम्पदा का समान वितरण होगा।" भूमि-सुधार सम्बन्धी नागपुर प्रस्ताव में भूमि की अधिकतम सीमा के निर्धारण और संयुक्त सहकारिताओं पर बल दिया गया। इस प्रकार कांग्रेस श्री नेहरू के गतिशील नेतृत्व में भारत को लोकतन्त्रीय समाजवादी समाज बनाने की दिशा में बढ़ चली।

यहाँ श्री नेहरू के आर्थिक विचारों के सम्बन्ध में, जो समाजवादी विचारधारा से ओत-प्रोत थे, कुछ बातें स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वे अर्थशास्त्र की उदारवादी श्रेणी में विश्वास नहीं करते थे, यद्यपि स्वतंत्रता सम्बन्धी उनके विचार पर्याप्त मात्रा में उदारवादी थे। न तो वे रिकार्डो की भाँति आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति के समर्थक थे और न ही वे अर्थशास्त्र की फिज़िओक्रैटिक

पद्धति में विश्वास करते थे। उनके विचार बहुत कुछ जर्मन समाजवादी वैगनर, श्मोलर तथा क्निस (Wagner, Schmoller and Knies) से मिलते जुलते थे। उद्योगों को राजकीय सहायता के समर्थन के साथ साथ वे आर्थिक विकास में व्यक्तिगत अथवा दलीय क्षेत्र के महत्व को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।

श्री नेहरू का सम्पूर्ण आर्थिक दर्शन समाजवादी विचारधारा पर आधारित था, और उनका समाजवाद केवल आर्थिक संगठन का साधन मात्र न होकर एक जीवन का दर्शन था। वे मैक्स एटलर की भाँति नैतिक समाजवादी थे। १९३६ में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि उनका समाजवाद अस्पष्ट प्रकार का मानवीय समाजवाद नहीं है, वरन् उसके अर्थ में पूर्ण अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है। नियोजित अर्थव्यवस्था के द्वारा वे देश की प्रगति करने में विश्वास रखते थे। उनके प्रयत्नों से भारत में नियोजन आयोग की स्थापना की गयी। उन्हीं के प्रयत्नों से सहकारी खेती तथा खाद्य-निगम आयोग की भी स्थापना की गयी।

श्री नेहरू की दृष्टि में समाजवाद का अर्थ पूर्ण राष्ट्रीयकरण नहीं था। अपनी आर्थिक योजना में वे ग्रामीण उद्योग-धंधों तथा खादी को भी स्थान देते थे। यहाँ उनके ऊपर गांधी जी का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। वास्तव में, श्री नेहरू ने आर्थिक क्षेत्र में पश्चिमी ढंग की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था तथा गांधीवादी अर्थ-व्यवस्था का समन्वय करने का प्रयास किया। सन् १९३६ में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में उन्होंने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि "मैं देश के शीघ्र आर्थिक विकास में विश्वास करता हूँ और यह तभी सम्भव हो सकता है, जब दरिद्रता से लड़ा जा सके तथा जन-साधारण के स्तर को ऊँचा उठाया जा सके। तो भी *मैंने खादी-योजना का समर्थन किया है और भविष्य में भी मुझे यही करना* है, क्योंकि मुझे विश्वास है कि वर्तमान आर्थिक जीवन में खादी तथा ग्रामोद्योगों का विशेष स्थान है।"[1] १९४५ में भी राष्ट्रीय नियोजन समिति के समक्ष अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कुटीर उद्योगों तथा रोजगार की समस्या पर बल दिया था।

औद्योगिक क्षेत्र में श्री नेहरू मिश्रित आर्थिक व्यवस्था (Mixed Economy) का समर्थन करते थे, जिसमें निजी सेक्टर तथा सार्वजनिक सेक्टर समानान्तर रूप में कार्य करेंगे। देश की पंचवर्षीय योजनाओं में इस बात का ध्यान रखा गया है।

---

१. जे० एस० ब्राइट (संपादित), इम्पार्टेन्ट स्पीचेज ऑफ जवाहरलाल नेहरू, इन्डियन प्रिन्टिङ्ग वर्क्स, लाहौर (१९४५), अध्यक्षीय भाषण.

अभी तक यह समझा जाता था कि नियोजन केवल सर्वसत्तावादी राज्य द्वारा ही सफलता के चरण तक ले जाया जा सकता है, किन्तु श्री नेहरू ने इस दिशा में एक नूतन परीक्षण करने का प्रयास किया। इस प्रकार उन्होंने लोकतंत्रीय ढाँचे में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को व्यवस्थित करने का प्रयास किया। लेकिन पंच-वर्षीय योजनाओं के कार्यक्रम को जिस प्रकार से कार्यान्वित किया गया तथा वे अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहीं, उससे उनके परीक्षण की सफलता में संदेह किया जाने लगा है।

फिर भी यह बात तो स्पष्ट ही है कि श्री नेहरू समाजवाद में विश्वास करते हुए भी जनतन्त्रीय पद्धति का ही समर्थन करते थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी समाजवाद और प्रजातन्त्र में कोई विरोध नहीं है। भावनात्मक स्तर पर तो श्री नेहरू का झुकाव स्पष्ट रूप से लोकतन्त्र की ओर था। समाजवाद के प्रति उनका आकर्षण बौद्धिक था—मार्क्स द्वारा की गयी इतिहास की आर्थिक विवेचना में विश्वास के कारण। अतः समाजवाद को ग्रहण कर लेने पर भी उन्होंने लोकतन्त्र को कभी नहीं छोड़ा। उन्हीं के प्रयासों से लोकतन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण की योजना बनायी गयी। श्री नेहरू चाहे रूस की नियोजित आर्थिक योजना व्यवस्था के कायल भले ही थे, किन्तु उसके लिए उन्होंने जनतन्त्र का बलिदान कभी नहीं किया। साम्य-वादियों की आलोचना वे सबसे अधिक इस आधार पर करते थे कि उसमें स्वतंत्रता का अभाव है। समाजवाद एवं मार्क्सवाद के प्रभाव से भी अधिक उनके ऊपर गांधी जी की विचारधारा का प्रभाव था, जिसने उनके लोकतन्त्र में विश्वास को और भी अधिक पुष्ट किया।

गांधीवाद से प्रभावित श्री नेहरू केवल साध्य की ही सात्विकता में विश्वास नहीं करते थे, वरन् साथ साथ साधन की पवित्रता पर भी बल देते थे। साधन के रूप में उन्होंने जनतन्त्र का ही प्रयोग किया। सार्वजनिक सम्पर्क की पद्धति द्वारा वे यह समझते थे कि जन-साधारण नेतृत्व की प्रभावशालिता को पहचानने में अपने को सक्षम बना सकता है। वे निरन्तर अनुशासन एवं भ्रातृत्व बनाये रखने के लिए जनता से अपील करते थे। मैकाइवर की भाँति श्री नेहरू भी सामूहिक शक्ति को जनतन्त्रीय संगठन की आधार-शिला मानते थे। सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर उन्होंने वयस्क मताधिकार का समर्थन किया। किन्तु श्री नेहरू के इन विचारों को आलोचकों ने उस समय खोखला बताया जब संविधान के १६वें संशोधन के अन्तर्गत सरकार को सुरक्षा सम्बन्धी असीमित शक्तियाँ प्राप्त हुई। श्री नेहरू ने इस संशोधन का समर्थन करते हुए यह बताया कि नागरिक स्वतन्त्रताओं का विवेचन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में होना चाहिए। केवल इतना

ही नही, वरन् उनके स्वरूप एवं उनकी उपभोग की सीमाओ का निश्चय भी हमारे राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय उत्तरदायित्वों एवं आवश्यकताओ के सन्दर्भ में ही होना चाहिए। किन्तु श्री नेहरू के लोकतन्त्रीय विचार सैद्धान्तिक दृष्टि से जितने अच्छे दिखायी देते थे, व्यावहारिक दृष्टि से वे उतने ही निर्बल थे। यह बात प्राय सभी को खटकती है कि श्री नेहरू ने कभी भी संगठित विरोधी दल के निर्माण में सहयोग नही दिया। पश्चिमी लोकतन्त्र के समर्थक भी इसे भारतीय लोकतन्त्र की निर्बलता समझते है। लोकतन्त्र का समर्थन करते हुए भी श्री नेहरू जनता की दृष्टि मे लोकप्रिय अधिनायक (Popular Dictator) से कम नही थे। वे विरोधियों के विचारो की अपेक्षा अपने विचारो को अधिक महत्व देते थे तथा उन्होने कभी भी विरोधी दलो को सगठित होने के लिए प्रोत्साहित नही किया। वे १७ वर्षों तक निरन्तर देश के प्रधान मत्री बने रहे। एक ही दल तथा एक ही व्यक्ति का लम्बे समय तक सत्ता मे बने रहने का परिणाम यह हुआ कि देश मे राजनीतिक *निर्भरता एवं अकर्मण्यता पैदा हो गयी। आज जो देश में दल-बदल की राजनीति* तथा सर्वत्र राजनीतिक अस्थिरता दिखायी दे रही है वह बहुत कुछ उसी का परिणाम है।

श्री नेहरू मे लोकतंत्रीय नेता के रूप मे भले ही कुछ कमजोरियाँ रही हो, फिर भी इतना तो निश्चित है कि उन्होने नवीन भारत के निर्माण मे सर्वाधिक योगदान दिया था। यह कहना ठीक ही होगा कि वे नवीन भारत के निर्माता थे। उन्होंने भारत का न केवल आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रो मे ही मार्ग-दर्शन किया, प्रत्युत अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे भी उसका पथ-प्रदर्शन किया। यह कहना अनुचित न होगा कि अन्तरराष्ट्रीय अथवा वैदेशिक मामलो मे तो वे भारत के एकमात्र प्रवक्ता माने जाते थे। १९२७ मे उन्होंने मद्रास अधिवेशन मे एक प्रस्ताव पेश करके काग्रेस को यह घोषणा करने के लिए मनाया कि भारत किसी साम्राज्यवादी युद्ध में शामिल नही होगा। द्वितीय महायुद्ध में श्री उनका मत था कि भारत को साम्राज्यवादी युद्ध में भाग नही लेना चाहिए। किन्तु यदि द्वितीय महायुद्ध लोकतंत्र पर आधारित विश्व-व्यवस्था के लिए लडा जाता है तो भारत अवश्य उसमे रुचि लेगा। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस तथा गाधी जी ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार विदेश नीति की दिशा निर्धारित हो गयी तथा आगामी वर्षों में काग्रेस ने इसका अनुसरण किया।

१९४६ मे श्री नेहरू ने अन्तरिम सरकार के प्रमुख के रूप में भारतीय विदेश नीति के मूलभूत तत्वो का स्पष्ट प्रतिपादन किया जो इस प्रकार है—वर्गभेद और उपनिवेशवाद की निन्दा, शक्ति गुटों के साथ सम्बद्ध न होना, विश्वशाति की स्थापना

के हेतु समस्त स्वतन्त्र राष्ट्रों से सहयोग, अमेरिका और सोवियत संघ से अच्छे सम्बन्ध, इंग्लैण्ड और अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों से मैत्री, एशिया और विशेषकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से घनिष्ठ सम्बन्ध। यह वही नीति है जिसका उन्होंने बाद में स्वतन्त्र भारत के प्रधान मंत्री के रूप में लगातार पालन किया। कांग्रेस ने श्री नेहरू द्वारा प्रतिपादित भारतीय विदेश नीति को स्वीकार कर लिया।

श्री नेहरू की अन्तरराष्ट्रीय नीति का आधार था असंलग्नता (Non-Alignment)। असंलग्नता की नीति को अपनाने में श्री नेहरू के ऊपर गांधी-वादी विचारधारा का व्यापक प्रभाव था। असंलग्नता की नीति को उन्होंने भारत की ऐतिहासिक आवश्यकताओं, सांस्कृतिक मान्यताओं तथा उसकी मूलभूत परम्पराओं के अनुरूप बताया। भारत कभी भी विस्तारवादी नहीं रहा, प्रत्युत वह सदैव ही शांति एवं मधुर सम्बन्धों की परम्पराओं में विश्वास करता रहा है। बुद्ध तथा गांधी इस परम्परा के ध्वजात्मक प्रतीक चिह्न हैं। असंलग्नता की नीति का अनुसरण करके श्री नेहरू ने भारत की प्राचीन परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया। भूतपूर्व विदेशमंत्री श्री छागला ने श्री नेहरू की इस नीति की प्रशंसा करते हुए कहा था, 'नेहरू जी के नेतृत्व के लिए यह एक बहुत बड़ी श्रद्धांजलि है कि असंलग्नता की नीति अपनाने से अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का सम्मान बढ़ा है।' किन्तु नेहरू जी ने बहुत ही होशियारी के साथ अपनी असंलग्नता की नीति का स्वरूप निष्क्रिय न रखकर क्रियात्मक तथा सचेतन रखा।

श्री नेहरू अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता के प्रयोग पर भी बल देते थे। पंचशील अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिकता का प्रयोग है। शक्ति के प्रयोग को वे अमानवीय समझते थे, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि शक्ति के समक्ष झुका जाय। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में इसे, बहुत अंशों में, मानवतावादी दृष्टिकोण कहा जा सकता है। वास्तव में, श्री नेहरू का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन मानवतावाद की सबल पृष्ठभूमि पर आधारित था। वे समन्वयवादी थे तथा उन्होंने गांधी और मार्क्स तथा भारतीय सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता के श्रेष्ठ सिद्धान्तों एवं मूल्यों को मिलाकर नवीन भारत का निर्माण करने का प्रयास किया।

मानवेन्द्रनाथ रॉय (१८८६–१९५४):

मानवेन्द्रनाथ रॉय आरम्भ से ही क्रान्तिकारी थे। अल्पायु में ही वे स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रभाव में आए। किन्तु उन्होंने अपनी राजनीतिक दृष्टि श्री विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के क्रांतिकारी विचारों से ग्रहण की। इन लोगों के ओजस्वी

भाषणों ने रॉय के मन पर बहुत अधिक प्रभाव डाला। वे जतिन मुखर्जी के विचारों से भी परिचित थे तथा उन्होंने युगान्तर दल के नेताओं के साथ, जो बगाल मे क्रान्तिकारी कार्यों के लिए प्रसिद्ध थे, मिलकर कार्य किया।

१९१५ तक रॉय दो बार बन्दी बनाये जा चुके थे—प्रथम बार १९१० मे हावड़ा षड्यन्त्र के सम्बन्ध मे तथा दूसरी बार १९१५ मे कलकत्ता में, राजनीतिक डकैती के सम्बन्ध में। १९१५ के अन्त मे वे भारत छोडकर डच इण्डीज चले गये। यहाँ से वे जावा, सुमात्रा, फिलीपाइन, कोरिया तथा मन्चूरिया गये। बाद में वे अमेरिका चले गये, जहाँ पर उन्होंने लाला लाजपत राय के साथ मिलकर कुछ समय तक कार्य किया। १९२० मे, लेनिन के आमंत्रण पर, वे रूस चले गये तथा उपनिवेश सम्बन्धी समस्याओं पर बोल्शेविक दल के सलाहकार के रूप मे कार्य करने लगे। साथ ही, वे मास्को इन्स्टिट्यूट मे पूर्वदेशीय विभाग (Oriental Department) के अध्यक्ष के रूप मे भी कार्य करने लगे। १९२६ के अन्त मे उन्हें बोरोडिन तथा बुल्चर के साथ चीन भेजा गया। वे वहाँ "कम्यूनिस्ट इन्टरनैशनल" के मुख्य प्रतिनिधि की हैसियत से गये, जहाँ वे १९२७ के मध्य तक ठहरे। रॉय ने चीनी साम्यवादियों को एक कृषि सम्बन्धी क्रान्ति की योजना पर अमल करने की सलाह दी, जिसे चीन की साम्यवादी पार्टी ने ठुकरा दिया। रॉय ने इसे किसानों तथा मजदूरों के प्रति विश्वासघात कहा। इससे रॉय और चीन की साम्यवादी पार्टी मे विरोध उत्पन्न हो गया। रॉय को स्टालिन तथा अन्य साम्यवादियों की नीतियाँ तथा अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद स्थापित करने की रीतियाँ भी ठीक नही लगी। रॉय ने स्टालिन की अति-वामपक्षीय तथा लाल पथीय कार्यवाहियों की खुलकर आलोचना की, और अन्त मे १९२८-२९ मे उनका "कम्यूनिस्ट इन्टरनैशनल" से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। १९३० में रॉय प्रच्छन्न रूप से भारत वापस आ गये। लेकिन १९३१ में उन्हें "कानपुर षड्यन्त्र" के सम्बन्ध मे गिरफ्तार कर लिया गया और छह वर्ष का कारावास दे दिया गया। १९३६ मे कारावास से मुक्त होने पर उन्होंने भारतीय राजनीतिक जीवन मे सक्रिय रूप से भाग लेना आरम्भ कर दिया। १८ वर्षों तक कांग्रेस के कार्यकर्ता तथा रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी (अतिवादी प्रजातंत्रवादी दल) के व्यवस्थापक के रूप मे कार्य करने के पश्चात् २५ जनवरी, १९५४ को उनका देहावसान हो गया।

श्री मानवेन्द्रनाथ रॉय के हृदय में यद्यपि मार्क्स के प्रति असीम श्रद्धा थी, फिर भी वे लेनिन अथवा स्टालिन की भाँति (कट्टर) साम्यवादी नहीं थे। रॉय मार्क्स को एक उच्च कोटि के मानववादी तथा स्वतंत्रता-प्रेमी के रूप मे मानते थे। श्री रॉय का उद्देश्य मार्क्सवाद को आर्थिक नियतिवाद (Economic Determi-

nism) के दुराग्रहों से मुक्त करके उसके मानवीय, स्वतंत्रताप्रिय एवं नैतिक स्वरूप की पुनः स्थापना करना था। इस हेतु उन्होंने या तो मार्क्स के उपदेशों की भर्त्सना की अथवा उनमें मूलभूत संशोधन प्रस्तुत किये। अपनी पुस्तक "रीजन, रोमान्टिसिज़्म ऐण्ड रेवोल्यूशन" में उन्होंने बताया कि मार्क्सवाद ने अपनी दार्शनिक परम्परा को तोड़ा मरोड़ा है तथा समाज शास्त्र के क्षेत्र में इसने (मार्क्सवाद ने) भौतिकवाद को भ्रष्ट किया है और नैतिक मूल्यों की—जो समय और दूरी से परे अथवा ऊपर हैं—अवहेलना की है। मार्क्स के ऐतिहासिक आर्थिक नियतिवाद ने मानवीय स्वतंत्रता की आधारशिला को ही नष्ट कर दिया है तथा मनुष्य को निरन्तर दास की कोटि में रहने के लिए बाध्य कर दिया है। इस प्रकार मार्क्स का आर्थिक नियतिवाद उसके दर्शन की धारणाओं के अनुरूप नहीं बैठता।[1]

श्री रॉय का तर्क था कि मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की व्याख्या त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि उसके अनुसार बौद्धिक गतिविधियों को कोई स्थान नहीं है। रॉय के अनुसार यदि संस्कृतियों के निर्माण एवं सामाजिक क्रान्तियों में बुद्धि के लिए कोई स्थान नहीं है, तो उनका महत्व ही नष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से मार्क्सवाद की, कार्य के दर्शन के रूप में, आधारशिला ही समाप्त हो जाती है। रॉय का तर्क है, और इसमें पर्याप्त सत्य भी है, कि इतिहास को केवल उत्पादन के साधनों द्वारा निर्मित घटनाओं का क्रम मानना कोरी मूर्खता है। सामाजिक शक्तियाँ आध्यात्मिक श्रेणियाँ (Metaphysical Categories) नहीं हैं; वे मनुष्य की रचनात्मक शक्ति की सामूहिक अभिव्यक्ति हैं। इतिहास के मार्क्सवादी दर्शन में विचारों को पदार्थ की उपज माना जाता है। चेतना को सत्य अथवा पदार्थ के बाद महत्व दिया जाता है। रॉय ने मार्क्सवाद की पुनः व्याख्या करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि यह सत्य है कि विचार शक्ति (Ideation) एक भौतिक प्रक्रिया है जो वातावरण की क्रिया प्रतिक्रिया का परिणाम है। परन्तु, रॉय का तर्क था, एक बार उत्पन्न होने पर विचारों का विकास-क्रम तर्क-युक्त है।[2] रॉय के अनुसार इतिहास के निर्माण में विचार और पदार्थ दोनों का समान योग रहता है।

मार्क्स की आलोचना करते हुए रॉय ने कहा कि मार्क्स द्वारा फ़्यूअरबाख (Feuerbach) के मानवतावादी भौतिकवाद अथवा जिसे वॉल्टमैन ने मानव-

---

१. एम० एन० रॉय, "न्यू ह्यूमैनिज़्म", पृष्ठ २५-२६.

२. एम० एन० रॉय, "रीज़न, रोमान्टिसिज़्म ऐण्ड रेवोल्यूशन", भाग १, पृष्ठ ११-१४.

शास्त्रीय भौतिकवाद कहा, की अस्वीकृति बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है। मार्क्सवाद द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अवहेलना की जाने की रॉय ने कटु आलोचना की तथा कार्ल मार्क्स के पूर्व-घोषित समाज-शास्त्र में निहित भाग्यवाद के विरुद्ध विद्रोह किया।

मानवेन्द्रनाथ रॉय ने न केवल कार्ल मार्क्स के रूढ़िवादी भौतिकवाद एवं आर्थिक नियतिवाद की ही आलोचना की, प्रत्युत लेनिन के सिद्धान्तों से भी अपनी असहमति प्रकट की। लेनिन का मत था कि विश्व-अर्थशास्त्र की पूँजीपति एवं साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था की स्थिति में यह अनिवार्य है कि पश्चिमी सभ्यता के उन्नत राष्ट्रों में उभरते हुए श्रमिक आन्दोलन और उपनिवेशी जगत् के मध्यवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के बीच मेल स्थापित किया जाय। इसके विपरीत, रॉय ने एशिया के राष्ट्रीय नेताओं के श्रमिक-विरोधी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया। लेनिन का मत उसके पश्चिमी देशों के अनुभवों पर आधारित था, जहाँ मध्यवर्ग ने राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक विकास के प्रवक्ता के रूप में कार्य किया था। यद्यपि रॉय लेनिन के इस विचार से सहमत थे कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की उच्चतर स्थिति है तथा स्वाधीनता के लिए उपनिवेशीय संघर्ष पूँजीवाद के विरुद्ध लड़े जानेवाले अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष का ही एक अंग है, उन्होंने (रॉय ने) अनुभव किया कि पूर्वीय देशों में वह २०वीं शताब्दी की स्थिति से मेल नहीं खाती। ऐसी दशा में, रॉय के अनुसार, पूर्वीय देशों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलनों के नेतृत्व का स्वरूप भी पश्चिम के नेतृत्व से भिन्न होना चाहिए। रॉय ने रूसी क्रान्ति का भी, जो लेनिन के नेतृत्व में लड़ी गयी थी, अनुमोदन नहीं किया। रॉय के मतानुसार रूसी आन्दोलन इतिहास के स्वतःसिद्ध एवं पूर्वनिश्चित नियम (मार्क्स इतिहास के नियम पूर्वनिश्चित एवं स्वयंसिद्ध मानता था) के अनुसार नहीं हुआ। रूसी क्रान्ति को वे इतिहास का एक संयोग मानते थे। रॉय के मत में रूस सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन के लिए परिपक्व नहीं था, परन्तु कुछ घटनाओं के आकस्मिक संयोग के कारण रूसी आन्दोलन सफल हो गया। रॉय की यह भी आपत्ति थी कि साम्यवादी आन्दोलन रूसी राज्य की इच्छाओं के अनुरूप ढल गया है। वे रूसी साम्यवाद को राजकीय अथवा सरकारी पूँजीवाद मानते थे।

रॉय 'तृतीय अन्तरराष्ट्रीय' (Third International) के नेतृत्व का रूसी साम्यवादियों द्वारा, जो अपने को मार्क्सवादी सिद्धान्त एवं व्यवहार के स्वामी मानते थे, एकाधिकरण किये जाने का विरोध करते थे। साथ ही, उन्होंने 'कम्युनिस्ट इन्टरनैशनल' की छठी विश्व कांग्रेस में निरउपनिवेशवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। रॉय ने साम्राज्यवाद के बदलते हुए स्वरूप की ओर भी इंगित किया तथा भविष्यवाणी की कि साम्राज्यवाद के घटते हुए मूल्य के कारण भविष्य में

विदेशी पूँजीपति उपनिवेशों में अपनी सत्ता का परित्याग कर देंगे। साम्यवादियों ने छठी विश्व कांग्रेस में, एक प्रस्ताव पास करते हुए, भारतीय जनता को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के क्रान्ति-विरोधी स्वरूप के विरुद्ध सावधान किया। रॉय ने भारत के लिए संविधान सभा के निर्माण की माँग की, जिसका रूसी साम्यवादियों ने विरोध किया। इन प्रश्नों पर रॉय और रूढ़िवादी साम्यवादियों में विरोध उत्पन्न हो गया, जिसके परिणामस्वरूप रॉय ने रूस छोड़ दिया और वे १९३० में भारत लौट आए।

मानवेन्द्रनाथ रॉय केवल एक उच्च कोटि के क्रान्तिकारी ही नहीं थे, जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष किया, प्रत्युत वे एक गम्भीर विचारक भी थे, जिन्होंने भारत की विविध समस्याओं का अध्ययन कर उनका हल खोजने का प्रयास किया। १९२२ में उन्होंने अपनी पुस्तक 'इण्डिया इन ट्रान्ज़िशन' में तत्कालीन भारत का समाज-शास्त्र की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने उन भारतीय नेताओं की कटु आलोचना की जो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों पर विश्वास करते थे, और १९१९ के भारतीय अधिनियम में सुधार प्रस्तुत किये। उन्होंने धार्मिक पुनर्जागरण द्वारा भारतीय राजनीति में भ्रान्ति फैलाई जाने का भी उपहास उड़ाया। उनका कहना था कि भावी भारत का निर्माण भारतीय समाज में निहित प्रगतिशील शक्तियों के निश्चित एवं दृढ़ विकास द्वारा किया जाना चाहिए। उन्होंने बताया कि "भारतीय परिवर्तन उन सामाजिक शक्तियों की गति का परिणाम था, जो पुराने क्षयग्रस्त सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे को बदलने के लिए संघर्ष-रत थीं।"[1] रॉय के मत में भारत में राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन और वर्ग-संघर्ष साथ साथ चल रहे थे। अपनी उपर्युक्त पुस्तक में उन्होंने तीन आधार-भूत सामाजिक घटनाओं पर दृष्टिपात किया है। ये घटनाएँ थीं—भारतीय मध्य-वर्ग अथवा पूँजीपति वर्ग की उत्पत्ति, भारत में कृषक वर्ग की दरिद्रता तथा शहरी श्रमिक वर्ग की साधनहीनता। अतः रॉय के मतानुसार भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को सफल बनाने के हेतु श्रमिकों एवं कृषकों को जागृत कर व्यवस्थित किया जाना तथा साथ ही वर्ग-संघर्ष के आधार पर युद्ध किया जाना आवश्यक था।

१९२२ के अन्त में रॉय ने अपनी एक अन्य पुस्तक, 'इण्डियाज प्राब्लेम ऐण्ड इट्स सॉल्यूशन', का प्रकाशन किया, जिसमें उन्होंने गांधीवादी विचारधारा की आलोचना की। १२ फरवरी, १९२२ को बारदोली में कांग्रेस द्वारा स्वीकृत गांधीवादी रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति उन्होंने अपनी असहमति प्रकट की। इसके स्थान

१. एम० एन० रॉय, 'इण्डिया इन ट्रान्ज़िशन', पृष्ठ ८४-८५.

पर उन्होंने क्रान्तिकारी जन-पार्टी के निर्माण के पक्ष में दलील दी, जिसका उद्देश्य देश में विद्यमान सामाजिक एवं राजनीतिक पद्धति के विरुद्ध हड़ताल आदि के द्वारा जनता में असन्तोष जागृत करना होगा। कांग्रेस के 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन के स्थान पर जनता द्वारा साम्रामिक कार्यवाही की जाने के पक्ष में उन्होंने अपना तर्क प्रस्तुत किया।

दिसम्बर, १९२२ में 'वैन्गार्ड पार्टी' ने, जिनके साथ रॉय का निकट सम्बन्ध था, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को (गया कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर) एक कार्यक्रम भेजा, जिसमें निम्न बातें थी

१ जमींदारी प्रथा की समाप्ति करना,
२. भूमि-भाड़े में कमी करना,
३. कृषि के आधुनिकीकरण के हेतु राज्य द्वारा सहायता देना,
४. सभी अप्रत्यक्ष करों एवं वर्धमान (प्रगतिशील) आयकरों की समाप्ति करना,
५. सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुओं एवं सेवाओं का राष्ट्रीयकरण करना,
६. राज्य के सहयोग से चलनेवाले आधुनिक उद्योगों का विकास करना,
७. श्रमिक संगठनों को वैध ठहराना,
८. आठ घण्टे का दिन तथा न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना,
९. बड़े उद्योगों में श्रमिक-परिषदों की स्थापना को वैध करना,
१०. सभी बड़े उद्योगों में मुनाफे में भागीदारी पद्धति को आरम्भ करना,
११. नि शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के लिए प्रयत्न करना,
१२. राज्य और धर्म को एक दूसरे से पृथक् करना, तथा
१३. स्थायी सैन्य के स्थान पर राष्ट्रीय देश-रक्षक सेना (National Militia) तैयार करना।

देश के समाचारपत्रों तथा राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस कार्यक्रम का स्वागत नहीं किया, क्योंकि उन्हें इसमें साम्यवादी विचारधारा की गन्ध आती थी।

एक वर्ष बाद ही रॉय ने अपनी पुस्तक, 'वन ईयर ऑफ नानकोऑपरेशन', में गांधी जी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की, और गांधी जी की तुलना टॉमस अक्वीनस्, सवोनरोला तथा फ्रान्सिस ऑफ असिसि से की। गांधी जी के चार योगदानों की उन्होंने सराहना की, जो रॉय के अनुसार इस प्रकार थे :

१. राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जन-आन्दोलन का सहारा लेना,
२. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को संगठित करना,

३. अहिंसा द्वारा राष्ट्रीय शक्तियों को सरकारी शोषण से मुक्त कराना, तथा
४. असहयोग, सविनय अवज्ञा एवं करों का भुगतान न करने आदि अस्त्रों का राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रयोग करना।[1]

गांधी जी के योगदान की सराहना करने पर भी, रॉय उनके कुछ सिद्धान्तों को ठीक नहीं समझते थे। रॉय का मत था कि गांधी जी के पास जनता को आकर्षित करने के लिए कोई ठोस आर्थिक कार्यक्रम नहीं था। साथ ही, गांधी जी के आन्दोलन को क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन नहीं कहा जा सकता था। रॉय के मत में, गांधीवादियों के पास श्रमिक-वर्ग की दृष्टि से ऐसा कोई ठोस कार्यक्रम नहीं था, जिससे सामन्तवाद एवं पूँजीवाद को शीघ्र ही देश से समाप्त करके श्रमिक वर्ग की स्थिति को सुधारा जा सके। रॉय की दृष्टि में चर्खे का अर्थशास्त्र प्रतिक्रियावादी था। उन्होंने कांग्रेस के नेतृत्व को दिवालिया नेतृत्व घोषित किया तथा गांधी जी की आलोचना करते हुए कहा कि उनके (गांधी जी के) नेतृत्व में कांग्रेस सूत कातनेवालों की संस्था बनकर रह गयी है।

द्वितीय महायुद्ध में उन्होंने मित्र राष्ट्रों का, विशेषकर फ्रान्स की पराजय के के पश्चात्, समर्थन किया। वे द्वितीय महायुद्ध को राष्ट्रों के बीच युद्ध न मानकर एक अन्तरराष्ट्रीय गृह-युद्ध मानते थे, जिसमें शत्रु राज्य न होकर अनियन्त्रित विचारधारा थी। रॉय की दृष्टि में यह फासीवादी विचारधारा के विरुद्ध युद्ध था। उनके अनुसार फासीवादी शत्रुओं को उनकी अपनी राष्ट्रीय सीमाओं पर ही परास्त करना चाहिए। रॉय की दलील थी कि भारत को द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों का साथ देना चाहिए। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जनतोन्मुख भारतीय फासीवाद कहकर पुकारा। राष्ट्रीय कांग्रेस अंग्रेजों द्वारा लड़े जानेवाले द्वितीय युद्ध को साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से प्रेरित युद्ध मानती थी। कांग्रेस की माँग थी कि यदि ब्रिटिश सरकार युद्ध समाप्ति के बाद भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने का वचन दे तो कांग्रेस भारत को मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित होने के लिए अपनी सहमति प्रदान कर देगी। क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने ऐसा आश्वासन देने से इनकार कर दिया, अतः कांग्रेस ने भी ब्रिटिश सरकार को समर्थन देने से इनकार कर दिया। यद्यपि कांग्रेस का पक्ष न्यायोचित था, फिर भी रॉय ने कांग्रेस के दृष्टिकोण को फासीवादी कहकर उसकी आलोचना की। क्योंकि मित्र-राष्ट्रों की द्वितीय महायुद्ध में हार होने का परिणाम प्रत्यक्ष रूप से रूस के जर्मनी के साथ युद्ध पर घातक रूप में पड़ना अनिवार्य था, अतः रॉय ने भारतीय राष्ट्रीय

१. एम० एन० रॉय, 'वन ईयर ऑफ़ नॉनकोऑपरेशन', पृष्ठ ५५०-५५६.

कांग्रेस के दृष्टिकोण को फासीवाद-समर्थक बताया। यह तर्क अत्यन्त दूषित एवं अन्यायपूर्ण था। रॉय ने गांधी जी की भी, उन्हें प्रतिक्रियावादी एवं सुधार-विरोधी कहकर, कटु आलोचना की। रॉय ने गांधी जी के कार्य को धूर्तता कहकर पुकारा, जिसका उद्देश्य (रॉय के अनुसार) फासीवादी शक्तियों को बढ़ावा देना था। रॉय के इन विचारों से भारतीय जनता एवं भारतीय नेता बहुत दुःखी हुए, और इनके परिणामस्वरूप रॉय का भारतीय राजनीति से निष्कासन कर दिया गया।

मानवेन्द्रनाथ रॉय अपने जीवन के अन्तिम काल में नवीन मानवतावाद के प्रवर्तक हुए। उन्होंने "न्यू ह्यूमैनिज्म" (*New Humanism*) नामक ग्रन्थ की रचना की। अप्रैल, १९३१ में आपने "स्वतन्त्र भारत" ("Independent India") नामक साप्ताहिक पत्र की स्थापना की और बाद में १९४९ में उसका संशोधित नाम "रैडिकल ह्यूमनिस्ट" ("Radical Humanist") रखा। रॉय का मत था कि विज्ञान ने मानव की रचनात्मक प्रतिभा को प्रस्फुटित किया है; अन्ध-विश्वासों के भय से मुक्ति दिलाकर विज्ञान ने आधुनिक मानव मन को खोल दिया है। रॉय अपने मानवतावादी दर्शन में हक्सिन्सन, बेन्थम तथा शैफ्ट्सबरी से प्रभावित थे। *रॉय का मानवतावाद विवेक और लौकिक आत्मा पर आधारित था।* वे आध्यात्मिक आत्मानुभूति में विश्वास नहीं करते थे, क्योंकि वे भौतिकवादी विचारक थे। उनका मत था कि आज मानवता एक संकटकाल से गुजर रही है, और इस समय सबसे महत्वपूर्ण मौलिक प्रश्न यह है कि सर्वतत्तात्मक राज्य के बढ़ते हुए चरण से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार की जाय। पूँजी और श्रम के बीच आर्थिक प्रश्न अब कोई केन्द्रीभूत समस्या नहीं है। रॉय का विश्वास था कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है, और वह अपने चारों ओर के भौतिक वातावरण से प्रभावित होता है, क्योंकि वह इस भौतिक जगत् का एक अंग है। मानव का विवेक और उसका व्यक्तित्व सार्वलौकिक समन्वय (Universal Harmony) की एक प्रतिध्वनि है।[1]

रॉय ने मानव की नवीन व्याख्या की। उन्होंने अपने मानवतावाद को फ्रेंच और जर्मन मानवतावाद से भिन्न माना। इस नवीन मानवतावाद का आधार विज्ञान के शोध-परिणाम, समाज शास्त्र तथा शरीररचना विज्ञान के नये नये अन्वेषण हैं। *नवीन मानवतावाद स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्व प्रदान करता है।* स्वतंत्रता का आधार कोई अमूर्त चिन्तन नहीं है। हमें तो आज के विकासवादी संघर्ष में स्वतंत्रता आँकनी है। प्रत्येक व्यक्ति आत्म-संरक्षण चाहता है, और उस संरक्षण के लिए उसे

---

१. एम० एन० राय, "न्यू ह्यूमैनिज्म", पृष्ठ ४४–४८.

अनवरत संघर्ष करना पड़ता है। इसी संघर्ष के मूल में स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता इसी ऐहिक जीवन में प्राप्त करनी है। रॉय आन्तरिक स्वतंत्रता और बाह्य स्वतंत्रता में भेद नहीं करते थे।

रॉय जीवन के लिए स्वतंत्रता को और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष को आवश्यक मानते थे, जबकि आदर्शवादी स्वतंत्रता को एक दैवी प्रवृत्ति मानते हैं। स्वतंत्रता के तीन स्तम्भ—मानवतावाद, व्यक्तिवाद एवं विवेकवाद माने गये हैं। रॉय उन लोगों से सहमति नहीं रखते थे जो भौतिकवाद को इन्द्रिय-जन्य तृप्ति या वासनामय तृप्ति मानते हैं। उनके मतानुसार नवीन मानवतावाद अपने दृष्टिकोण में विश्व-व्यापी है। रॉय के मत में राष्ट्रीयता जातीय विद्वेष पर आधारित है तथा यह प्रति-क्रियावादी है। यह राष्ट्रीय प्रश्नों को अछूता छोड़ देती है।[१] टैगोर, गांधी तथा अरविन्द की भाँति रॉय भी विश्व-बन्धुत्व में विश्वास करते थे। नवीन मानवता-वाद में स्वतंत्र व्यक्तियों के एक कॉमनवेल्थ की कल्पना की गयी है। राय विश्व-संघ के पक्ष में थे, और उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा है, "नया मानवतावाद अपने दृष्टिकोण में विश्वव्यापी है। कॉसमॉपोलिटन कॉमनवेल्थ में स्वतंत्र व्यक्ति होंगे, जो राष्ट्रीय राज्य की सीमाओं से परे होंगे, चाहे वे राज्य पूँजीवादी, फासिस्ट, समाजवादी अथवा साम्यवादी क्यों न हों। २०वीं शताब्दी में हुए जागृत मानव के प्रभाव में इस प्रकार की भावना तिरोहित हो जायगी।"[२]

रॉय का सम्पूर्ण नवीन मानवतावादी दर्शन वैयक्तिक स्वतंत्रता के ऊपर आधा-रित था। वे कहते थे कि राज्य और समाज को व्यक्ति की स्वतंत्रता पर हॉब्स के लेवाइयन् (बड़ा दैत्य) की भाँति बैठने का अधिकार नहीं। व्यक्ति की स्वतंत्रता के हित में वे टोटैलिटेरियन राज्य (सर्वसत्तात्मक राज्य) के विरोधी थे। इतना ही नहीं, वरन् वे संसदात्मक शासन पद्धति को भी ठीक नहीं समझते थे, क्योंकि वह दलगत राजनीति को प्रोत्साहित करती है। साथ ही, संसदात्मक राज्य में बहुधा केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। ये दोनों ही बातें व्यक्ति की वास्त-विक स्वतंत्रता की विरोधी हैं। रॉय राजनीतिक दलों के योग को कम करना चाहते थे। राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण कर सामाजिक परिवर्तन लाना उन्हें रुचिकर न था। बकुनिन तथा प्रिन्स क्रॉपटकिन जैसे अराजकतावादियों की भाँति रॉय सत्ता के विकेन्द्रीकरण में विश्वास करते थे। उनकी कल्पना की सुसंगठित

१. एम० एन० रॉय, "प्राब्लेम्स ऑफ फ्रीडम", पृष्ठ ११३-११६.
२. एम० एन० रॉय, "रीज़न, रोमान्टिसिज़्म एण्ड रेवोल्यूशन", पृष्ठ ३१०.

लोकतंत्र तथा दलविहीन लोकतन्त्र की कल्पना थी, जिसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता राज्य एवं समाज के अकारण एवं अनुचित बन्धनों से मुक्त रहेगी ।

आचार्य विनोबा भावे (१८९५ ...) :

जैसा करोड़ो भारतीयो को विदित है, आचार्य विनोबा गाधी जी के विश्वसनीय एवं आज्ञाकारी शिष्य थे। वे बहुत कुछ गाधी जी की ही भाँति दिखायी देते है—यदि उनकी सफेद दाढी और गहरे काले बालों को हटा दिया जाय। वे देश के उच्च कोटि के विद्वानो मे से एक है, जो संस्कृत, फारसी, उर्दू, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बँगला, तेलगू, कन्नड, मलयालम तथा अग्रेजी भाषाएँ जानते है, जिनकी सहायता से वे देश के प्रत्येक भाग मे सरलता से यात्रा करते है तथा अपना सर्वोदय का सदेश देते है। आज जो देश में उनकी प्रतिष्ठा है, वह इसलिए नही है कि वे अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वान् है बल्कि इसलिए कि उन्होने देशवासियो में नवीन आशा की किरण पैदा की है।

विनोबा भावे का जन्म ११ सितम्बर, १८९५ को पश्चिमी भारत के गाँव गंगोदा मे हुआ। उनका जन्मनाम विनायक था, परन्तु गाधी जी ने उसे बाद मे "विनोबा" मे परिवर्तित कर दिया। विनोबा भावे ने केवल १० वर्ष की आयु में ही आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने का व्रत ले लिया, मिष्ठान्न आदि का परित्याग कर दिया तथा नगे पैर रहने की प्रतिज्ञा कर ली। २० वर्ष की आयु मे अध्ययन हेतु उन्हे बम्बई भेजा गया, परन्तु वे बम्बई की बजाय बगाल चले गये। बगाल मे ही वे राष्ट्रीय आन्दोलन मे सम्मिलित हुए। वाराणसी में उन्होने संस्कृत का अध्ययन किया तथा हिन्दू धर्म मे उनकी आस्था बढती ही गयी। १९१६ मे उन्होने प्रथम बार गाधी जी के दर्शन किये।

गाधी जी द्वारा चलाये गये सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे भाग लेने के कारण विनोबा जी को १९३२ में बन्दी बनाकर कारावास भेज दिया गया। यह उनकी प्रथम जेल-यात्रा थी। इसके बाद उन्हे कई बार जेल-यात्रा करनी पडी और लगभग दो वर्ष उन्होने विभिन्न जेलो मे बिताए। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत मे भयकर साम्प्रदायिक दंगे हुए। १९४८ मे गाधी जी की हत्या की गयी तथा देश को अनेक कठिन कठिन समस्याओ से जूझना पड़ा। विनोबा जी इस समय राजनीति से पूर्णत अलग थलग रहे। हां, पूँजी की निन्दा करते हुए उन्होने कुछ लेख अवश्य ही प्रकाशित किये थे। विनोबा के अनुसार, पूँजी मनुष्य को झूठ बोलना सिखलाती है तथा उसे कुमार्ग की ओर ले जाती है। पूँजी को विनोबा ने आवारा घुमक्कड़ के सदृश बताया है। आदान प्रदान के हेतु, विनोबा ने व्यक्ति को, उसके

द्वारा श्रम किये जाने के समय को घंटों में प्रदर्शित करते हुए, प्रमाणपत्र देने के पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत किया। एक बार राजघाट (दिल्ली) पर अपनी प्रार्थना-सभा में उन्होंने कहा कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था अनिवार्य रूप से श्रम पर आधारित रहनी चाहिए तथा उसमें पूँजी को कोई स्थान नहीं होना चाहिए। कुछ लोगों की दृष्टि में उस समय विनोबा के विचार बहुत ही घिसे पिटे एवं अत्यन्त पुराने थे, जो समाज में पुनः वस्तुओं के रूप में आपसी लेन-देन की पद्धति (Barter System) को स्थापित करना चाहते थे। परन्तु विनोबा जी का यह उद्देश्य कदापि नहीं था। वे मुद्रा प्रचलन के विरुद्ध नहीं थे। वे नोटों के प्रचलन को सिक्कों के प्रचलन से अधिक श्रेष्ठ मानते थे, क्योंकि नोटों का संग्रह करना, सिक्कों के संग्रह की अपेक्षा अधिक कठिन होता है तथा उनके शीघ्र ही नष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है। पर वास्तव में, वे तो श्रम रूपी मुद्रा के पक्ष में थे। इस प्रकार की मुद्रा, नासिक में किसी के निर्देशन में न छपकर, स्वयं ग्रामीणों द्वारा अपने लाभ के लिए ग्रहण की जायेगी। इस प्रकार की मुद्रा के लिए किसी साख अथवा प्रमाण की आवश्यकता नहीं होगी।[1]

जो विचार आचार्य विनोबा ने उस समय (जिस समय भारत स्वतन्त्र हुआ था) व्यक्त किये थे, उनपर वे आज तक दृढ़ हैं। इतना ही नहीं, वरन् उनकी आस्था इन विचारों में और भी अधिक दृढ़ हो गयी है। शारीरिक श्रम के महत्व की जीवन में स्थापना कर, वे सम्पूर्ण रचनात्मक कार्यक्रम में एक नवीन दृष्टिकोण प्रतिस्थापित करना चाहते हैं। आचार्य विनोबा का मत है कि, "यदि हम जीवन में शारीरिक श्रम के महत्व को समझ लें तथा आधुनिक सभ्यता के सभी मूल्यों का शारीरिक श्रम के सन्दर्भ में पुनः अवलोकन करने का प्रयास करें तो हमारी बहुत सारी समस्याएँ एवं परेशानियाँ आप ही आप मिट जाएँगी।" उन्होंने बार-बार इस बात को दुहराया है कि यदि हम अपने पास के उपलब्ध (कम से कम एवं सरल, जो भी है) साधनों का ही अपने हाथों से पूरा पूरा उपयोग करें, तो हमारी अधिकांश आवश्यकताएँ पूर्ण हो जायेंगी। आर्थिक समानता एवं स्वतन्त्रता, जीवन का सौन्दर्य एवं उसमें सरलता तथा किसी भी प्रकार के शोषण से मुक्त विकेन्द्रित समाज—ये सभी बातें हमें एक साथ प्राप्त हो जाएँगी, यदि हम इस नवीन दृष्टिकोण से शारीरिक श्रम को देखना आरम्भ कर दें।

यदि हम गांधी जी के उत्पादक श्रम (Productive labour) पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि उन्होंने कताई के काम पर जो अत्यधिक बल

---

१. 'हरिजन', २९ दिसम्बर, १९५१.

दिया उसका उद्देश्य केवल गद्दर का उत्पादन करना ही नहीं था, प्रत्युत इसके द्वारा वे समाज में सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति लाना चाहते थे। उन्होंने राष्ट्र के समक्ष शारीरिक श्रम का एक ऐसा कार्यक्रम रखा, जिसमें न केवल देश की सम्पत्ति बढ़ती, बल्कि जिसे सभी आयु के लोग सरलतापूर्वक कर सकते थे एवं कर सकते हैं। गांधी जी ने सभी के लिए शारीरिक श्रम को आवश्यक बताया। बिना शारीरिक श्रम किये किसी को भी अन्न खाने का अधिकार नहीं होता। परन्तु दुर्भाग्य से कांग्रेस ने गांधी जी को गलत समझा और इस कारण उसने सूत की अपेक्षा चार आने भुगतान के रूप में देने को अधिक महत्त्व दिया। इससे धन (Money) और सम्पत्ति अथवा ऐश्वर्य (Wealth) दोनों में गड़बड़ी पैदा कर दी गयी। परिणामस्वरूप, देश में मुद्रा की तो प्रगति हुई, परन्तु देश की सम्पत्ति (अथवा धन-सम्पन्नता) में बहुत कमी आ गयी। यदि हम धन को अधिक महत्त्व देंगे, तो श्रम का मूल्य गिर जायगा। गांधी जी ने अपने कार्यक्रम में इस बात को निश्चित कर दिया था कि जो व्यक्ति कांग्रेस को एक लाख रुपये का दान देगा, उसे दानी तो कहा जायगा परन्तु उसे मत देने का अधिकार नहीं दिया जायेगा। मत देने का अधिकार केवल उसे ही प्रदान किया जायगा जो अपने हाथ से काते हुए सूत को दान में दे। इस प्रकार गांधी जी ने एक अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार देश के समक्ष रखा, जिसे कांग्रेस ठीक प्रकार से नहीं समझ सकी।

विनोबा जी ने अपने गुरु गांधी जी के इसी सर्वोदय के आदर्श को ग्रहण किया है तथा दृढ़तापूर्वक उसपर जीवन में अमल कर रहे हैं। विनोबा का तर्क है कि हम एक बार भूखे रहकर इस सभ्य समाज में स्वतंत्रतापूर्वक विचरण कर सकते हैं, परन्तु बिना वस्त्रों के (नंगे) हम कहीं भी नहीं जा सकते। अतः आज के सभ्य समाज में वस्त्र का महत्व भोजन से कहीं अधिक है। इससे खादी का महत्व (विशेषकर भारत के लिए) सिद्ध हो जाता है। साथ ही, खादी शान्ति एवं अहिंसा का चिह्न है, जिसे विनोबा जी के अनुसार जीवन में अनिवार्य रूप से अपनाया जाना चाहिए।

गांधी जी की १९४८ में मृत्यु के बाद विनोबा ही एकमात्र (गांधी जी के) ऐसे शिष्य थे, जिन्होंने जीवन में अपने गुरु के आदर्शों पर दृढ़तापूर्वक चलने का व्रत लिया। १९५१ में उन्होंने भूदान आन्दोलन का श्रीगणेश किया। भूदान-यज्ञ का आन्दोलन तेलंगाना (हैदराबाद) से आरम्भ हुआ। तेलंगाना में भूमि-समस्या को लेकर एक हिंसात्मक आन्दोलन चल रहा था। साम्यवादियों द्वारा अनेक जमींदार मार डाले गये थे। सरकार ने हिंसा को दबाने के लिए दमनकारी नीति का सहारा लिया। सम्पूर्ण राज्य में भय, हिंसा, आशंका, हत्या एवं अग्निकांड का

वातावरण था। आचार्य भावे ने तेलंगाना की पैदल यात्रा की। भूदान का जन्म पोचमपल्ली ग्राम में हुआ, जहां पर रामचन्द्र रेड्डी नामक व्यक्ति ने १०० एकड़ भूमि गरीब भाइयों के लिए दान में दे दी। विनोबा जी ने भूदान-यज्ञ का संदेश लेकर हिंसाग्रस्त तेलंगाना का भ्रमण किया। दो मास में उन्होंने वहां पर १२ हजार एकड़ भूमि इकट्ठी कर ली। विनोबा जी ने २५ लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने का संकल्प किया।

भूदान-यज्ञ आन्दोलन का परम लक्ष्य शांतिपूर्ण ढंग से सद्भाव जागृत कर क्रान्ति की सृष्टि करना है। विनोबा जी प्रेम और न्याय दोनों को साथ लेकर चलने को कहते हैं। क्रान्ति की अभिव्यक्ति तीन क्रमों में होती है—प्रथम चिन्तन से, द्वितीय वचन से और तृतीय आचरण से या कार्य से। तीन पर्यायों से क्रान्ति की परिणति होती है। प्रथम लोगों के जीवन में, या दूसरे जन-समुदाय के जीवन में और फिर अन्त में समाज में। उसका अर्थ यह हुआ कि पहले हृदय-परिवर्तन, फिर जीवन-परिवर्तन और अन्त में समाज-परिवर्तन। विनोबा जी के अनुसार कोई भी क्रान्ति पहले चिन्तन में आती है। फिर वह वचन में प्रकाशित होती है, अर्थात् संकल्प के रूप में आती है। और अन्त में कार्यक्षेत्र में उसका विकास होता है। यह कार्य पहले व्यक्तिगत रहता है, फिर सामूहिक होता है, और उसके बाद उसपर सम्पूर्ण समाज की मुहर लग जाती है। भूदान-यज्ञ का एक दार्शनिक आधार है जिसकी प्रेरणा भारतीय मंत्रों में है। आचार्य विनोबा कहते हैं कि "विचार-प्रचार तो नेताओं और विचार-प्रवर्तकों का काम है। क्रान्तिकारी विचार जब लोग मान लेते हैं, तब सरकार को प्रयोग की व्यवस्था करनी पड़ती है, और यदि सरकार ऐसा नहीं करती है तो उसे बदल दिया जाता है। जब विचार प्रचारित हो जाता है, तब उसके अनुकूल राज्य का गठन होता है, और ऐसा न होने से राज्य-क्रान्ति हो जाती है। जब मार्क्स ने विचार-परिवर्तन किया तब लेनिन के नेतृत्व में रूस में क्रान्ति हो गयी। रूसो और वॉल्टेयर द्वारा प्रवर्तित विचारक्रान्ति ने फ्रान्स में राज्य-क्रान्ति करा दी।"[1]

भूदान-यज्ञ के अनुसार "सर्व भूमि गोपाल की" है, अतः भूमि पर सबका समान अधिकार है। भूदान-यज्ञ चाहता है कि व्यक्ति का व्यक्ति से सच्चा मिलन हो। इससे जनता की शक्ति बढ़ती है और समाज सर्वात्मक क्रान्ति की ओर बढ़ता है। भूदान के द्वारा समाज में विचार क्रान्ति की सृष्टि होगी, और यह क्रान्तिकारी विचार स्वामित्वभावना का त्याग ही है। भूदान आन्दोलन में धनी, गरीब का कोई

१. विनोबा, 'सर्वोदय के आधार', सर्व सेवा संघ, काशी (१९५६), पृष्ठ ६२-६५.

भेद न रहते हुए सबसे जमीन ली जाती है। इस प्रकार धनी लोग अपने परिवार के बाहर जो दरिद्र हैं उन्हें अपने परिवार का भागीदार समझना प्रारम्भ करेंगे। भूदान-यज्ञ प्रेम का मार्ग है। इसी प्रेममार्ग से सामाजिक विषमता दूर होगी। विनोबा जी कहते हैं, "मैं बड़ो से भूमि लेकर भूमिहीन गरीबों को आजीविका के लिए देना चाहता हूँ....अन्य देशों मे इस विषमता को दूर करने के लिए लोगों की हत्या की गयी है। रूस मे हजारो धनिकों की हत्या की गयी और तेलंगाना मे सैकड़ो धनिकों की हत्या की गयी। मैं भारत मे बिना हत्या या खूनखराबी के वह काम पूरा करना चाहता हूँ।"[1]

विनोबा जी ने भूमिदान के आधार पर जिस क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रवर्तन किया है, उसके द्वारा यज्ञ के तीन उद्देश्यों की पूर्ति होगी। इससे क्षयपूर्ति, शुद्धीकरण तथा संगठन जैसे उद्देश्यों की पूर्ति होगी। इसे विस्तारपूर्वक इस प्रकार कहा जायगा :

१. इसके द्वारा समाज मे समतापूर्ण वितरण और ग्रामीकरण किया जा सकेगा, तब बुनियादी शिक्षा द्वारा लोगों को सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति के लिए प्रशिक्षित किया जा सकेगा,
२. इसके द्वारा व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना समाप्त होकर लोकमानस शुद्ध होगा, तथा
३. इसके द्वारा साम्ययोगी समाज की रचना का महान् कार्य सम्पन्न होगा।

भूदान-यज्ञ शान्ति और प्रेम के मार्ग पर चलकर समाज में परिवर्तन लाना चाहता है। यह अहिंसात्मक क्रान्ति मे विश्वास रखता है। भूदान आन्दोलन एक 'सहमति से क्रान्ति' (Revolution by Consent) का आन्दोलन है।

भूदान यज्ञ का मूल स्रोत तो गाधी जी की विचारधारा में है, किन्तु विनोबा जी ने जिस ढंग से इसे देश के सामने प्रतिपादित किया है वह नितान्त मौलिक है। विनोबा जी भूदान-यज्ञ के पश्चात् श्रमदान, और फिर 'शान्ति सेना' की ओर बढकर अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते है, जो एक ऐसे समाज की रचना है जिसका आधार प्रेम, अहिंसा, शान्ति, त्याग एवं समानता (-पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक) होगी। २३ अक्टूबर, १९५२ को आचार्य विनोबा ने सम्पत्तिदान-यज्ञ की घोषणा करते हुए आमदनी का षष्ठांश सम्पत्तिदान-यज्ञ मे देने की अपील की थी। सम्पत्तिदान का अर्थ धन-दान, अर्थ-दान, अथवा आय-दान होता है। विनोबा जी

१. वही.

ने सम्पत्ति-दान पर अधिक बल नहीं दिया है, और इसे 'यमुना' कहकर 'गंगा' (भूदान) को सर्वश्रेष्ठ माना है। भूमिदान-यज्ञ में भूमिदान लिया जाता है, और वह भूमि भूमिहीनों को दे दी जाती है। जो भूमिहीन गरीब खेती करना जानता है तथा खेती करके जीविकोपार्जन करना चाहता है और उसके पास जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं है, केवल उसी को भूमि दी जाती है। इसके विपरीत सम्पत्ति-दान-यज्ञ में अर्थदान लिया जाता है, भले ही वह अर्थदाता के ही हाथ में क्यों न रह जाय। जो लोग सम्पत्तिदान-यज्ञ में दान देंगे, वे सम्पूर्ण जीवन देते रहेंगे। सारा जीवन आय का एक षष्ठांश या एक अष्टमांश या उससे थोड़ा सा कम देते रहने का संकल्प लिया जाता है। विहार में जब भूदान-यज्ञ आन्दोलन ने प्रगति की, तो १९५३ में विनोबा जी ने सम्पत्तिदान-यज्ञ को सार्वजनिक रूप प्रदान किया। सम्पत्तिदान-यज्ञ के पश्चात् विनोबा जी ने श्रमदान-यज्ञ को जन्म दिया। श्रमदान-यज्ञ करके समाज में श्रम की मर्यादा को प्रतिष्ठापित करना ही विनोबा का मुख्य उद्देश्य था। श्रमदान के सम्बन्ध में विनोबा जी का कहना है कि यदि भूदान-यज्ञ में प्राप्त भूमि पर ठीक परिश्रम न किया जाय तो वह आबादी योग्य नहीं होगी। अतः ग्राम के चरित्रवान व्यक्ति भूमि को आबाद करने में सहयोग प्रदान करें। ग्राम के प्रत्येक व्यक्ति को श्रमदान करने में गौरव होना चाहिए।

आचार्य कृपलानी ने भूदान-यज्ञ की विचारधारा को "आध्यात्मिक" कहा है; वह आत्मा की एकता की विचारधारा है। भूदान-यज्ञ के द्वारा नवीन समाज की रचना होगी, जिसमें घर घर भूमि-वितरण की व्यवस्था की जायगी। विनोबा जी ने भूदान-यज्ञ की मूल विचारधारा को "साम्ययोग" कहा है। "साम्ययोग" के आधार पर वे सर्वोदय समाज का संगठन करना चाहते हैं। तमिलनाडु में विनोबा जी ने भूदान-यज्ञ के काम के साथ खादी और अन्य ग्रामोद्योग, जातिभेद निवारण तथा "नयी तालीम" को भी जोड़ दिया था। उन्होंने लिखा है : "एक प्रदेश में लाखों एकड़ भूमि का दान प्राप्त हो सकता है और उसके द्वारा व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो सकता है, यह उड़ीसा ने सिद्ध कर दिया है और इसीलिए इस दिशा में मेरा कार्य समाप्त हो चुका है। भूदान मार्ग से क्या हो सकता है, यह प्रमाणित हो चुका है।.....भूदान कार्य की पूर्ण परिणति हो गयी है। अतएव मैं अब अपने भूदान कार्य के साथ ग्रामोद्योग, नयी तालीम तथा जातिभेद निवारण आदि कामों को जोड़कर ग्राम-राज्य की कल्पना को स्वरूप प्रदान करना चाहता हूँ।"[1]

१. चारुचन्द्र भंडारी, "भूदान-यज्ञ, क्या और क्यों ?"

विनोबा जी के कार्य करने का तरीका तथा उनका सम्पूर्ण कार्यक्रम लोकतात्रिक है। वे किसी भी योजना अथवा कार्यक्रम को जनता पर बलात् थोपना नही चाहते। वे तो जनता (विशेषकर ग्रामीण जनता) से आमने सामने उसकी अपनी भाषा मे बात करके तथा उसका विश्वास प्राप्त करके ही किसी योजना को लागू करने के पक्ष मे हैं। उनका विश्वास है, और यह पूर्णत सत्य भी है, कि जब तक किसी परिवर्तन के लिए जनता तैयार नही होती, तब तक ऊपर से थोपा हुआ परिवर्तन अर्थहीन होता है। उदाहरणार्थ, देश मे हरिजनो के प्रति किसी भी प्रकार का भेद-भाव यद्यपि कानून की दृष्टि मे पूर्णत वर्जित है, फिर भी क्योंकि देश की जनता ने अभी उसे पूरी तरह से मन से स्वीकार नही किया है अत उनके (हरिजनो के) प्रति अभी तक निरन्तर भेद-भाव बना हुआ है। वास्तव मे, बिना जनता को साथ लिये देश मे किसी भी क्षेत्र मे क्रान्ति करना अथवा परिवर्तन लाना असम्भव है।

विनोबा जी का तो यहाँ तक कहना है कि जनता स्वय ही उस परिवर्तन के बारे मे सोचे, जिसे वह देश मे अथवा समाज मे लाना चाहती है। इसी विचार के साथ उन्होंने अपना 'राम राज्य' का विचार जोडा है। 'राम राज्य' से विनोबा जी का अर्थ एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था से है जो स्व-शासित एव आत्म-निर्भर ग्रामो पर आधारित रहेगी। वह समाज व्यवस्था आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण रूप से विकेन्द्रित होगी। संक्षेप मे, 'राम राज्य' से विनोबा जी का अर्थ स्व-शासित एवं आत्म-निर्भर राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था से है। इस व्यवस्था में राजनीतिक दलो की गन्दगी प्रवेश नही करेगी तथा यह पूर्णरूपेण किसी भी प्रकार के शोषण से मुक्त होगी। विनोबा जी का कहना है कि जब तक ग्रामीण जनता मे स्व-शासन के बारे मे चेतना जागृत नही होती तथा जब तक वह अपनी शक्ति पर निर्भर रहना नही सीखती, तब तक 'राम राज्य' की स्थापना होना कठिन है। विनोबा जी के अनुसार सच्ची शक्ति 'जनशक्ति' है, जो 'राम राज्य' की आधारशिला है। वास्तव मे, उन्होंने भगवद्गीता से 'कर्मयोग' का सिद्धान्त ग्रहण कर उसके आधार पर 'राम राज्य' की स्थापना की कल्पना की है।

खण्ड 'घ'

दक्षिण-पूर्वी एशिया

(SOUTH-EAST ASIA)

(यह एक रोचक सत्य है कि "दक्षिण-पूर्वी एशिया" एक पूर्णतः नवीन शब्द है, जिसका प्रयोग द्वितीय महायुद्ध से पूर्व होता ही नही था। महायुद्ध के मध्य जब इस क्षेत्र को जापानियों से मुक्त करने के लिए अगस्त, १९४३ में क्यूबेक सम्मेलन के द्वारा ऐडमिरल माउण्टबैटन की अध्यक्षता मे "दक्षिण-पूर्वी एशिया कमान" (South-East Asia Command) की स्थापना हुई, तभी से इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। इस क्षेत्र के अन्तर्गत बर्मा, थाइलैण्ड, लाओस, कम्बोडिया, वियतनाम, मलेशिया, फिलिपाइन्स तथा इण्डोनेशियन द्वीपसमूह आदि आते हैं।)

अध्याय १

दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों की स्थिति

एशिया का साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह २०वीं शताब्दी की सर्वाधिक महत्व-पूर्ण घटना है, किन्तु यह विद्रोह कहीं भी इतना स्पष्ट और सफल नहीं रहा जितना दक्षिण-पूर्वी एशिया में। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में लगभग सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसा हुआ था, परन्तु अब यह सम्पूर्ण प्रदेश स्वतन्त्र और मुक्त होकर विश्व-राजनीति को प्रभावित कर रहा है। यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है, और वह यह कि इस प्रदेश के अधिकांश देशों का न तो कोई अपना व्यवस्थित इतिहास रहा और न ही वहाँ किन्हीं ऐसी स्थायी प्रणालियों एवं संस्थाओं का विकास ही हो पाया, जिनपर शक्ति प्राप्त करने एवं पथ-प्रदर्शन के लिए निर्भर रहा जा सकता। भारत से जो स्वाधीनता की लहर उठी, उसने बर्मा होते हुए इन देशों को स्पर्श किया। कुछ औपनिवेशिक शासकों ने हवा का रुख देखकर स्वेच्छा से तथा कुछ ने रक्त-रंजित संघर्ष से विवश होकर अपने अधीन राज्यों को स्वाधीनता प्रदान कर दी। परन्तु अधिकांश स्वाधीनता प्राप्त करनेवाले देशों को, किसी व्यवस्थित इतिहास एवं निश्चित राजनीतिक दर्शन और उद्देश्य के अभाव में, इस बात का कोई स्पष्ट आभास नहीं था कि भविष्य में उन्हें किस मार्ग पर चलना है तथा कौन सी शासन-पद्धति उनके लिए अधिक श्रेयस्कर होगी। इन देशों को स्वाधीनता अवश्य प्राप्त हुई, परन्तु उचित मार्गदर्शन एवं स्पष्ट राज-नीतिक मूल्यों के अभाव में वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने तथा अपने राष्ट्रों को प्रगति के पथ पर ले जाने में असफल रहे हैं। परिणामस्वरूप आज अधिकांश दक्षिण-पूर्वी एशियाई देश विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं, शासन-प्रणालियों एवं गुटबन्दियों के शिकार बने हुए हैं। क्योंकि इन देशों का आन्तरिक राजनीतिक जीवन स्थिर नहीं है, अतः विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियाँ इन्हें अपने उद्देश्यों की

पूर्ति के हेतु खिलौना बनाये हुए हैं। यह क्षेत्र अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष का केन्द्र सा बन गया प्रतीत होता है। यदि एक ओर साम्यवाद इस क्षेत्र में अपना प्रभाव जमाने में लगा हुआ है, तो दूसरी ओर पश्चिमी देश, विशेषकर अमेरिका और इंग्लैण्ड, साम्यवाद के प्रभाव को रोकने की दृष्टि से वहाँ अपना अंकुश बनाये रखने में संलग्न हैं। यही अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष का मुख्य कारण भी है, और स्थिति इतनी अधिक विस्फोटक बनी हुई है कि कभी भी वह एक नये विश्वयुद्ध को जन्म दे सकती है।

इस क्षेत्र के देशों में, किसी निश्चित विचारधारा के अभाव में तथा उनकी विभिन्न विचारधाराओं के कारण निरन्तर आन्तरिक संघर्ष होते रहने की वजह से, कोई ठोस राजनीतिक विचारधारा अथवा दर्शन नहीं पनप सका है, और न ही वहाँ कोई ऐसा नेता दिखायी देता है जिसे पूर्णतः राजनीतिक चिन्तक की कोटि में रखा जा सके। फिर भी इस क्षेत्र के प्रमुख देशों में कुछ बातों का—आन्तरिक राजनीतिक संघर्षों, विभिन्न राजनीतिक दृष्टिकोणों तथा सर्वमान्य प्रमुख राजनीतिक नेताओं का—स्पष्टीकरण करना आवश्यक है, जिनके द्वारा वहाँ पर चल रही राजनीतिक गतिविधियों एवं दृष्टिकोणों का आभास मिल सकेगा।

बर्मा

बर्मी संघ का प्रादुर्भाव :

बर्मा, जिसका क्षेत्रफल लगभग २,६१,७८९ वर्गमील तथा जनसंख्या (१९६१ की जनगणना के अनुसार) २,००,५४,००० है, भारत की पूर्वी सीमा पर स्थित है तथा दक्षिण-पूर्वी एशियाई राज्यों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यह बौद्ध धर्मावलम्बियों का देश है।

इसपर सबसे पहले १६१२ में ब्रिटिश प्रभाव स्थापित हुआ। कालान्तर में यह प्रभाव बढ़ने के उपरान्त १८८५ से १९३७ तक भारत के एक अंग के रूप में बर्मा का शासन किया जाता रहा। जैसे जैसे ब्रिटिश भारत में स्वशासन की प्रगति होती गयी, वैसे वैसे ही बर्मा के शासन में भी जनता का सहयोग बढ़ता गया। भारत में हुए १९०९ के मिन्टो-मॉर्ले सुधार और १९१९ के मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार बर्मा पर भी लागू किये गये। १९१९ के सुधारों के अनुसार भारत के केन्द्रीय शासन में जो विधान-सभा स्थापित की गयी थी, उसमें बर्मा के प्रतिनिधि भी सम्मिलित होते थे। भारत के समान बर्मा में भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र शासन के आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ते गये। इण्डियन नैशनल कांग्रेस में बर्मा भी सम्मिलित था, और वहाँ अनेक क्रान्तिकारी दल भी ब्रिटिश शासन से

अपने देश को मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील थे। पर बर्मा के राष्ट्रीय नेताओं को अपने देश का भारत के साथ राजनीतिक सम्बन्ध भी पसन्द नहीं था। साइमन कमीशन (१९२७-२८) के समक्ष भी बर्मा के नेताओं ने अपनी पृथक् सत्ता और भारत से सम्बन्ध-विच्छेद की माँग प्रस्तुत की थी। इसीलिए १९३१ में बर्मा के शासन की समस्याओं को हल करने और वहाँ के राष्ट्रीय नेताओं से समझौता करने के हेतु पृथक् गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया गया। अन्त में १ अप्रैल, १९३७ से इसे भारत से पृथक् करके इसके लिए एक अलग प्रशासनिक ढाँचे की व्यवस्था कर दी गयी। इस व्यवस्था के अनुसार बर्मा में आंशिक रूप से स्वराज्य की स्थापना की गयी, पर इससे वहाँ के लोग सन्तुष्ट नहीं हुए। वे पूर्ण स्वराज्य चाहते थे। अतः वहाँ स्वतन्त्रता का आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता गया। १९४२ और १९४५ के मध्य इसपर जापानियों का अधिकार रहा। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर इसपर पुनः ब्रिटिश सत्ता स्थापित हो गयी। अब बर्मी जनता का पूर्व से चला आ रहा राष्ट्रवादी आन्दोलन और भी अधिक तीव्र हो गया तथा बर्मी नेता अपने देश को अविलम्ब स्वतन्त्र करने के लिए जोर-शोर से प्रयत्न करने लगे। अन्त में बर्मी नेताओं तथा ब्रिटिश सरकार के मध्य एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार अप्रैल, १९४७ में चुनाव कराकर संविधान सभा का निर्माण करने का निर्णय लिया गया। २३ मई, १९४७ को बर्मा के लिए संविधान का निर्माण किया गया, जिसके अनुसार बर्मा को एक पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य के रूप में संगठित करने का निर्णय हुआ। देश में जो आम चुनाव कराये गये उनमें "ऐन्टी फैसिस्ट पीपुल्स लीग" (A.P.P.F.L.) को सफलता प्राप्त हुई। श्री आंग सान (Aung San) बर्मा के प्रधान मन्त्री बने, परन्तु शीघ्र ही, १५ जुलाई, १९४७ को उनकी गोली मारकर हत्या कर दी गयी। उनके स्थान पर श्री थाकिन नू (Thakin Nu) प्रधान मन्त्री बने, जो बाद में ऊ नू (U Nu) के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री ऊ नू के शासनकाल में, ४ जनवरी, १९४८ को बर्मा को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हुई, और इस प्रकार बर्मी संघ (Union of Burma) का निर्माण हुआ।

थाकिन नू (ऊ नू) :

थाकिन नू को यद्यपि सही अर्थों में एक मौलिक राजनीतिक विचारक की कोटि में नहीं रखा जा सकता, फिर भी उनके शासनकाल में बर्मा ने जो राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में प्रगति की, वह अत्यन्त सराहनीय है। उन्होंने आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में बर्मा को आगे बढ़ने के लिए निश्चित दिशा प्रदान की, हालांकि उन्हें दोनों ही क्षेत्रों में संघर्षों का सामना करना पड़ा।

स्वाधीनता-प्राप्ति के तुरन्त बाद बर्मा को अनेक गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। "पीपुल्स लीग", जिसके वे नेता थे, में दुर्भाग्यवश फूट पड़ गयी। एक गुट ऊ नू का समर्थक रहा तो दूसरे गुट ने ऊ नू का विरोध किया। बर्मा के साम्यवादियों ने, जो "पीपुल्स लीग" में अल्पसंख्यक थे, अपनी स्थिति से असन्तुष्ट होकर स्थान स्थान पर हड़तालें करवायी तथा सरकार के विरुद्ध कटुता की भावनाओं को उत्तेजित किया। वास्तव में सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया में साम्यवादियों ने जो उपद्रव किये हैं तथा जो उस क्षेत्र में आतंक फैला रखा है, वह सर्वविदित है। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में ही साम्यवाद अपने पैर फैलाने के लिए उत्सुक है, और इसी कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया की स्थिति विस्फोटक बनी हुई है। बर्मा की आन्तरिक एवं बहुत अंशों में बाह्य राजनीति को भी साम्यवादियों ने प्रभावित किया। साम्यवादियों के सशस्त्र अभियान में "करेन" (Karen) नामक जन-जाति के विद्रोही भी मिल गये। इसी विद्रोह के मध्य बर्मा ने गणराज्य संविधान को स्वीकार कर लिया तथा राष्ट्रमण्डल से पृथक् हो गया, जिसका सम्पूर्ण श्रेय ऊ नू को ही है।

बर्मा की आन्तरिक स्थिति को उस समय और भी अधिक गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया जब लगभग १०,००० कोमिन्तांग सैनिक साम्यवादी चीन से भाग-कर बर्मा में आ गये और सीमान्त प्रदेश में उपद्रव फैलाने लगे। परन्तु ऊ नू ने बड़े साहस और संयम के साथ सभी शत्रुओं का सामना किया और उन्हें घुटने टेकने के लिए बाध्य कर दिया। १९५३ में बर्मा ने राष्ट्रसंघ में यह शिकायत की कि उसके देश में राष्ट्रवादी चीन की विदेशी सेनाएँ (K. M. T. Troops) घुस आई हैं जिनके कारण बर्मा की प्रभुसत्ता को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है। राष्ट्रसंघ ने विदेशी सेनाओं की बर्मा में उपस्थिति पर चिन्ता व्यक्त की तथा उन्हें राष्ट्रों के प्रयास से सन्धि-वार्ता द्वारा बाहर निकालने की बात कही। अन्त में बर्मा, राष्ट्रवादी चीन, थाइलैण्ड तथा अमेरिका की एक "संयुक्त सैनिक समिति" ने बर्मा से चीनी सैनिकों को निकालना आरम्भ कर दिया, और अन्ततः यह समस्या शान्तिपूर्वक सुलझ गयी। इस प्रकार ऊ नू ने अपनी सूझ बूझ से विद्रोही तत्वों पर काबू पा लिया।

यह बात स्मरणीय है कि श्री ऊ नू ने साम्यवादियों की समस्या का पूर्णतः गृह-समस्या के रूप में मुकाबला किया तथा विदेशी शक्तियों को बर्मा के आन्तरिक संघर्ष में हस्तक्षेप करने से दूर रखा। भारत से प्रेरणा प्राप्त कर ऊ नू ने बर्मा के लिए तटस्थता एवं शान्तिपूर्ण सहयोग की नीति को अपनाया तथा चीन से अच्छे सम्बन्ध न रहने पर भी उसे मान्यता प्रदान करके अपने उदार दृष्टिकोण का परिचय

दिया। ऊ नू ने बर्मा के चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने की दिशा में भरसक प्रयत्न किये तथा इसके लिए अक्टूबर, १९५६ में पीकिंग यात्रा भी की, परन्तु दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार न हो सका। चीन ने बर्मा के कई भागों पर अपने दावे प्रस्तुत किये, परन्तु बर्मा ने उन्हें किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार श्री ऊ नू की सरकार ने संयुक्त राज्य अमेरिका से आर्थिक सहयोग तो प्राप्त किया, परन्तु अपने देश को उसके प्रभाव में नहीं आने दिया, और साथ ही विश्व-साम्यवाद को रोकने की अमेरिकन नीति को बर्मा का समर्थन देने से भी स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस नीति के कारण बर्मा दक्षिण-पूर्वी एशिया में चल रहे अमेरिका और साम्यवाद के मध्य संघर्ष की चपेट में आने से बच गया, जिसका परिणाम वियतनाम में चल रहे गृहयुद्ध के रूप में हो सकता था। श्री ऊ नू ने यदि एक ओर अपने देश में साम्यवादियों के विद्रोह को दबा दिया और उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता देना अस्वीकार कर दिया, तो दूसरी ओर उन्होंने अनेक साम्यवादी देशों से आर्थिक एवं अन्य प्रकार की सहायता भी प्राप्त की। इस प्रकार उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में बर्मा को, तटस्थता की नीति का अनुसरण करते हुए, सभी प्रकार के संघर्षों से बचाये रखा तथा आन्तरिक दृष्टि से, सभी विद्रोहियों का दमन करके, देश के प्रशासन में सुदृढ़ता लाने का प्रयास किया। श्री ऊ नू ने उपनिवेश-वाद, साम्राज्यवाद तथा साम्यवाद, सभी की खुले शब्दों में निन्दा की। उनके नेतृत्व में बर्मा ने इण्डोनेशिया के राष्ट्रवाद तथा हिन्द चीन में हो-ची मिन्ह के अनु-यायियों का पूर्ण समर्थन किया। इस नीति का अनुसरण उन्होंने अपने देश बर्मा के हित में ही किया।

श्री ऊ नू ने न केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही असीम साहस एवं सूझ बूझ का परिचय दिया, प्रत्युत आर्थिक क्षेत्र में भी उन्होंने कुछ क्रान्तिकारी कदम उठाये। उन्होंने समाजवादी ढंग पर, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने की नीति अपनायी, परन्तु इससे देश में असन्तोष फैल गया। अपनी सरकार के प्रति बढ़ते हुए असन्तोष के कारण उन्होंने अक्टूबर, १९५८ में बर्मा के प्रधान सेनापति जनरल ने विन (General Ne Win) को देश की सत्ता सौंप दी, और स्वयं सत्ता से हट गये।

श्री ने विन ने, सैनिक अधिकारी होते हुए भी, शान्ति और सह-अस्तित्व की नीति का ही अनुसरण किया। पूर्वी पाकिस्तान तथा चीन के साथ सीमा-विवादों को सुलझाने का प्रयत्न किया और अपने प्रयत्नों में वे सफल भी हुए। फरवरी, १९६० में देश में चुनाव कराये गये, जिनमें ऊ नू के दल को ही बहुमत प्राप्त हुआ और वे पुन. सत्तारूढ़ हुए। श्री ऊ नू की मान्यताएँ पूर्ववत् ही रही तथा उनके

नये शासनकाल में देश का प्रशासन और भी अधिक सुव्यवस्थित एवं सजग हो गया। परन्तु जून, १९६१ में देश में एक संघ राज्य की स्थापना की माँग को लेकर गृह-संकट उत्पन्न हो गया। संघ राज्य की स्थापना के समर्थन में आवाज उठानेवाले नेताओं की माँग थी कि देश में सभी प्रान्त स्वतन्त्र रहते हुए केन्द्रीय सरकार का मिलकर गठन करें। इस प्रश्न पर ऊ नू के दल में फूट पड़ गयी और उसके समर्थकों की शक्ति, जिन्होंने इस माँग का विरोध किया, क्षीण पड़ गयी। साथ ही, ऊ नू की सरकार की आयात-व्यापार का राष्ट्रीयकरण करने की नीति से बर्मा का व्यापारी वर्ग भी असन्तुष्ट हो गया। देश में असन्तोष बढ़ता ही गया और २ मार्च, १९६२ को वहाँ सैनिक क्रान्ति हो गयी। ऊ नू के शासनकाल का अन्त हो गया। वे और उनके साथी राजनीतिक नेता गिरफ्तार कर लिये गये।

सैनिक क्रान्ति के बाद से लेकर आज तक बर्मा में जनरल ने विन का शासन-काल बना हुआ है। उन्होंने सभी देशों के साथ अपने देश के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बनाये रखने का प्रयास किया है। जून-जुलाई, १९६७ से चीन के साथ बर्मा के सम्बन्धों में तनाव पैदा हो गया है। जब रंगून के दो स्कूलों में (जून-जुलाई, १९६७ में) कुछ चीनी छात्र माओ के तमगे लटकाकर गये और उसपर अधिकारियों ने आपत्ति की, तो बर्मा के चीनियों ने देश में काफी उत्पात मचाया। इससे बर्मा के चीन के साथ सम्बन्ध बिगड़ गये। वास्तव में चीन अपने पड़ोसी देशों के साथ मित्रता रखने का इच्छुक नहीं दिखायी देता। इसके विपरीत, वह उनपर दबाव डालकर वहाँ अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता है।

अध्याय २

दक्षिण-पूर्वी एशिया में साम्यवाद से प्रभावित देश

थाइलैण्ड (स्याम) :

दक्षिण-पूर्वी एशिया में भौगोलिक दृष्टि से थाइलैण्ड का—जिसे १९३९ से पूर्व तथा १९४५ और १९४७ के मध्य स्याम (Siam) के नाम से जाना जाता था—महत्वपूर्ण स्थान है। इसका क्षेत्रफल लगभग १,९८,४५५ वर्गमील तथा जनसंख्या (१९६० की जनगणना के अनुसार) लगभग २,६२,५७,९१६ है। थाइलैण्ड का अर्थ होता है स्वतंत्र लोगों का देश।

थाइलैण्ड में प्राचीन काल से ही राजतन्त्र रहा है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में यही सम्भवतः एक ऐसा देश है जो आधुनिक युग में पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार होने से बचा रहा। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अवश्य ही कुछ समय के लिए इसपर बर्मा का नियन्त्रण था। बर्मा की अधीनता से इसे मुक्त करनेवाला वीर चक्री था, जिसने स्याम में नये राजवंश की (१८वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में) नींव डाली। इस वंश के कुछ राजाओं के काल में देश में महत्वपूर्ण सुधार किये गये। १८६८ में इस राजवंश का राजा चूललम्बकर्ण (पंचम राम) सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पंचम राम, अपने पिता मंगकूट (चतुर्थ राम) की भाँति ही, उदारवादी नीतियों में विश्वास करनेवाला व्यक्ति था। पंचम राम ने न केवल स्याम के नवयुवकों को पाश्चात्य देशों में शिक्षा ग्रहण करने के लिए ही भेजा, प्रत्युत उसके शासनकाल में दास प्रथा का भी स्याम से अन्त कर दिया गया। उसके समय में न्याय व्यवस्था का भी पुन. गठन किया गया। साथ ही, स्याम के विविध प्रदेशों को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में लाने के लिए उसने

गये परन्तु उसकी (स्याम की) प्रभुसत्ता बनी रही और वह ब्रिटेन का एक सरक्षित प्रदेश होने से बच गया। राष्ट्रवादी नेता लुआंग प्रदीप ने भी इस सन्धि को स्वीकार कर लिया। वैसे भी यह सन्धि राष्ट्रवादियों के प्रयत्नों से ही सम्पादित हुई थी।

महायुद्ध की समाप्ति पर स्याम में शासन में भी अनेक सुधार किये गये। पर राजसत्ता वहाँ कायम रही। १९४६ में स्याम के लिए एक नया शासन-विधान बना, जिसके अनुसार संसद् में दो सभाएँ रखी गयी। दोनों सभाओं के सभी सदस्यों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा करने की व्यवस्था की गयी। मन्त्रिमण्डल को संसद् के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। इस सविधान के द्वारा देश में लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति बहुत कुछ सफल हो गयी। पर इससे स्याम की समस्याओं का अन्त नही हुआ। महायुद्ध के कारण संसार में जो आर्थिक सकट पैदा हो गया, उसका स्याम पर भी प्रभाव पड़ा और वहाँ भी, अन्य देशों की भाँति, अनेक दल संगठित हो गये जो समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हेतु प्रयत्नशील थे।

१९४६ में प्रिदी फानोमयोंग के नेतृत्व में बने मन्त्रिमण्डल के लिए देश में आए आर्थिक संकट पर काबू पाना सरल नही था। इसी बीच जून, १९४६ में राजा आनन्द महीदन (राम सप्तम) की हत्या कर दी गयी। इसके लिए मन्त्रिमण्डल को दोषी ठहराया गया। परिणामस्वरूप उसे त्यागपत्र देना पड़ा। आगे देश की स्थिति बिगड़ती गयी और १९४७ में वहाँ सैनिक शासन लागू हो गया। १९४८ में स्याम में, जो अब थाइलैण्ड के नाम से जाना जाने लगा, संसद् के लिए नये चुनाव हुए। पर इससे समस्या का हल नही हो सका। पुन देश में सैनिक शासन लागू हो गया और १९४९ के अन्त में १९४६ के सविधान का अन्त कर दिया गया। उसके स्थान पर एक नवीन संविधान लागू किया गया, जिसके अनुसार संसद् में आधे सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और आधों की नियुक्ति नाम-जदगी द्वारा की जाती थी। इससे संसद् में भी सैनिकों का प्रभुत्व हो गया। उस समय देश में फील्ड मार्शल संग्राम की सरकार थी, जो कम्युनिस्टों के विरुद्ध थी। पर जनता की माँग तथा साम्यवादियों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण सरकार ने अनुभव किया कि देश में अधिक समय तक सैनिक शासन बना नहीं रह सकता। अत. देश में लोकतन्त्रीय शासन-संस्थाओं के पुनरुद्धार के लिए प्रयत्न किये गये। १९५७ में संसद् का नया चुनाव कराया गया, जिसमें कोई भी दल बहुमत प्राप्त नही कर सका। परिणामस्वरूप देश में शान्ति स्थापित नही हो सकी। निरन्तर देश की स्थिति बिगड़ती गयी। १९५९ में नये अन्तरिम संविधान की घोषणा की गयी और देश में लोकतन्त्रात्मक शासन की स्थापना करने का प्रयास किया गया। परन्तु इस दिशा में सारे प्रयास असफल हुए। वहाँ साम्यवादियों का प्रभाव निरन्तर

बढ़ता रहा और देश की सरकार उनके प्रभाव को रोकने के लिए शनैः शनैः अमेरिका के प्रभाव में आती गयी।

थाइलैण्ड साम्यवादी छापामारों के डर के कारण अमेरिका के प्रभाव में है, और इसे "अमेरिकन साम्राज्यवाद" का कुत्ता कहा जाता है। थाइलैण्ड में चीनियों की पर्याप्त संख्या है, अतः संयुक्त राज्य अमेरिका इसके साम्यवादी देश बनने के भय से इसे प्रतिवर्ष करोड़ों डालर की सैनिक सहायता प्रदान करता है। बैंकाक में चीनियों की उपस्थिति से और हिन्द-चीन, लाओस एवं कम्बोडिया में "वियतमिन्ह छापामारों" की गतिविधियों से अमेरिका बहुत चिन्तित है। थाइलैण्ड तो अकेला कम्युनिस्ट छापामारों से मुकाबला कर ही नहीं सकता और यही कारण है कि स्वयं मार्शल किट्टिकचोर्न अमेरिका से अधिक से अधिक सैनिक सहायता के इच्छुक हैं। थाइ देश में छापामारों की तोड़फोड़ से यह शंका निरर्थक नहीं लगती कि इस देश में आगे चलकर अमेरिका को एक दूसरे वियतनाम का सामना करना पड़ सकता है। ऐसी अनिश्चित स्थिति में इस देश में किसी राजनीतिक दर्शन अथवा विचारधारा के पनपने की आशा करना प्रायः व्यर्थ है।

लाओस :

लाओस हिन्द-चीन प्रायद्वीप का एक देश है। सामरिक दृष्टि से लाओस की भौगोलिक स्थिति दक्षिण-पूर्वी एशिया में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस देश की सीमाएँ साम्यवादी चीन, साम्यवादी उत्तरी वियतनाम, दक्षिणी वियतनाम (वियतनाम गणतन्त्र), कम्बोडिया, थाइलैण्ड एवं बर्मा से मिली हुई हैं। इसका क्षेत्रफल ८९,००० वर्गमील तथा जनसंख्या लगभग ३५ लाख है।

लाओस प्राचीन काल से ही राजाओं द्वारा शासित देश रहा है। १८९३ में इसपर फ्रान्स ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। देश में फ्रेन्च भाषा के प्रचार तथा फ्रान्सीसी साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण वहाँ के नवयुवकों में लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियाँ बल पकड़ने लगीं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलनों की लहर, इण्डोचायना के अन्य प्रदेशों की भाँति, लाओस में भी दिखायी पड़ने लगी। अतः फ्रेन्च सरकार ने धीरे धीरे स्व-शासन स्थापित करने की नीति का अनुसरण करना आरम्भ कर दिया। यद्यपि इन छोटे मोटे सुधारों से वहाँ के देशभक्त सन्तुष्ट नहीं थे, तथापि फ्रान्स के कठोर नियन्त्रण के आगे उनका स्वतंत्रता आन्दोलन अधिक आगे नहीं बढ़ सका। द्वितीय महायुद्ध के समय, जापान का दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रभुत्व स्थापित होने के कारण, इसे भी (इस क्षेत्र के अन्य

देशों की भाँति) स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। लेकिन जापान की पराजय के बाद जब पुनः इसपर फ्रान्स की सेनाओं ने अधिकार स्थापित किया, तो राष्ट्रवादी देशभक्तों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए असाधारण तत्परता प्रदर्शित की। अन्त में, यह एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राष्ट्र बन गया।

स्वर्गीय सम्राट् सिसा वोंग के शासन के अन्तर्गत ११ मई, १९४७ को लाओस में एक नवीन संविधान के निर्माण द्वारा, संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। १९ जुलाई, १९४९ को इसे फ्रांसीसी संघ के अन्तर्गत वैधानिक रूप से स्वतन्त्र देश बना दिया गया। किन्तु युवराज सूफ़ानो वोंग के नेतृत्व में एक साम्यवादी समर्थक अल्पसंख्यक दल ने इस व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया। उसने "पाथेट लाओ" या "लाओ भूमि" नामक आन्दोलन संगठित किया और उत्तरी वियतनाम के साम्यवादियों के साथ मिलकर वह कार्यवाही करने लगा। पाथेट लाओ की सेनाओं ने १९५३ और १९५४ के आरम्भ में अनेक सशस्त्र आक्रमण किये। अन्त में २१ जुलाई, १९५४ को जेनेवा में हुए समझौते के अन्तर्गत लाओस राज्य की सर्वोच्च प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान कर दी गयी। इसमें यह विचार निहित था कि १९५५ के निर्वाचन द्वारा निर्मित होनेवाली राष्ट्रीय सरकार में पाथेट लाओ विद्रोहियों को भी शामिल कर लिया जायगा। किन्तु पाथेट लाओ दल ने निर्वाचन का बहिष्कार किया और अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाना आरम्भ कर दिया। उसने तोड़-फोड़ की और हिंसात्मक कार्यवाहियाँ जारी रखीं।

लाओस में तीन दल होने के कारण उसकी राजनीतिक स्थिति अत्यन्त जटिल बनी हुई है। ये दल इस प्रकार हैं :

(१) साम्यवादियों के नेतृत्व में पाथेट लाओ दल (Pathet Lao) जिसके नेता सूफ़ानो वोंग हैं,
(२) राजसत्तावादी दल जिसके नेता हैं बोन ओम, तथा
(३) तटस्थतावादी दल जिसके नेता राजकुमार सौवन्ना फौमा हैं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जब यह देश फ्रांस के चंगुल से निकलकर सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राष्ट्र बन गया, तब से उपर्युक्त तीनों दलों में सत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष चल रहा है। इन दलों की समर्थक सेनाओं में आपसी टकराव से बढ़ते हुए आन्तरिक युद्ध को रोकने तथा वहाँ स्थायी सरकार बनाने की दृष्टि से १९५४ तथा १९६१ में जेनेवा में समझौते किये गये। १९६१ में ही १४ राष्ट्रों का लाओस की समस्या पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन हुआ, परन्तु इन समझौतों एवं

सम्मेलन का कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। आज भी लाओस की स्थिति अन्तरराष्ट्रीय तनाव के कारण संघर्षपूर्ण बनी हुई है। वियतनाम में वियतकांग की भाँति, पाथेट लाओ की सैनिक सफलताओं से अमेरिका चिन्तित है और उसके द्वारा यहाँ सैनिक हस्तक्षेप की धमकी दी जाती रही है। लाओस की स्थिति भी निकट भविष्य में वियतनाम जैसी हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

कम्बोडिया :

कम्बोडिया, जिसका क्षेत्रफल ६९,८९८ वर्गमील तथा जनसंख्या (१९६२ की जनगणना के अनुसार) लगभग ५७,३७,८५३ है, ख्मेर सम्राटों की भूमि है। इसे अंगकोर के साम्राज्य के नाम से भी जाना जाता है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व यह देश फ्रान्स के संरक्षण में था। फ्रान्स के सम्पर्क से यहाँ की जनता पश्चिमी आचार-विचारों से प्रभावित हुई और उसमें राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई। युद्ध के मध्य इसपर जापान का अधिकार स्थापित हो गया, परन्तु युद्ध के अन्तिम दिनों में जापान ने हिन्द-चीन को (जापान को जब अपनी पराजय निश्चित दिखाई देने लगी) स्वतन्त्र घोषित कर दिया। १५ मार्च, १९४५ को कम्बोडिया के प्रधान मन्त्री ने भी अपने देश को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। १९४७ में इस देश का एक राष्ट्रीय संविधान निर्मित हुआ। ८ नवम्बर, १९४९ को यहाँ की असेम्बली ने फ्रेंच यूनियन के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में रहना स्वीकार कर लिया, परन्तु ९ नवम्बर, १९५३ को कम्बोडिया को पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दिया गया।

जिस समय कम्बोडिया को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य घोषित किया गया, उस समय वहाँ की गद्दी पर राजा सिहानूक विद्यमान थे। पर वहाँ का राजतन्त्र स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश नहीं है। वहाँ वैध राजतन्त्र है और मन्त्रिमण्डल को जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रीय विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी माना जाता है। यद्यपि वहाँ अनेक राजनीतिक दल संगठित हैं और उन्हें चुनाव लड़कर सरकार बनाने का पूरा अवसर रहता है, तथापि कम्बोडिया की राजनीतिक दशा इस ढंग से विकसित नहीं हुई जिससे वहाँ सच्चे अर्थों में लोकतंत्र शासन सफल हो सके। इसके लिए राजा सिहानूक ने पार्टी सिस्टम को दोषी समझा, और फरवरी, १९५५ में उसे समाप्त करके उसके स्थान पर यह व्यवस्था की गई कि राष्ट्रीय विधान-सभा तो कायम रहे पर मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति राजा द्वारा की जाया करे जो उसी के प्रति उत्तरदायी हो। इन सुधारों का सूत्रपात कर सिहानूक ने राजा के पद का परित्याग कर दिया, और उनके पिता सुरामरित कम्बोडिया के राजसिंहासन

पर आरूढ़ किये गये। पर सिंहानुक ने राजनीति से अपने को पृथक् नहीं किया। उन्होंने 'संगकुम' नाम का एक नया राजनीतिक संगठन बनाया। सितम्बर, १९५५ में राष्ट्रीय विधान-सभा का नया चुनाव हुआ, जिसमें सभी सदस्य संगकुम दल के थे। इस शक्तिशाली संगठन का नेता होने के कारण कम्बोडिया का शासनसूत्र सिंहानुक के ही हाथों में रहा, और वही अब तक भी वहाँ की शासन-शक्ति का वास्तविक संचालक है।

कम्बोडिया की अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में नीति यद्यपि तटस्थता की रही है, किन्तु फिर भी धीरे धीरे उसका झुकाव साम्यवाद की ओर होता जा रहा है। १९६३ के बाद से उसके और अमेरिका के सम्बन्ध बिगड़ गये हैं। वियतनाम में अमेरिका की सैन्यीकरण की नीति से इन दोनों देशों के सम्बन्धों में और भी अधिक तनाव पैदा हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्द-चीन के अन्य देशों की भांति कम्बोडिया भी साम्यवाद के रंग में रंगता चला जा रहा है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में इन छोटे छोटे देशों (थाइलैण्ड, लाओस, कम्बोडिया आदि) की आन्तरिक अनिश्चित एवं विस्फोटक स्थिति के कारण इनमें कोई भी सुदृढ़ राजनीतिक विचारधारा नहीं पनप सकी है। साम्यवाद ही इन देशों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है, और ऐसा लगता है कि शीघ्र ही ये सब देश साम्यवादी राज्य हो जायेंगे।

वियतनाम :

आज वियतनाम की स्थिति विश्व में सबसे अधिक विस्फोटक बनी हुई है, और इस बात का भय है कि यदि स्थिति पर नियन्त्रण नहीं किया गया तो वियतनाम युद्ध अन्ततोगत्वा तृतीय महायुद्ध का विस्फोट कर देगा।

वियतनाम देश का क्षेत्रफल लगभग १,२७,००० वर्गमील तथा जनसंख्या तीन करोड़ से भी अधिक है। वियतनाम हिन्द-चीन का कभी सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र था। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार इस राष्ट्र का जन्म सर्वप्रथम "वानलेंग" साम्राज्य के नाम से हुआ। लगभग दो हजार वर्ष से भी अधिक लम्बे समय में इस राष्ट्र के नाम में कई बार परिवर्तन हुआ है। एक समय इसपर चीन का भी अधिकार रहा। १९वीं शताब्दी में यह फ्रान्स के नियन्त्रण में चला गया। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने पर हिन्द-चीन की फ्रेन्च सेना जापान की सेना का मुकाबला नहीं कर सकी, और जापान के सैन्य बल के आतंक की छाया में, एक समझौते के अधीन, फ्रान्स ने २१ जुलाई, १९४१ को जापान को हिन्दचीन में प्रविष्ट होने की अनुमति प्रदान

कर दी। युद्ध-काल में जापान ने इस देश के प्राकृतिक स्रोतों का अपनी सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूरा पूरा उपयोग किया।

जापान के युद्धकालीन शासन के मध्य वियतनाम की राष्ट्रवादी शक्तियां विशेष रूप से प्रबल हो गयीं। उन्होंने "वीत मिन्ह लीग" नामक एक राष्ट्रवादी क्रान्ति-दल की स्थापना की, जिसका नेतृत्व साम्यवादी छापामार नेता श्री हो-ची मिन्ह को सौंपा गया। जब अगस्त, १९४५ में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया और वियतनामवादियों को जापानी निरंकुश नियन्त्रण से मुक्ति मिली, तो वीत मिन्ह राष्ट्रवादियों ने सितम्बर में फ्रान्स से भी अपनी स्वतन्त्रता घोषित करके "वियतनाम गणतन्त्र" का उद्घाटन किया। देश की नव-स्थापित सरकार के राष्ट्रपति पद के लिए हो-ची मिन्ह को चुना गया। श्री हो-ची मिन्ह की सरकार ने राज्य का पूरा नाम "वियतनाम लोकतन्त्रीय गणराज्य" रखा तथा कोचीन-चीन, टोंगकिंग एवं अन्नाम पर अपने प्रभुत्व का दावा किया। राष्ट्रवादियों की यह कार्यवाही फ्रान्स के लिए असह्य थी। अतः फ्रान्स ने राष्ट्रवादियों का दमन करना आरम्भ कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप वीत मिन्ह राष्ट्रवादियों तथा फ्रेन्च साम्राज्यवादियों में युद्ध छिड़ गया।

फ्रान्स जब हो-ची मिन्ह की छापामार सेनाओं पर काबू न पा सका तो उसने राजनीतिक साधनों का उपयोग किया। उसने असन्तुष्ट बाओ दाई को (जो अन्नाम का भूतपूर्व सम्राट् था तथा जिसे हो-ची मिन्ह की नव-स्थापित सरकार में सर्वोच्च राजनीतिक परामर्शदाता का पद देकर सन्तुष्ट करने का प्रयास किया गया था) अन्नाम में एक नई कार्यकारी सरकार (Provisional Government) स्थापित करने के लिए उकसाया। ५ जून, १९४८ को बाओ दाई ने कोचीन-चीन सहित "रिपब्लिक ऑफ वियतनाम" के नाम से एक नई सरकार स्थापित कर ली। मार्च, १९४९ में बाओ दाई ने फ्रान्स की यात्रा की तथा फ्रेन्च सरकार के साथ कुछ समझौते किये, जिनके अन्तर्गत वियतनाम (हो-ची मिन्ह के "वीत मिन्ह" को छोड़कर) "फ्रेन्च संघ का एक उपराज्य" (Associated State of the French Union) बना दिया गया। इसके वैदेशिक मामलों एवं इसकी सेनाओं पर फ्रेन्च शासन का नियन्त्रण स्थापित हो गया। ३० दिसम्बर, १९४९ को बाओ दाई ने अपने को इस उपराज्य का राज्याध्यक्ष घोषित कर दिया। इस प्रकार वियतनाम में दो सरकारें हो गयीं—एक बाओ दाई की "रिपब्लिक ऑफ वियतनाम", जिसकी राजधानी सैगोन रखी गयी, और दूसरी हो-ची मिन्ह की "वियतनाम गणतन्त्र सरकार", जिसे "वीत मिन्ह" कहा जाने लगा तथा जिसकी राजधानी हनोई रखी गयी।

फ्रेन्च सरकार की इस राजनीतिक चाल से वियतनाम में भीषण गृहयुद्ध भड़क उठा, क्योंकि दोनों ही सरकारें अपने को सम्पूर्ण वियतनाम की वैधानिक सरकारें बताने लगी। इस गृहयुद्ध ने शीघ्र ही राष्ट्रव्यापी युद्ध का रूप धारण कर लिया। विदेशी शक्तियाँ इस गृहयुद्ध में कूद पड़ी। हो-ची मिन्ह का समर्थन साम्यवादी चीन द्वारा किया गया तथा बाओ दाई के पक्ष में फ्रेन्च सरकार और उसकी सेनाएँ थी। स्थिति तब और अधिक विषम बन गयी जब १९५० में अमेरिका और रूस "शीतयुद्ध" को हिन्द-चीन के द्वार तक खींच लाये। वियतनाम के गृह-युद्ध में हो-ची मिन्ह के छापामार सैनिकों को निरन्तर सफलता मिलती गयी। हनोई की सफलताओं ने अमेरिका को इस भय से सशंकित कर दिया कि कहीं सम्पूर्ण वियतनाम ही साम्यवादी शिकंजे में न फँस जाय। अतः उसने फ्रेन्च और बाओ दाई की सेनाओं को अधिकाधिक सहायता देना आरम्भ कर दिया। दूसरी ओर साम्यवादी चीन और रूस हनोई की "वीत मिन्ह" सरकार को यथासम्भव हर प्रकार की सहायता देने लगे। इस प्रकार "उपनिवेशवादी शासकों" और "उपनिवेशी शासितों" के बीच आरम्भ होनेवाले युद्ध ने अब "स्वतन्त्र विश्व" तथा "अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद" के मध्य संघर्ष का रूप धारण कर लिया।

२६ अप्रैल से २१ जुलाई, १९५४ तक जेनेवा में हिन्द-चीन की समस्याओं पर वार्ताएँ चलती रही, और अन्त में २१ जुलाई को दोनों पक्षों में युद्धविराम सन्धि हुई। जेनेवा समझौते के अनुसार, वियतनाम को १७वीं अक्षांश रेखा पर विभाजित कर दिया गया। इस रेखा के उत्तर में हनोई नदी से लगता हुआ सारा उत्तरी वियतनाम साम्यवादियों को मिला और उसके दक्षिण का भाग दक्षिणी-वियतनाम गणराज्य को। साथ ही, दोनों भागों के मध्य एक बफर क्षेत्र की स्थापना की गयी तथा यह निर्णय लिया गया कि समस्त देश के भविष्य का निर्णय करने के लिए जुलाई, १९५६ में निष्पक्ष नीति से चुनाव कराये जायेंगे, जिनके द्वारा दोनों भागों का एकीकरण किया जायगा।

जेनेवा समझौता के अनुसार साम्यवादियों ने दक्षिणी वियतनाम के भागों को खाली तो कर दिया, परन्तु वे इस क्षेत्र के जंगलों में शस्त्रास्त्र छुपाकर छोड़ गये। उत्तर की प्रेरणा से दक्षिणी वियतनाम में साम्यवादियों ने १९६० में "राष्ट्रीय मुक्ति सेना" (Notional Liberation Front) की स्थापना की। इन सैनिकों को वियतकांग कहा गया। इन्होंने दक्षिणी वियतनाम सरकार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। इससे स्थिति पुनः बिगड़ने लगी।

फरवरी, १९६२ में अमेरिका ने दक्षिणी वियतनाम को सक्रिय सैनिक सहयोग देने की दृष्टि से वहाँ एक अमेरिकन सैनिक कमान की स्थापना की, तथा अमेरिकन

सैनिकों को युद्ध में भाग लेने के लिए (दक्षिणी वियतनाम की ओर से) वहाँ भेजा गया। रूस ने अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग से आग्रह किया कि वह दक्षिणी वियतनाम में अमेरिकन हस्तक्षेप को रोकने की दिशा में प्रयत्न करे, परन्तु इससे स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अमेरिका अपनी योजना पर चलता रहा, और अगस्त, १९६४ में उसने उत्तरी वियतनाम के विरुद्ध सैनिक हस्तक्षेप करने की स्पष्ट घोषणा कर दी तथा उसके (उत्तरी वियतनाम के) सैनिक ठिकानों पर बमबर्षा करना आरम्भ कर दिया, इससे परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी। एक ओर दोनों पक्षों के बीच सशस्त्र संघर्ष चलता रहा और दूसरी ओर शान्ति स्थापित करने की दृष्टि से समझौते का प्रयास चलता रहा।

इन समझौता प्रयासों के बीच ही नवम्बर, १९६६ में मनीला में एक शिखर सम्मेलन हुआ, जिसकी विज्ञप्ति में यह माँग की गयी कि वियतनाम में शान्ति-स्थापना के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वियतकांग अपनी आक्रामक कार्यवाहियाँ बन्द करे और उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम के प्रदेश से अपनी सेनाएँ हटा ले। ऐसा करने पर अमेरिका भी अपनी सेनाएँ हटा लेगा। परन्तु इसका कोई फल नहीं निकला। १३ मई, १९६८ में पेरिस वार्ता की गयी। पेरिस वार्ता में दोनों ही पक्ष (अमेरिका एवं उत्तरी वियतनाम) एक दूसरे से अधिकाधिक प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहे। उत्तरी वियतनाम यह दोहराता रहा कि तुरन्त और बिना शर्त बमबारी बन्द करने पर ही समस्या सुलझ सकती है और अमेरिकी प्रतिनिधि यह कहते रहे कि उत्तरी वियतनाम पर तभी बमबारी बन्द की जा सकती है जब हनोई संघर्ष को न फैलाने का आश्वासन दे। पेरिस सम्मेलन में इन बातों पर गतिरोध बना रहा कि राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के प्रतिनिधि को बैठने दिया जाय अथवा नहीं, कौन पक्ष कहाँ बैठे। हनोई और राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे (दक्षिणी वियतनाम में साम्यवादियों का मोर्चा) का सुझाव था कि वार्ता एक गोलमेज पर हो तथा सम्बन्धित पक्ष अपने इच्छानुसार बैठने का स्थान चुन ले, परन्तु अमेरिका और दक्षिणी वियतनाम यह सुझाव मानने को तैयार नहीं थे, क्योंकि दोनों ही राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को मान्यता नहीं देते थे और गोलमेज वार्ता का सुझाव मान लेने पर राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को इनकी मान्यता प्राप्त हो जाती थी। अन्त में काफी विवाद के बाद इस समस्या का भी हल निकाल लिया गया और सम्मेलन की कार्यवाही पुनः प्रारम्भ करने के प्रयत्न किये जाने लगे। ६ फरवरी, १९६९ को वार्ता का तीसरा दौर आरम्भ हुआ। ८ मई, १९६९ को राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे ने एक दस-सूत्रीय योजना रखी, जिसमें दक्षिणी वियतनाम में विदेशी सैन्य की वापसी तथा वहाँ [illegible] ए एक अस्थायी संयुक्त सरकार के गठन की बात कही

गयी। दक्षिणी वियतनाम इस प्रस्ताव के आधार पर आगे बातचीत करने को तो सहमत हो गया, परन्तु संयुक्त सरकार के गठन की बात उसने अस्वीकार कर दी। दूसरी ओर अमेरिका के नव-निर्वाचित राष्ट्रपति निक्सन ने यह नीति अपनायी कि एक ओर तो शान्ति वार्ता चलती रहे, और दूसरी ओर दक्षिणी वियतनाम से धीरे धीरे इस प्रकार अपने सैनिक वापस बुलाये जायँ जिससे सैनिक स्थिति एकदम अमेरिका और दक्षिणी वियतनाम के विरुद्ध न हो।

अभी तक अमेरिका के एक लाख से भी अधिक सैनिक दक्षिणी वियतनाम से वापस बुला लिए गये हैं, परन्तु पेरिस वार्ता का अभी तक कोई सन्तोषप्रद परिणाम नहीं निकला है। वैसे तो दोनों ही पक्ष अपनी अपनी बात पर अड़े हुए हैं तथा राष्ट्रपति निक्सन यह स्पष्ट संकेत दे चुके हैं कि यदि उत्तरी वियतनाम की आक्रामक कार्यवाहियाँ बढ़ी तो अमेरिका को पुनः कठोर कार्यवाही करने को बाध्य होना पड़ेगा, फिर भी यह आशा की जाती है कि सम्भवतः निकट भविष्य में वियतनाम में शान्ति स्थापित हो जायगी। अन्यथा वियतनाम युद्ध कभी भी विश्व को तीसरे महायुद्ध की ओर धकेल सकता है।

हो-ची मिन्ह :

दक्षिण-पूर्वी एशिया पर जो आज साम्यवाद की छाया मँडराती दिखायी देती है, उसका मुख्य कारण हो-ची मिन्ह को ही माना जाता है। उसकी सीधी एवं सरल बाह्य आकृति को देखकर कोई भी यह नहीं कह सकता कि वियतनाम में जो रक्तपात हुआ है उससे उनका तनिक भी सम्बन्ध हो सकता है। उनकी मुखाकृति से उनके एक चीनी सन्त होने का भ्रम होता था, परन्तु मुखाकृतियाँ प्रायः भ्रम उत्पन्न करनेवाली होती हैं। वे सन्त न होकर, एक मँजे हुए, कठोर एवं असीम साहसवाले क्रान्तिकारी थे, जिन्होंने झुकना तो कभी सीखा ही नहीं था।

हो-ची मिन्ह का पैतृक नाम नेंगुयेन थान्ह (Nguyen Thanh) था, जिनका जन्म सरकारी आँकड़ों के अनुसार १९ मई, १८९० को वियतनाम के किम लीन (Kim Lien) ग्राम में हुआ था। फ्रान्स में वे इसी नाम से प्रसिद्ध थे, जहाँ वे १९१७ में पहुँचे थे। फ्रान्स में उन्होंने वह सब कुछ देखा जिससे उनके हृदय में फ्रान्सीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह की भावना और भी अधिक तीव्र हो गयी। हो-ची मिन्ह विद्यार्थी जीवन से ही क्रान्तिकारी आन्दोलनों में भाग लेने लगे थे। १९०८ के वियतनाम में क्रान्तिकारी आन्दोलन से उनका सीधा सम्बन्ध था। उस समय वे वियतनाम में अध्ययन करते थे। फ्रान्स में, १९२० और १९२३ के मध्य, उनके तीन राजनीतिक कार्य विशेष ध्यान देने योग्य थे :

१. उन्होंने वहाँ की समाजवादी कांग्रेस को अपना पूरा पूरा सहयोग प्रदान किया तथा वे केचिन एवं फ्रोसर्ड (Cachin and Frossard) के नियन्त्रण में चलनेवाले साम्यवादी दल में सम्मिलित हो गये।
२. उन्होंने वहाँ एक पुस्तक "प्रोसेस् दि ला कॉलोनाइजेशन फ्रान्सेस" *(Proces' de la Colonisation Francaise)* लिखी, जिसमें साम्राज्यवादी फ्रान्स की उपनिवेशवादी नीति की कटु आलोचना की।
३. वहाँ उन्होंने एक अन्तर-उपनिवेशीय संघ (Inter-Colonial Union) की स्थापना की, जिसके द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले पत्र "ले पेरिया" (*Le Paria*) के वे संस्थापक एवं सम्पादक दोनों ही थे।

फ्रान्सीसी साम्यवादी दल के सदस्य के नाते उन्होंने फ्रान्सीसी श्रमिक वर्ग को, "ले पेरिया" के माध्यम से, जिसका प्रकाशन अप्रैल, १९२२ से लेकर अप्रैल, १९२६ तक हुआ, साम्राज्यवादी फ्रान्सीसी सरकार के विरुद्ध भड़काया तथा वियतनाम के सामन्तों एवं साम्राज्यवादियों के पिट्ठुओं पर तीव्र प्रहार किया। हो-ची मिन्ह की साम्राज्यवादी एवं सामन्तवाद-विरोधी भावनाएँ बढ़ती गयीं, और साम्यवाद में धीरे धीरे उनकी आस्था प्रबल होती गयी।

१९२२-२३ में[1] श्री हो-ची मिन्ह साम्यवाद की शिक्षा एवं दीक्षा लेने मास्को गये। मास्को में वे अइ कुओक (Ai Quoc) के नाम से जाने जाते थे। उस समय के मास्को का जीवन फ्रान्स की मृतप्राय साम्राज्यवादी सभ्यता से पूर्णतः भिन्न था। फ्रान्स में उन्होंने अनेक प्रकार की स्वतन्त्रताओं का उपयोग किया था, जब कि मास्को का जीवन, रूसी क्रान्ति के बाद, अत्यन्त कठोर हो गया था। फिर भी उनके युद्धोन्मुख क्रान्तिकारी आदर्शवाद (Militant Revolutionary Idealism) ने वहाँ की कठिनाइयों से समझौता कर लिया। साम्यवादी मास्को में साम्राज्यवादी शक्तियों से उपनिवेशों को स्वतन्त्र करने की जो हवा बह रही थी, उसने अइ कुओक (हो-ची मिन्ह) को बहुत प्रभावित किया। १९२४ में सन यात सेन ने, रूसियों के सहयोग से केन्टन में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर ली थी। रूस ने बारोदिन को, कोमिन्ताङ्ग के प्रमुख सलाहकार के रूप में, पड़ोसी देशों में साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं को फैलाने की दृष्टि से, चीन भेजा। इसके लिए

---

१. मास्को जाने की तिथि निश्चित नहीं है। समाचारपत्रों के अनुसार हो-ची मिन्ह १९२२ के अन्त में मास्को गये थे, जबकि सरकारी रिपोर्ट के अनुसार वे मई, १९२३ में मास्को पहुँचे.

एक कमेटी का गठन किया गया, जिसके एक सदस्य अइ कुओक भी थे। वे भी १९२४ में चीन गये। चीन में अइ कुओक ने अपना नाम बदलकर हो-ची मिन्ह रख लिया। बाद में वे इसी नाम से प्रख्यात हुए। १९२६ के अन्त में हो-ची मिन्ह अपने पुराने नाम से ही मास्को लौट गये, और वहां अनेक वर्षों तक रहे। मास्को में उन्होंने डाक्टरेट की उपाधि भी ग्रहण की। १९४० में वे फासिस्टवाद के विरुद्ध जनयुद्ध में सहयोग देने की दृष्टि से दक्षिणी चीन गये। यूनान (Yunan) में उन्होंने अपना मुख्य कार्यालय स्थापित किया, और अमेरिकनों के सहयोग से हिन्द-चीन में जापानियों के विरुद्ध संघर्ष किया। यहीं पर वियतमिन्ह साम्यवादी संरक्षण में राष्ट्रवाद की स्थापना हुई।

१९४० में जापान की पराजय के बाद चीनी सेनाओं ने हिन्द-चीन के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। चीन का यह व्यवहार अनामियों (Anamese) को बहुत बुरा लगा। अनामी लोग यह नहीं भूले थे कि शताब्दियों तक चीन ने उनकी भूमि को एक उपनिवेश की भांति अपने अधिकार में बनाये रखा था। अतः वे चीन के इस व्यवहार से पूर्णतः असन्तुष्ट थे। १९४५ में जापान की पूर्ण पराजय के बाद हो-ची मिन्ह ने अपना कार्यालय टोन्गकिंग में बदल लिया और स्वतन्त्र कार्यकारी वियतनाम सरकार की स्थापना कर दी। उस समय उन्होंने हिन्द-चीन के साम्यवादी दल (जिसकी १९२४ में स्थापना हुई थी) को भंग कर दिया तथा इस दल की नीतियों के प्रति अपनी अश्रद्धा प्रकट की। जापान की पराजय के बाद, फ्रान्स ने हिन्द-चीन में पुनः अपना अधिकार स्थापित करना चाहा, परन्तु हो-ची मिन्ह और उनकी उत्तरी वियतनामी सरकार ने डटकर विरोध किया। १९४६ में हो-ची मिन्ह फ्रान्स से समझौता करने की दृष्टि से पेरिस गये, परन्तु उसका कोई फल नहीं निकला। कार्यकारी सरकार में हो-ची मिन्ह ने बाओदाई (अन्नाम के भूतपूर्व नरेश) को, जिनके विरुद्ध यद्यपि जापानियों के साथ सांठ गांठ करने का आरोप था, मुख्य सलाहकार के पद पर कार्य करने को आमन्त्रित किया। वास्तव में हो-ची मिन्ह एक युद्धोन्मुख राष्ट्रवादी एवं कठोर क्रान्तिकारी होते हुए भी, कुछ अंशों में, विरोधियों को भी साथ लेकर चलने में विश्वास करते थे, जिससे विदेशी शक्तियाँ उनके राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से दूर रह सकें। इस दृष्टि से उन्होंने कुछ विश्वसनीय साम्यवादियों को भी अपनी कार्यकारी सरकार में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किये, यद्यपि साम्यवादी दल को वे (हो-ची मिन्ह) भंग कर चुके थे। पर ये साम्यवादी अपने नेता के इस बदले हुए दृष्टिकोण से सन्तुष्ट नहीं थे। यहाँ तक कि वियतनाम सेना (उत्तरी वियतनाम की) के कमाण्डर यू न्गुएन (Yu Nguyen Giah) ने यह निश्चय कर

लिया कि यदि हो-ची मिन्ह ने फ्रान्स के साथ किसी प्रकार का नरम रुख अपनाया तो वियतनाम में सैनिक क्रान्ति कर दी जायगी। हो-ची मिन्ह ने साम्यवादियों के दबाव के कारण पेरिस वार्ता में, फ्रान्स के साथ असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण (Uncompromising attitude) का परिचय दिया, पर वास्तव में वे परिस्थिति को देखते हुए, फ्रान्सीसी सरकार से समझौता करने के लिए उत्सुक थे। फ्रान्सीसी सरकार ने भी अदूरदर्शिता से काम लिया, और वह हो-ची मिन्ह के साथ सहयोग न कर सकी। यदि हो-ची मिन्ह और फ्रान्सीसी सरकार में समझौता हो जाता, तो संभवतः वियतनाम में साम्यवादियों की गतिविधियाँ समाप्त हो जातीं तथा वियतनाम समस्या का कोई सन्तोषप्रद हल निकाल लिया जाता। परन्तु ऐसा न हो सका और दिसम्बर, १९४६ में पेरिस वार्ता विफल हो गयी। इसके साथ ही साम्यवादी एवं राष्ट्रवादी छापामारों की कार्यवाहियाँ प्रारम्भ हो गयीं। फ्रान्स ने दक्षिणी वियतनाम में ५ जून, १९४८ को बाओदाई की अध्यक्षता में कठपुतली सरकार की स्थापना कर दी। शान्ति प्रयत्नों के बावजूद धीरे धीरे वियतनाम की स्थिति बिगड़ती गयी, जिसके सम्बन्ध में "वियतनाम" शीर्षक के अन्तर्गत पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है।

कूटनीतिक दृष्टि से हिन्द-चीन को दक्षिण-पूर्वी एशिया का द्वार माना जाता है, और उसकी शान्ति वियतनाम अथवा हिन्द-चीन में शान्ति पर आधारित है। हो-ची मिन्ह को, जिनकी लगभग एक वर्ष पूर्व मृत्यु हो चुकी है, दक्षिण-पूर्वी एशिया का भाग्य-निर्माता कहा जाता था। वे एक उच्च कोटि के कठोर राष्ट्रवादी थे। यद्यपि उनके ऊपर साम्यवाद का गहरा प्रभाव था, फिर भी स्वभाव से वे कट्टर साम्यवादी नहीं थे। उन्होंने न केवल साम्राज्यवाद एवं फासिस्टवाद के विरुद्ध संघर्ष किया, प्रत्युत वियतनाम में चीनी अधिकार स्थापित किये जाने का भी विरोध किया। उनका साम्यवाद से लगाव प्रायः इसलिए था कि साम्यवाद साम्राज्यवाद एवं पूँजीवाद का विरोध करता है। उन्होंने चीनी साम्यवादियों का, वियतनाम में संघर्ष के दौरान, वीत मिन्ह राष्ट्रवादियों को अधिक सशक्त बनाने की दृष्टि से ही सहयोग लिया, परन्तु वे अपने देश को किसी भी बाह्य शक्ति के प्रभाव में रखने के विरुद्ध थे। उनकी साम्यवादी आस्था, यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो की भाँति, अपने ढंग की थी। स्वभाव से वे किसी भी विचारधारा एवं किसी भी राष्ट्र का पिछलग्गू बनना पसन्द नहीं करते थे। वास्तव में उनका सारा संघर्ष राष्ट्रवादी था तथा वे अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद के हाथों कठपुतली बनना तथा उसके द्वारा निश्चित नीतियों पर चलने में विश्वास नहीं रखते थे। और सम्भवतः यही कारण था कि समय समय पर उन्होंने दक्षिणी वियतनाम तथा उसके सहयोगियों

(फ्रान्स और अमेरिका) के साथ समझौता करने का प्रयास किया। फ्रान्स से वियतनाम की (उत्तरी वियतनाम की) स्वतन्त्रता घोषित करते हुए उन्होंने टॉमस जेफरसन (Thomas Jefferson) से उद्धरण प्रस्तुत किये। हो-ची मिन्ह युद्धरत राष्ट्रवादी एवं क्रान्तिकारी होने के साथ साथ एक कवि, लेखक एवं विद्वान् भी थे। अत वे किसी एक प्रकार की विचारधारा अथवा परिपाटी के कायल नहीं थे। उनका उद्देश्य तो अपने देश में स्वतन्त्र समाजवादी नीतियों पर आधारित एक सुदृढ़ राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना करना तथा सम्पूर्ण वियतनाम से सभी साम्राज्यवादी शक्तियों को उखाड़ फेंकना था। क्योंकि वियतनाम में निरन्तर संघर्ष की स्थिति बनी रहने के कारण उन्हें अपनी नीतियों एवं योजनाओं को क्रियान्वित करने का अवसर नहीं मिला, अत उनकी विचारधारा के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट-रूप से कहना न सम्भव ही है, और न उचित ही।

अध्याय २२

दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देश

मलेशिया :

मलाया प्रायद्वीप दक्षिण-पूर्वी एशिया के एक छोर पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल ५०,६९० वर्गमील तथा जनसंख्या लगभग ७५ लाख है। पहले इसपर सुल्तानों का राज्य था, जो प्रायः आपस में लड़ते रहते थे, परन्तु बाद में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से अंग्रेज यहाँ आए और १९०९ तक उन्होंने इस प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

मलेशिया में राष्ट्रवादियों का स्वतंत्रता आन्दोलन यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही सुल्तानों के प्रभुत्व की पुनः स्थापना करने के रूप में (जो ब्रिटिश सरकार की कठपुतली बने हुए थे) प्रारम्भ हो गया था, तथापि वह कोई प्रगति नहीं कर सका। द्वितीय महायुद्ध के मध्य इस सम्पूर्ण प्रायद्वीप पर जापानियों का अधिकार हो गया, परन्तु १९४५ में—जापान की पराजय के बाद—इसपर पुनः ब्रिटिश शासन स्थापित हो गया। एशिया के अन्य देशों की भाँति इस प्रायद्वीप में भी राष्ट्रवादी शक्तियों ने स्वतन्त्रता की माँग की और १ फरवरी, १९४८ को ब्रिटिश संरक्षण में नौ राज्यों के एक संघ के निर्माण की घोषणा की गयी, परन्तु इससे मलाया की जनता सन्तुष्ट नहीं हुई। मलाया के उग्र राष्ट्रवादी नेता अपने देश पर ब्रिटिश आधिपत्य को किसी भी रूप में सहन करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। उग्र राष्ट्रवादियों में कम्युनिस्टों का प्राधान्य था। दोनों ने मिलकर एक 'मलायन नेशनल लिबरेशन' सेना का संगठन किया और शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर ब्रिटिश नेतृत्व को समाप्त कर देने के लिए संघर्ष शुरू कर दिया। इस विद्रोह या युद्ध का उद्देश्य था—मलाया

में भी चीन के ढंग की जनवादी लोकतन्त्रीय रिपब्लिक की स्थापना करना। १९४८ से १९५५ तक ब्रिटिश सेनाओं और विद्रोहियों में संघर्ष चलता रहा। १९५५ में कम्युनिस्टों को दबाने में ब्रिटिश सरकार को सफलता प्राप्त हो गयी, पर उसे यह भी निश्चय हो गया कि अब मलाया की स्वतन्त्रता की माँग की अधिक उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः ३१ अगस्त, १९५७ को राष्ट्रमण्डल के एक "स्वशासित अधिराज्य" के रूप में मलाया संघ को स्वतन्त्रता घोषित कर दी गयी। सिंगापुर "क्राउन उपनिवेश" ही बना रहा तथा १९५४ में लागू किये गये एक पृथक् संविधान के अनुसार उसका शासन चलता रहा। पर यहाँ पर भी स्वतन्त्रता की माँग प्रबल होती गयी, और अन्त में २-३ जून, १९५९ की अर्द्धरात्रि को सिंगापुर को भी स्वाधीनता प्रदान कर दी गयी।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों की भाँति, मलाया में भी साम्यवादियों का जोर बढ़ता गया और धीरे धीरे बहुत बड़ी संख्या में रहनेवाले प्रवासी चीनी यहाँ के राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने लगे। साम्यवादियों के प्रभाव को रोकने की दृष्टि से १९६१ के ग्रीष्म में मलाया के प्रधान मंत्री श्री टुंकु अब्दुल रहमान ने मलाया, सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो, ब्रूनी तथा सारवाक को मिलाकर एक "बृहत् मलेशिया" अथवा मलेशिया संघ की स्थापना की योजना प्रस्तुत की। इस संघ के उद्देश्य चीन के विस्तार को रोकना, इस क्षेत्र के राजनीतिक जीवन में से प्रवासी चीनियों को कम करना तथा इस क्षेत्र का आर्थिक विकास करना आदि थे। पहले तो सिंगापुर ने इस संघ में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया, परन्तु बाद में जनमत संग्रह के आधार पर (सिंगापुर में) वह इसमें मिल गया। १६ दिसम्बर, १९६३ को "मलेशिया संघ" की स्थापना हुई।

इस संघ को ब्रिटेन का पूरा सहयोग प्राप्त हुआ, किन्तु इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकार्णो ने इसका विरोध किया। मलेशिया और इण्डोनेशिया का पारस्परिक विवाद शीतयुद्ध का प्रधान अंग बन गया। दोनों में खींचातानी चलती रही, और एक बार तो इन दोनों में तनातनी इतनी बढ़ गयी कि यह लगभग निश्चित सा दिखायी देने लगा कि इनके बीच युद्ध होकर ही रहेगा। किसी प्रकार यह स्थिति टल गयी, परन्तु दोनों के बीच तनाव बना रहा। यह तनाव अक्टूबर, १९६५ के बाद ही कम हुआ, जबकि इण्डोनेशिया भयंकर गृहकलह में फँस गया और वहाँ नेतृत्व में परिवर्तन हो गया। इसी बीच ९ अगस्त, १९६५ को सिंगापुर, आर्थिक कठिनाइयों के कारण, मलेशिया संघ से पृथक् हो गया और स्वतन्त्र होकर राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। जून, १९६६ में बैंकाक सम्मेलन के द्वारा मलेशिया और इण्डोनेशिया के सम्बन्धों में सुधार हो गया। जनरल सुहार्तो के नेतृत्व में इण्डोनेशिया की नयी

सरकार ने मलेशिया संघ को पहले ही मान्यता प्रदान कर दी थी। इस प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के एक बड़े भाग में शान्ति स्थापित हो गयी।

परन्तु पिछले कुछ महीनों में मलेशिया संघ की आन्तरिक स्थिति में, ब्रिटेन से हथियार खरीदने तथा संविधान में संशोधन द्वारा चुनावों को स्थगित करने के कारण, तनाव उत्पन्न हो गया है। यदि आन्तरिक अव्यवस्था के कारण मलेशिया की जनता में क्षोभ बढ़ता गया तो इसका प्रभाव राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मलेशिया के लिए हितकारी नहीं होगा। साम्यवाद के प्रसार का खतरा दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिए स्थायी बन चुका है, और जब किसी भी देश की आन्तरिक स्थिति कमजोर होती है तो उसके लिए वह खतरा और भी अधिक बढ़ जाता है। अतः मलेशिया में आन्तरिक असन्तोष का बढ़ना उसके लिए खतरे से खाली नहीं है। साथ ही, तनावपूर्ण एवं अनिश्चित स्थिति में किसी भी राजनीतिक चिन्तन अथवा सुदृढ़ वैचारिक परम्परा का पनपना प्रायः कठिन होता है। और मलेशिया इसका अपवाद नहीं है।

फिलीपाइन्स :

उत्तरी प्रशान्त महासागर के दक्षिण में स्थित फिलीपाइन्स में कई हजार छोटे बड़े द्वीप सम्मिलित हैं। यह प्रदेश लगभग ३३३ वर्षों तक स्पेन के अधिकार में था। स्पेनिश लोग धर्मप्रचार के लिए यहाँ आए, और स्पेन साम्राज्य के कर्मचारी बहुधा धर्मप्रचारक एवं पादरी थे। स्पेनिश साम्राज्य को "धर्मप्रचारकों का साम्राज्य" माना जाता था। स्पेन के शासन-काल में इस प्रदेश का पूर्ण शोषण किया गया। जनता पर भारी भारी कर लगाये गये तथा उसे ईसाई धर्म ग्रहण करने के लिए बाध्य किया गया। धीरे धीरे फिलीपाइन्स की जनता में विद्रोह पैदा होने लगा, जिसे अनेक बार कठोरता से दबा दिया गया। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सारे देश में राष्ट्रवादी संघ बन गये तथा गुप्त संगठनों का निर्माण होने लगा। राष्ट्रवादी आन्दोलन में "युवक फिलीपिनो दल" ने—जिसके नेता डॉ० जोस रिज़ाल (Dr. Jose Rizal) थे—प्रमुख भाग लिया। स्पेनिश अधिकारियों ने क्रूरतापूर्वक इस आन्दोलन को दबा देने का प्रयास किया तथा रिज़ाल और अन्य नेताओं को १८९६ में फाँसी दे दी गयी। इससे देश में स्पेनिश सरकार के विरुद्ध खुले आम विद्रोह भड़क उठा और फिलीपाइन्स की जनता ने अपने देश की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। स्पेनिश सरकार उस विद्रोह को कुचलने में असमर्थ रही। इसी बीच अमेरिका और स्पेन में युद्ध छिड़ गया। एक अमरीकी समुद्री दस्ते ने १८९८

ने फिलीपाइन्स पर आक्रमण किया। इस युद्ध में फिलीपाइन्स के विद्रोही नेताओं ने अमेरिका का साथ दिया और अन्त में स्पेन सरकार की पराजय हुई। स्पेन ने फिलीपाइन्स को, शान्ति-सन्धि करने के हेतु उपहारस्वरूप, अमेरिका को सौंप दिया। इस प्रकार १८९८ में फिलीपाइन्स अमेरिका के अधिकार में चला गया।

फिलीपाइन्स के नेताओं ने इसका विरोध किया। उनका तर्क था कि स्पेन द्वारा फिलीपाइन्स को अमेरिका को हस्तान्तरित करने का कोई अधिकार नहीं है। पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति की दृष्टि से ही उन्होंने युद्ध में अमेरिका के साथ सहयोग किया। परन्तु अमेरिका ने उनके विरोध को दबा दिया। किन्तु जहाँ स्पेन ने अपने शासनकाल में इस प्रदेश का शोषण किया, वहाँ अमेरिका ने फिलीपाइन्स-निवासियों को स्वशासन प्राप्त करने के लिए तैयार किया।

अमेरिका यह जानता था कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना वहाँ के लोगों में भली भाँति विकसित हो चुकी है, अतः उसने आरम्भ से ही फिलीपाइन्स में स्वशासन की स्थापना हेतु प्रयत्न आरम्भ कर दिये। १९०७ में वहाँ पार्लियामेन्ट की स्थापना की गयी, जिसमें दो सभाएँ—प्रतिनिधि सभा और कमीशन—रखी गयीं। प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को जनता निर्वाचित करती थी और कमीशन के सदस्यों को अमेरिका के राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता था। १९१३ में इस शासन-विधान में महत्वपूर्ण सुधार किये गये। उस समय अमेरिका के राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन थे। उन्होंने यह व्यवस्था की कि फिलीपाइन्स के द्वितीय सदन, कमीशन, में भी वहाँ के लोगों का बहुमत रहे और सरकार के विभिन्न पदों पर फिलीपाइन्स निवासियों को ही नियुक्त किया जाया करे। विल्सन प्रत्येक राज्य के 'स्वभाग्य-निर्णय' के अधिकार के प्रबल पक्षपाती थे। राष्ट्रपति विल्सन का यह सिद्धान्त उनके सुप्रसिद्ध 'चौदह सिद्धान्तों' में से एक प्रमुख सिद्धान्त था। वैसे भी, प्रथम महायुद्ध के समय सम्पूर्ण विश्व में लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही थीं, जिनकी किसी भी राष्ट्र द्वारा अवहेलना नहीं की जा सकती थी। अतः १९१६ में अमेरिका की कांग्रेस ने एक नया बिल पास किया, जिसके अनुसार फिलीपाइन्स के द्वितीय सदन के सदस्यों को भी जनता द्वारा निर्वाचित किये जाने की व्यवस्था की गयी। साथ ही यह भी घोषणा की गयी कि जैसे ही फिलीपाइन्स द्वीप-समूह में सुव्यवस्था स्थापित हो जायगी, वैसे ही उसे पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर दी जायगी। फिलीपाइन्स के राष्ट्रवादी नेताओं का कहना था कि उनके देश में पूर्ण व्यवस्था है, अतः अमेरिका को उसे अविलम्ब स्वतंत्र कर देना चाहिए। पर अमेरिका ने अपने वचन का पालन नहीं किया। युद्ध के पश्चात् विल्सन राष्ट्रपति पद पर बने नहीं रह सके तथा फिलीपाइन्स के गवर्नर-जनरल लिओनार्ड वुड स्वातन्त्र्य आन्दोलन के विरोधी

थे, अतः इस दिशा में अधिक प्रगति न हो सकी। इससे फिलीपाइन्स से राष्ट्रवादी भड़क उठे और उन्होंने अपना स्वाधीनता आन्दोलन तीव्र कर दिया। सारे देश में अमेरिका की सरकार के विरुद्ध तीव्र विद्रोह भड़क उठा। अतः १९३० में अमेरिका ने इस प्रश्न पर विचार किया। १९३२ में अमेरिका की कांग्रेस ने फिलीपाइन्स से सम्बन्धित एक बिल पास किया जिसे हेअर-हॉवस-कटिंग बिल कहते हैं। इस बिल द्वारा यह निर्णय किया गया कि दस वर्ष की अवधि में फिलीपाइन्स को पूर्ण स्वराज्य प्रदान कर दिया जायगा। साथ ही इस बिल के द्वारा फिलीपाइन्स निवासियों की कुछ आर्थिक शिकायतों को भी दूर करने का प्रयास किया गया। परन्तु दस वर्ष बाद स्वराज्य की स्थापना की बात से फिलीपाइन्स निवासी सन्तुष्ट नहीं थे, अतः ७ अक्तूबर, १९३३ को वहाँ की संसद् ने इस बिल के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया।

१९३४ में एक बार पुनः अमेरिका की सरकार ने फिलीपाइन्स की समस्या को हल करने का प्रयास किया। इस समय अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट थे। उन्होंने हेअर-हॉवस-कटिंग बिल को कुछ संशोधनों के साथ कांग्रेस में पेश कराया। यही संशोधित बिल "टाइडिंग्स-मेकडफ बिल" के नाम से प्रसिद्ध है। इस बिल के अनुसार फिलीपाइन्स द्वीप-समूह को अपने लिए संविधान निर्माण करने का अधिकार दिया गया, पर उसे यह अवसर नहीं दिया गया कि वह अमेरिका के प्रभुत्व से मुक्त होकर पूर्ण रूप से स्वाधीन हो सके। २४ मार्च, १९३४ को इस बिल को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गयी। यद्यपि इस बिल से अनेक नेता संतुष्ट थे तथा इसे १ मई, १९३४ को फिलीपाइन्स की संसद् ने भी स्वीकार कर लिया, तथापि फिलीपाइन के उग्र राष्ट्रवादी इससे सन्तुष्ट नहीं हुए।

१० जुलाई, १९३४ को फिलीपाइन्स द्वीप-समूह की विधान-सभा का निर्वाचन हुआ। इस विधान-सभा ने देश के लिए संविधान का निर्माण किया, जिसके द्वारा फिलीपाइन्स को आंशिक स्वराज्य प्राप्त हो गया। परन्तु अमेरिका का प्रभुत्व वहाँ निरन्तर बना रहा। नये संविधान के अनुसार देश में लोकतंत्र गणराज्य की स्थापना की गयी। राष्ट्रपति का निर्वाचन छह साल के लिए कराया जाना निश्चित हुआ तथा संसद् में केवल जनता के प्रतिनिधियों का एक ही सदन रखा गया। संविधान के अनुसार मेनुअल क्वेजोन फिलीपाइन्स के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। १९३५ में फिलीपाइन्स द्वीप-समूह के शासन में वहाँ की जनता को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। १९३५ के बाद फिलीपाइन्स के संविधान में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। दिसम्बर, १९४० में संविधान में संशोधन करके संसद् में पुनः दो सदन कर दिये गये तथा राष्ट्रपति का कार्यकाल छह साल से चार साल कर दिया

गया। एक निर्वाचन कमीशन के संगठन की भी व्यवस्था की गयी। परन्तु कुछ उग्र राष्ट्रवादी शक्तियाँ अमेरिका के फिलीपाइन्स में प्रभुत्व के विरुद्ध थी तथा स्थिति को समझते हुए द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने से पूर्व ही अमेरिका द्वारा कामनवेल्थ बिल (२४ मार्च, १९३४ का 'टाइडिंग्स-मेकडफ बिल') के अन्तर्गत यह घोषणा कर दी गयी थी कि १९४६ में किसी समय फिलीपाइन्स को स्वाधीन कर दिया जायगा। अतः ४ जुलाई, १९४६ को उसे स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गयी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद देश की आन्तरिक स्थिति उग्र समाजवादी विचारवाले हुक गुरिल्ला सैनिकों के कारण डावाँडोल होने लगी। द्वितीय महायुद्ध में जब फिलीपाइन्स को जापानी आक्रमण का शिकार होना पड़ा था, तो इन हुक गुरिल्लों ने जापान के विरुद्ध युद्ध किया था। फिलीपाइन्स की पूर्ण स्वतन्त्रता के बाद भी ये सैनिक फिलीपाइन्स की राष्ट्रीय सरकार के सामने आत्म-समर्पण करने को तैयार नहीं थे तथा भूमि और कृषि सम्बन्धी व्यापक सुधारों की माँग कर रहे थे। इनके विद्रोह के कारण देश की आन्तरिक स्थिति को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया। १९४६ से लेकर १९४९ तक देश में दो राष्ट्रपति हुए, पर वे स्थिति पर नियंत्रण नहीं पा सके। १९४९ के चुनावों के परिणामस्वरूप एल्पीडियो क्विरीनो देश के नये राष्ट्रपति बने। उन्होंने विद्रोहियों को दबाने की दृष्टि से मगसाई साई नामक एक अत्यन्त योग्य व्यक्ति को प्रतिरक्षा मन्त्री नियुक्त किया। श्री मगसाई साई ने हुक विद्रोहियों का दमन करने में आशातीत सफलता प्राप्त की, और देश को राष्ट्रीय एकता, सुरक्षा एवं लोकतन्त्र का सुदृढ़ आधार प्रदान किया। १९५३ में ये राष्ट्रपति के पद पर चुन लिये गये, परन्तु १९५७ में एक विमान दुर्घटना में इस मानवतावादी की मृत्यु हो गयी। वर्तमान में फिलीपाइन्स के राष्ट्रपति मार्कोस हैं।

फिलीपाइन्स में प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली है तथा उसका ढाँचा बहुत कुछ अमेरिका जैसा है। वैसे भी संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उसके बाहर फिलीपाइन्स बहुधा अमेरिका के साथ मिलकर चलता है। साम्यवादी खतरे से बचने के लिए १९४५ में फिलीपाइन्स "सीटो" (दक्षिण-पूर्वी एशिया सुरक्षा-सन्धि संगठन) का सदस्य बन गया। यह देश तटस्थता की नीति में विश्वास नहीं करता। सम्भवतः इसका एक कारण साम्यवाद से निरन्तर बना रहनेवाला खतरा है। फिलीपाइन्स के स्वर्गीय राष्ट्रपति रॉमन मगसाई साई ने कहा था कि वे साम्यवाद को केवल एक ऐसी *शक्ति नहीं मानते, जिसकी तृष्णा भूमि और स्वर्ण पाकर ही सन्तुष्ट हो जाय।* उनके देश में चलाये गये साम्यवादी हिंसात्मक आन्दोलन से उन्होंने यह अनुभव किया कि साम्यवाद एक विकृत राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा मात्र नहीं, बल्कि एक ऐसा सतत विश्व-व्यापी आन्दोलन है, जिसका लक्ष्य समस्त भू-मण्डल पर शासन करना, व्यक्तिगत

स्वाधीनता को पूर्णरूपेण नष्ट करना तथा ईश्वर और आत्मा को तिरस्कृत करना एवं लांछित करना है। इस साम्यवादी प्रभाव को अपने देश से दूर रखने के लिए ही फिलीपाइन्स, अमेरिका का अधिक से अधिक सहयोग कर रहा है तथा माफीलिंडो (Maphilindo) के नाम से (फिलीपाइन्स, मलेशिया और इण्डोनेशिया को मिलाकर) एक संघ बनाने के लिए उत्सुक है। इस संघ से इस प्रदेश की सुरक्षा काफी सुदृढ़ हो जायेगी।

राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि फिलीपाइन्स प्रजातान्त्रिक शासन-पद्धति में विश्वास करता है तथा किसी भी रूप में साम्यवाद को अपने प्रदेश से दूर रखना चाहता है। उदारवादी समाजवाद में भी प्रायः उसकी आस्था नहीं है। २०वीं शताब्दी में ऐसा कोई चिन्तन अथवा शक्तिशाली प्रशासक इस देश में देखने को नहीं मिलता, जिसने कोई नवीन विचारधारा (इस देश को) दी हो।

इण्डोनेशिया :

इण्डोनेशिया प्रशान्त महासागर के चार बड़े द्वीप—जावा, सुमात्रा, कालीमंटन तथा सेलीबीज—एवं कई सौ द्वीपों से मिलकर बना है, जो यूरोप-एशिया को मिलानेवाले सामुद्रिक मार्ग पर तथा भूमध्य रेखा के किनारे पर स्थित है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इसे ईस्ट इण्डीज कहा जाता था। इस प्रदेश का भू-क्षेत्र लगभग साढ़े सात लाख वर्गमील और जनसंख्या लगभग नौ करोड़ है, जिसमें इण्डोनेशिया निवासियों के अतिरिक्त मलायावासी, चीनी, डच, मुसलमान आदि सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त द्वीपों में से कुछ पर डच लोगों का अधिकार बहुत पहले स्थापित हो चुका था, परन्तु द्वितीय महायुद्ध से लगभग ५० वर्ष पूर्व ही इस सम्पूर्ण प्रदेश पर उनका आधिपत्य स्थापित हुआ। अपनी राजनीतिक प्रभुता को बनाये रखने के लिए डच सरकार ने इण्डोनेशिया में, २०वीं शताब्दी में जिस नीति का अनुसरण किया वह थी "नैतिक नीति" ('Ethical Policy')। इस नीति का उद्देश्य देश में निजी क्षेत्र में व्यवसायों एवं उद्योगों को प्रोत्साहित करना था। वास्तव में डच शासक जो इस नीति का अनुसरण करने के लिए प्रवृत्त हुए, उसका कारण उनकी नैतिक भावना नहीं थी। वे अनुभव करते थे कि यदि अपने अधीनस्थ इस देश का भली भाँति विकास नहीं किया गया, तो यह सुगमतापूर्वक अन्य देशों के साम्राज्यवाद का शिकार बन सकता है। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में जापान उन्नति के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था और पूर्वी एशिया को

वह अपने साम्राज्य-प्रसार के लिए उपयुक्त क्षेत्र समझता था। अत डच सरकार को सबसे बड़ा खतरा जापान से था, और इसीलिए उसने इण्डोनेशिया की आर्थिक प्रगति पर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया। साथ ही शिक्षा के प्रसार पर भी बल दिया गया।

परन्तु इससे राष्ट्रीय भावना उभरने से न रुक सकी, और २०वी शताब्दी के आरम्भ से ही इण्डोनेशिया मे राजनीतिक अधिकारो के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। वहाँ संभवतः १९०८ में प्रथम राष्ट्रवादी संगठन का निर्माण किया गया। १९१४–१८ के महायुद्ध के अवसर पर इस आन्दोलन को पर्याप्त बल मिला। पश्चिमी राष्ट्र यह घोषित कर रहे थे कि वे लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए ही जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने भी इन्ही सिद्धान्तो की घोषणा की। अत इन सिद्धान्तों का प्रभाव इण्डोनेशिया के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन पर पड़ना स्वाभाविक था। महायुद्ध की समाप्ति पर इन द्वीपों में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए। १९२० मे जावा और सुमात्रा में डच शासन के विरुद्ध बाकायदा विद्रोह हुआ। यह विद्रोह अनेक वर्षों तक चलता रहा। १९३० के बाद इण्डोनेशिया में विद्रोह की प्रवृत्ति मन्द पड़ गयी, क्योंकि वहाँ के राष्ट्रवादी नेता यह अनुभव करते थे कि उनके देश को अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाकर जापान उसे अपने साम्राज्यवाद का शिकार बना लेगा। साथ ही, १९२७ मे डच सरकार ने वहाँ आशिक स्वराज्य की स्थापना का भी प्रयास किया था। वहाँ एक विधान-सभा की स्थापना की गयी, जिसके दो-तिहाई सदस्य निर्वाचित होते थे। शेष सदस्य तथा विधान-सभा का अध्यक्ष डच सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इण्डोनेशिया के शासन के हेतु एक सिविल सर्विस भी संगठित की गयी। प्रारम्भ में इसके सभी सदस्य डच होते थे, परन्तु बाद में इण्डोनेशिया के लोगो को भी इसमे लिया जाने लगा। १९४१ तक इसके ८४ प्रतिशत सदस्य इण्डोनेशिया के लोगो में से लिये जाने लगे।

परन्तु इन सुधारो से इण्डोनेशिया के नेता तनिक भी सन्तुष्ट नही थे। वे तो अपने देश की पूर्ण स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। १९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ, तो इण्डोनेशिया के लोगो में राष्ट्रीय भावना और स्वतंत्रता की आकांक्षा पूर्ण रूप से बलवती हो चुकी थी। वहाँ अनेक राजनीतिक संगठन थे, जिनमें अहमद सुकार्णो द्वारा स्थापित राष्ट्रीय दल सर्वप्रधान था। १९२९ में उनके दल को भी अवैध घोषित कर दिया गया था। पर इससे इण्डोनेशिया का राष्ट्रीय आन्दोलन मन्द नही पड़ा। युद्ध के मध्य डच सरकार ने उस आन्दोलन को कुचलने का भरसक प्रयत्न किया, पर उसके लिए ऐसा करना सम्भव नही था।

अतः डच सरकार ने पुनः शासन में सुधार करने का प्रयास किया। इसके लिए एक कमीशन की नियुक्ति की गयी, जिसके अध्यक्ष थे श्री विस्मान। पर "विस्मान कमीशन" स्वाधीनता का कोई विकल्प नहीं था। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। मार्च, १९४२ में इण्डोनेशिया डच आधिपत्य से मुक्त होकर जापान के कब्जे में आ गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इण्डोनेशिया में भी आरम्भ में जापान ने अपना सैनिक शासन स्थापित किया। परन्तु जापान स्थायी रूप से इण्डोनेशिया को अपनी अधीनता में रखना नहीं चाहता था। इस देश के सर्वप्रधान राष्ट्रीय नेता थे डॉ० सुकार्णो। शीघ्र ही उनके नेतृत्व में, जापान के आत्म-समर्पण के दो दिन बाद, १७ अगस्त, १९४५ को इण्डोनेशियाई जनता के एक समूह ने "स्वतन्त्र इण्डोनेशियाई गणतन्त्र" ('Independent Republic of Indonesia') की स्थापना की घोषणा कर दी। डॉ० सुकार्णो इसके राष्ट्रपति नियुक्त हुए तथा जकार्ता को राजधानी घोषित किया गया।

जापान के आत्म-समर्पण के बाद यह आशंका निरन्तर बनी हुई थी कि डच लोग पुनः इण्डोनेशिया पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयास करेंगे, अतः वहाँ की जनता अपने देश को साम्राज्यवादी पंजे से मुक्त करने के लिए संयुक्त रूप से कटिबद्ध हो गयी। और हुआ भी यही। डचों ने पुनः इसपर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा। मित्र-राष्ट्रीय सेनाओं का इण्डोनेशियाई क्षेत्र में डचों के सहायतार्थ प्रवेश हुआ, क्योंकि स्वयं डचों में (जर्मनी से मुक्त होने के पश्चात्) इण्डोनेशिया पर पुनः आधिपत्य स्थापित करने का सामर्थ्य नहीं था। परन्तु इण्डोनेशियाई जनता किसी भी साम्राज्यवादी शक्ति के सामने झुकने को तैयार नहीं थी, अतः मित्र-राष्ट्रीय ब्रिटिश सेनाओं और इण्डोनेशियाई युवकों के मध्य झड़पें होनी आरम्भ हो गयीं। दोनों के बीच संघर्ष में हजारों लोग मारे गये। दोनों पक्षों में समझौता कराने के प्रयास किये गये, परन्तु वे असफल रहे। सुरक्षा-परिषद् में भी इण्डोनेशियाई विवाद उपस्थित हुआ। यूक्रेन ने माँग की कि राष्ट्र-संघ द्वारा घटना की जाँच कराकर इण्डोनेशिया को विदेशी सेनाओं से मुक्त कराया जाय। यूक्रेन का प्रस्ताव राष्ट्रसंघ में पारित नहीं हो सका, अतः कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी। फिर भी राष्ट्रसंघ के अन्दर एवं बाहर समझौता-प्रयास चलते रहे। इण्डोनेशिया के उग्रवादी नेता किसी भी स्थिति में स्वाधीनता के सिवाय कोई भी बात करने को तैयार नहीं थे, जबकि डचों ने इण्डोनेशिया के नम्रवादियों को अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया तथा उन्हें (नम्रवादियों को) तीन स्वायत्त राज्यों (इण्डोनेशियाई गणतंत्र, महापूर्व तथा बोर्नियो का डच भाग) की

मिलाकर संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया (United States of Indonesia) की स्थापना करने के १५ नवम्बर, १९४६ के प्रस्ताव पर सहमत करा लिया। इससे उग्रवादियों का संघर्ष और भी अधिक तीव्र हो गया। उग्रवादियों के कठोर दृष्टिकोण के कारण सभी समझौता प्रयास[1] निष्फल हो गये। अन्त में फरवरी, १९४९ में इण्डोनेशिया की स्वाधीनता के लिए एक "गोलमेज सम्मेलन" आयोजित करने की घोषणा की गयी। यह सम्मेलन २३ अगस्त से लेकर २ नवम्बर, १९४९ तक हेग में चला। २ नवम्बर, १९४९ को एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये, जिसके अनुसार "संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया" को १६ राज्यों सहित नीदरलैण्ड्स की साझेदारी में एक ही संप्रभु की छत्रछाया में समान स्तर पर एक "सार्वभौम लोकतन्त्रात्मक गणराज्य" में परिणत करने का प्रयास किया गया। २७ दिसम्बर, १९४९ को नीदरलैण्ड्स सरकार ने इण्डोनेशिया को पूर्णरूपेण प्रभुसत्ता हस्तांतरित कर दी। २५ दिसम्बर, १९५० को इण्डोनेशिया संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया।

परन्तु "डच क्राउन" की छत्रछाया में बननेवाले इस "संघीय संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया" से वहाँ की जनता सन्तुष्ट न हो सकी। इण्डोनेशिया निवासी तो, विदेशी सत्ता से सब प्रकार से स्वतन्त्र, एक एकात्मक राज्य के निर्माण के इच्छुक थे, अतः उन्होंने इसके लिए पुन आन्दोलन छेड दिया। अन्त में १५ अगस्त, १९५० को १६ राज्यों के मूल संघ के स्थान पर एक एकात्मक "इण्डोनेशिया गणतन्त्र" (Republic of Indonesia) राज्य का निर्माण कर दिया गया। १० अगस्त, १९५४ को पारस्परिक सहमति से इण्डोनेशिया एवं नीदरलैण्ड्स के मध्य प्रस्तावित संघ को समाप्त कर दिया गया और दोनों देशों में सार्वभौम राज्योंवाले पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो गये।

उपर्युक्त सम्बन्धों की स्थापना के बाद भी पश्चिमी इरियन अथवा पश्चिमी न्यूगिनी को लेकर दोनों देशों के बीच विवाद चलता रहा। इण्डोनेशिया साम्राज्यवाद के इस अवशेष को भी मिटाने के लिए कटिबद्ध था, और यह स्वाभाविक ही था। इस विवाद को लेकर १९ नवम्बर, १९५७ को १९ अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ की महासभा में एक प्रस्ताव रखा, परन्तु दो तिहाई बहुमत के अभाव में वह गिर गया। इससे इण्डोनेशिया की जनता में तीव्र रोष फैल गया। नीदरलैण्ड्स

---

१. समझौता प्रयास सम्बन्धी विभिन्न योजनाओं एवं प्रस्तावों के बारे में, प्रस्तुत पुस्तक के अपने विशिष्ट उद्देश्य के सन्दर्भ में, यहाँ लिखना आवश्यक नहीं। इसके बारे में जानकारी किसी भी अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों पर लिखी गयी पुस्तक से प्राप्त की जा सकती है.

और इण्डोनेशियाई सरकार के सम्बन्ध पुनः बिगड़ने लगे और दोनों देशों में तनातनी पैदा हो गयी। स्थिति को बिगड़ते देख अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी और राष्ट्रसंघ के महासचिव ऊ थांट ने पश्चिमी इरियन की समस्या को सुलझाने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिये। इसके लिए एक अमरीकी कूटनीतिज्ञ श्री एल्सवर्थ बंकर ने एक योजना प्रस्तुत की, जिसके आधार पर नीदरलैण्ड्स और इण्डोनेशिया के बीच समझौता हो गया। १ अक्टूबर, १९६२ को पश्चिमी इरियन में डच शासन समाप्त कर दिया गया और उसे एक अस्थायी संयुक्त राष्ट्रीय अधिशासन (U.N. Temporary Executive Authority) के प्रशासन में रख दिया गया। बाद में पश्चिमी इरियन का नियन्त्रण इण्डोनेशिया ने सँभाल लिया और इस प्रकार इसे भी डच साम्राज्य से मुक्ति प्राप्त हो गयी।

डॉ० सुकार्णो तथा इण्डोनेशिया की आन्तरिक स्थिति :

१७ अगस्त, १९४५ को इण्डोनेशियाई जनता द्वारा राष्ट्रवादी नेता डॉ० सुकार्णो को "स्वतन्त्र इण्डोनेशियाई गणतन्त्र" की स्थापना की घोषणा करते हुए, राष्ट्रपति के पद पर आसीन कर दिया गया। उन्होंने अपने देश को डच शासकों के पंजे से पूर्णतः मुक्त करने के लिए बड़े साहस एवं दृढ़ता से कार्य किया। २७ दिसम्बर, १९४९ को नीदरलैण्ड्स सरकार ने इण्डोनेशिया को पूर्ण रूप से सत्ता हस्तांतरित कर दी, और १५ अगस्त, १९५० को "इण्डोनेशिया गणतन्त्र" की स्थापना कर दी गयी। डॉ० सुकार्णो राष्ट्रपति के पद पर आसीन रहे।

आरम्भ से ही डॉ० सुकार्णो का पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति दृष्टिकोण, उनकी साम्राज्यवादी नीति के कारण, जिसका शिकार उनका देश अनेक वर्षों तक बना रह चुका था, विरोधपूर्ण था। इसके विपरीत, साम्यवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण पर्याप्त उदार था। इण्डोनेशिया की आन्तरिक राजनीतिक स्थिति के अध्ययन से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। जिस समय इण्डोनेशिया विदेशी आधिपत्य से मुक्त हुआ तो वहाँ राजनीतिक दलों का बाहुल्य था। इसमें राष्ट्रवादी दल (PNI), साम्यवादी दल (PKI), मुसलमानों के दो संगठन—मुस्लिम संघ या मसजुमी (The Muslim Federation or the Masjume) तथा रूढ़िवादी इस्लाम—ये चार दल मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे। इस मिली जुली सरकार में निश्चय ही डॉ० सुकार्णो का झुकाव साम्यवादी दल की ओर था, जो अन्य दलों तथा देश की सेना को रुचिकर नहीं था। दलों की आपसी खींचातानी के कारण देश का प्रशासन ठीक ढंग से नहीं चल रहा था, जिससे स्वयं डॉ० सुकार्णो तथा देश की जनता सन्तुष्ट नहीं थी। अक्टूबर, १९५६ में राष्ट्रपति सुकार्णो ने देश के सभी राजनीतिक

दलो के प्रति स्पष्ट रूप से अपना विरोध प्रकट किया और कहा कि एशियाई देशो के लिए पाश्चात्य ढग का उदारवादी जनतन्त्र हानिकारक है। सरकार के गठन की (चार प्रमुख दलो को मिलाकर) योजना स्पष्ट नही थी, जिसका इण्डोनेशिया तथा उसके बाहर के द्वीपो मे पर्याप्त विरोध हुआ। सरकार की आर्थिक नीति से भी देश के अन्दर तथा उसके बाहर असन्तोष फैल रहा था। परिणामत पूर्वी इण्डोनेशिया, बोर्नियो, दक्षिणी सुमात्रा तथा अतजेह (Atjeh) मे विद्रोह हो गया तथा वहाँ के सैनिक अधिकारियो ने अपने अपने क्षेत्रो मे प्रशासन पर अधिकार कर लिया। १४ मार्च, १९५७ को सरकार अपदस्थ हो गयी। राष्ट्रपति सुकार्णो ने सम्पूर्ण देश मे सैनिक शासन लागू करते हुए डॉ० जुआण्डा (Dr Djuanda) को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। १९५८ के मध्य तक सभी स्थानो पर विद्रोह को पूरी तरह कुचल दिया गया, और सम्पूर्ण इण्डोनेशिया पर केन्द्रीय सरकार पुन. सत्ता स्थापित करने में सफल हो गयी।

इससे पूर्व, १९५७ मे, डॉ० सुकार्णो ने पश्चिमी ढग की उदारवादी संसदात्मक शासन प्रणाली को इण्डोनेशिया में पूर्णत असफल घोषित करते हुए, उसके स्थान पर वहाँ एक नवीन प्रकार के प्रजातन्त्र की स्थापना की जाने के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किये। इस नवीन प्रजातन्त्र को "संरक्षणात्मक लोकतन्त्र" ("Guided Democracy") की सज्ञा प्रदान की गयी। डॉ० सुकार्णो के अनुसार, "सरक्षणात्मक लोकतन्त्र" ५१ प्रतिशत के बहुमत पर आधारित न होकर, एक नायक के संरक्षण मे आगे बढनेवाला लोकतन्त्र था। इस नवीन लोकतन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त (राष्ट्रपति सुकार्णो के अनुसार) थे—विचार-विमर्श एव अनुकूलता (Deliberation and Consensus)। यद्यपि यह लोकतन्त्र सैनिक अधिनायकवाद का ही दूसरा नाम था।

१९५९ में राष्ट्रपति सुकार्णो ने, अपने राजनीतिक एवं सैनिक अधिकारियो से विचार-विमर्श करने के पश्चात्, देश मे "सरक्षणात्मक लोकतन्त्र" की स्थापना करने की दिशा मे प्रयास किये। इण्डोनेशिया के विभिन्न द्वीपों में राष्ट्रपति सुकार्णो के प्रशासन एवं नीतियो के विरुद्ध हुए १९५७-५८ के खुले विद्रोहो को सेना की तत्परता एवं कुशलता के कारण ही दबाया जा सका था, अत: देश में सेना के अधिकारियो की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव बहुत बढ गया था और राष्ट्रपति सुकार्णो द्वारा किसी भी योजना को उस समय कार्यान्वित करना सम्भव नही था जब तक कि उन्हें सैनिक अधिकारियो का पूर्ण सहयोग प्राप्त न हो। अत सैनिक अधिकारियो को विश्वास में लेकर ही राष्ट्रपति सुकार्णो "संरक्षणात्मक लोकतन्त्र" की स्थापना की दिशा मे आगे बढ़े। १९५५ मे हुए आम चुनावो के आधार पर गठित सविधान

सभा से, जो १९५०.के अस्थायी संविधान को बदलने के हेतु नवीन संविधान की रचना में संलग्न थी, राष्ट्रपति सुकार्णो ने अपील की कि वह, देश में बदली हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, पुनः १९४५ के संविधान को ग्रहण कर ले। परन्तु इण्डोनेशिया की संविधान-सभा ने राष्ट्रपति की इस अपील को अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप राष्ट्रपति सुकार्णो ने संविधान सभा को, ५ जुलाई, १९५९ को भंग कर दिया और एक आदेश द्वारा १९४५ के संविधान को पुनः ग्रहण कर लिया।

१९४५ का संविधान, १९५० के संविधान की तुलना में, कहीं अधिक लचीला था, जिसे सरलता से अध्यक्षात्मक संविधान के रूप में परिवर्तित किया जा सकता था। वास्तव में, वह संसदात्मक शासन-प्रणाली की अपेक्षा अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के लिए अधिक उपयुक्त था, क्योंकि उसमें (१९४५ के संविधान में) राष्ट्रपति की शक्ति के ऊपर कोई औपचारिक एवं नियमानुसार नियन्त्रण नहीं था। विवरणों के अभाव में संविधान की स्थिति अत्यन्त अनिश्चित थी, और उसे अपने अनुकूल कोई भी राष्ट्रपति अथवा कार्यकारिणी मोड़ सकती थी तथा उसका दुरुपयोग कर सकती थी। १९४५ के संविधान के ढांचे में (उसे १९५९ में पुनः ग्रहण कर लिये जाने के पश्चात्) विचार-विमर्श करने की दृष्टि से, विचार करने-वाली संस्थाओं का एक अन्य ढांचा तैयार किया गया। इसका उद्देश्य विचारों की अनुकूलता ग्रहण करना था। इस नवीन ढांचे में यद्यपि "जन विचार-सभा" (People's Deliberative Assembly) में प्रभुसत्ता निहित रखी गयी (जिसके सदस्यों की संख्या ६१६ रखी गयी तथा जिसकी बैठक प्रत्येक चार वर्षों में एक बार होना निश्चित किया गया), तथापि प्रायः सभी व्यावहारिक कार्यों की पूर्ति के हेतु एक "प्रमुख सलाहकार समिति" का गठन किया गया। इस "प्रमुख सलाहकार समिति" में ४५ सदस्य रखे गये। इससे संसद् की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गयी। नयी संसद् ("जन विचार-सभा") के निर्माण तक एक २८३ सदस्यों की अस्थायी संसद् बनायी गयी, जिसके १२९ सदस्य विभिन्न राजनीतिक दलों से लिये गये और शेष व्यावसायिक संगठनों के प्रतिनिधियों के रूप में रखे गये। ये दोनों ही सलाहकार समितियाँ ("प्रमुख सलाहकार समिति" तथा जन विचार-सभा", जिसके प्रति राष्ट्रपति उत्तरदायी होंगे) १९४५ के संविधान के अनुसार रखी गयी थीं। इनके निर्माण से कार्यकारिणी की शक्ति काफी कम हो गयी, क्योंकि नीति निर्धारण का कार्य ऊपर दी गयी सलाहकार समितियों को चला गया। १९६२ में कार्यकारिणी के चरित्र एवं उसके गठन में आमूल परिवर्तन कर दिये जाने से उसकी शक्ति तथा महत्त्व और भी अधिक घट गया। कार्यकारिणी की नियमित

बैठकों का होना बन्द कर दिया गया तथा महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रपति के पास चले गये। १९६३ तक आपातकालीन स्थिति भी समाप्त कर दी गयी, जिससे सैनिक नेताओं का महत्व भी कम हो गया। इस प्रकार १९६३ तक राष्ट्रपति सुकार्णो ने बडी कुशलता से प्रशासन को सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथो में ले ली। फिर भी राष्ट्रपति तानाशाह नही बन सका, क्योकि उसे राजनीतिक तथा सैनिक दबावो मे रहकर कार्य करना था तथा विरोधी शक्तियो मे सन्तुलन बनाये रखना था। इण्डोनेशिया की अनिश्चित एवं अस्थिर राजनीति मे सन्तुलन बनाये रखना दुर्लभ था। वहाँ की सेना और साम्यवादी दल एक दूसरे के विरोधी थे, और दोनो का ही प्रभाव प्रशासन एवं राष्ट्रपति डॉ० सुकार्णो पर बना हुआ था। पारस्परिक विरोधो के कारण इण्डोनेशिया का राजनीतिक जीवन (सरक्षणात्मक लोकतन्त्र की स्थापना के बाद भी) स्थिर न हो सका। साथ ही, देश की आर्थिक स्थिति पर भी नियन्त्रण नही किया जा सका और वह दिन प्रतिदिन गिरती गयी।

अत. कुछ तो राष्ट्रपति डॉ० सुकार्णो के तानाशाही रवैये के कारण और कुछ देश की आन्तरिक स्थिति के बिगड़ने से, देश मे विद्रोह पनपने लगा। १९६३ मे ही डॉ० सुकार्णो की हत्या के दो असफल प्रयत्न किये गये। देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ने से साम्यवादी दल का प्रभाव और अधिक बढ गया। (वहाँ का साम्यवादी दल बहुधा विद्यार्थियों को अपने साथ लेकर चला। विद्यार्थियो ने वहाँ की राजनीति मे सदैव ही सक्रिय भाग लिया है।) इसका पहले ही डॉ० सुकार्णो पर प्रबल प्रभाव था, और इसी कारण चीन एवं इण्डोनेशिया के सम्बन्ध निरन्तर बढते रहे। यह सब इण्डोनेशियाई सेना को असह्य था। ज्यों ज्यों देश के आर्थिक प्रश्न महत्वपूर्ण बनते गये त्यो त्यो इण्डोनेशियाई सेना और इण्डोनेशियाई साम्यवादी दल मे मतभेद बढता गया। १९६५ के मध्य तक स्थिति यह हो गयी कि साम्यवादी दल राष्ट्रपति सुकार्णो की आर्थिक नीति से पूर्ण रूप से असन्तुष्ट होकर उनके विरुद्ध विद्रोह करने की साजिश में जुट गया। ३० सितम्बर, १९६५ को साम्यवादियों द्वारा प्रेरित एक सैनिक विद्रोह हुआ, जिसमे सुरक्षा मंत्री जनरल नसूतियो और इण्डोनेशियाई सेना के अनेक उच्च अधिकारियों को कैद कर लिया गया तथा राष्ट्रपति सुकार्णो को "रक्षात्मक कैद" मे रख दिया गया। किन्तु इस सैनिक विद्रोह को सुकार्णो के प्रति वफादारी रखनेवाली सेना ने शीघ्र ही पूरी तरह कुचल दिया।

यद्यपि विद्रोह को दबा दिया गया, तथापि इससे साम्यवादी दल की शक्ति को विशेष हानि नही पहुँची। साम्यवादी दल की कार्यवाहियों से त्रस्त सुकार्णो ने इस घटना को भूल जाने की देशवासियों मे अपील की, किन्तु इण्डोनेशियाई सेना

साम्यवादियों से बदला लेने पर उतारू थी। इसके अतिरिक्त और भी अनेक राजनीतिक दल साम्यवादियों के विरोधी थे। अतः देश में साम्यवादियों और इन विरोधी शक्तियों में संघर्ष होने लगा। साम्यवादी दल को अवैध घोषित करने की सरकार से माँग की गयी। १८ अक्टूबर को इण्डोनेशियाई सेना ने साम्यवादी दल को अवैध घोषित करते हुए उसके कार्यालय एवं समाचारपत्र आदि पर अधिकार कर लिया। साम्यवादी दल के विरोधी आन्दोलन ने शीघ्र ही चीन विरोधी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया, क्योंकि लोगों का विचार था कि ३० सितम्बर के विद्रोह में चीन का हाथ था।

इस संघर्षपूर्ण आन्दोलन ने इण्डोनेशिया की राजनीति को पूर्ण रूप से अनिश्चित बना दिया। राष्ट्रपति डॉ० सुकार्णो पूरी तरह से साम्यवाद विरोधी शक्तिशाली सेना के प्रभाव में आ गये। देश में चीन-विरोधी आन्दोलन ने पिण्डी-पीकिंग-जकार्ता-धुरी (पाकिस्तान-चीन-इण्डोनेशिया-धुरी) का अन्त करके ही छोड़ा। १२ मार्च, १९६६ को ले० ज० सुहार्तो के नेतृत्व में सैनिक नेताओं ने राष्ट्रपति सुकार्णो से बातचीत करने के बाद शांतिपूर्ण ढंग से सत्ता अपने हाथ में ले ली। इसके पश्चात् जुलाई, १९६६ में राष्ट्रपति सुकार्णो को पूरी तरह उनके पद से हटा दिया गया और उनके स्थान पर ले० ज० सुहार्तो ने राष्ट्रपति का कार्यभार सँभाल लिया। इस प्रकार डॉ० सुकार्णो का शासनकाल समाप्त हो गया। आज इण्डोनेशिया के शासन की बागडोर जनरल सुहार्तो के हाथों में है तथा साम्यवादी दल अपनी लोकप्रियता खो बैठा है, फिर भी उसकी शक्ति पूर्णतः नष्ट नहीं हुई है। साम्यवादी दल से देश को अभी भी खतरा बना हुआ है।

खण्ड 'ङ'

पूर्वी एशिया

(EAST ASIA)

(*पूर्वी एशिया में जापान और चीन दो ही ऐसे देश हैं,* जो विश्व की राजनीति को प्रभावित करने में सक्षम कहे जा सकते हैं। वास्तव में, राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से केवल चीन को ही महत्व दिया जा सकता है। फिर भी हम, इस खण्ड के अन्तर्गत, दोनों देशों की राजनीतिक स्थिति पर विचार करेंगे।)

अध्याय १

जापान

जापान प्रशान्त सागर में स्थित एक द्वीपसमूह है, जिसमें चार बड़े तथा तीन हजार छोटे द्वीप सम्मिलित हैं। जापान का क्षेत्रफल लगभग एक लाख ३५ हजार वर्गमील और जनसंख्या अनुमानतः १० करोड़ से भी अधिक है।

जापान की महत्वाकांक्षा एवं उसका पुनर्निर्माण :

जापान ने उत्थान-पतन का इतिहास खूब पढ़ा है। १८५३ में सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के द्वार खटखटाये। विदेशी घुसपैठ ने जापान के इतिहास में सूर्योदय और जागरण के एक नवीन युग का सूत्रपात किया। शीघ्र ही जापान ने यह अनुभव कर लिया कि यदि पश्चिम के नवागन्तुकों का प्रभावशाली प्रतिरोध करना है तो पश्चिम के ज्ञान विज्ञान को सीखना होगा, अपने देश का पश्चिमीकरण करना होगा। फलतः १८६७ के बाद नवयुवक सम्राट् मुत्सुहितो के उत्साहपूर्ण और क्रियाशील नेतृत्व में जापान में नवीन सुधारों का सिलसिला जारी हुआ और जापान का बड़ी द्रुत गति से आधुनिकीकरण होने लगा। रेलों, मशीनों, जहाजों, कारखानों, बैंकों एवं आधुनिकतम शक्तिशाली सैन्य-बल के निर्माण का कार्यक्रम अपनाया गया। फ्रेन्च और जर्मन आदर्शों पर सम्पूर्ण कानूनपद्धति का पुनर्निर्माण हुआ। १८७१ में सामन्तवाद की समाप्ति की घोषणा की गयी। १८८९ में एशिया के नमूने का एक नवीन संविधान बनाया गया।

जापान ने अपने "पश्चिमीकरण" के कार्यक्रम में असाधारण तीव्र गति से सफलता प्राप्त की। अपनी नवीन शक्ति और नवीन आकांक्षाओं का पहला प्रयोग उसने चीन पर किया। १८९४ में उसने कोरिया पर, जो चीन का एक (जापान के तट के सामने) वशवर्ती राज्य (Vassal State) था, आक्रमण कर दिया, जिसके फलस्वरूप १८९५ में शिमोनोसेकी की सन्धि के अनुसार चीन को कोरिया की

स्वतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी, फॉरमोसा और पेसकाडोर के द्वीप तथा पोर्ट आर्थर के बन्दरगाह सहित मन्चूरिया का लियाओतुंग प्रायःद्वीप जापान को दे देने पड़े। १९०४ में जापान और रूस में भीषण युद्ध हुआ। युद्ध का अन्त ५ सितम्बर, १९०५ को "पोर्ट्समाउथ की सन्धि" द्वारा हुआ, जिसके अन्तर्गत रूस ने कोरिया में जापान के विशेष हितों को स्वीकार किया, पोर्ट आर्थर सहित लियाओतुंग प्राय-द्वीप का पट्टा जापान को हस्तान्तरित कर दिया, सखालिन द्वीप का दक्षिणी भाग जापान को दे दिया और मन्चूरिया से अपनी फौजें हटा लेने का वचन दिया। १९१२ में सम्राट् मुत्सुहितो की मृत्यु हो गयी।

जापान में राजनीतिक दृष्टि से भी सम्राट् मुत्सुहितो तथा बाद में हिरोहितो और सम्राट् शोवा के शासन-काल में (सम्राट् शोवा १९२६ में सिंहासनारूढ़हुए) पर्याप्त प्रगति हुई। इनकी दूरदर्शिता एवं प्रगतिवादी नीतियों के कारण इनका जनता के साथ सम्पर्क बढ़ा तथा जापान धीरे धीरे लोकतन्त्र शासन के पथ पर अग्रसर हुआ। वहाँ राजनीतिक दल भी संगठित हुए। इस प्रकार वहाँ राजतन्त्र के साथ साथ लोकतन्त्रवादी प्रवृत्तियाँ भी विकसित हुईं। परन्तु इससे जापान की साम्राज्यवादी नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया।

प्रथम महायुद्ध में जापान ने, अपनी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने की दृष्टि से, ब्रिटेन के साथ अपनी मैत्री का प्रदर्शन किया तथा सुदूर-पूर्व में जर्मन प्रभाव का अन्त करने के उद्देश्य से २३ अगस्त, १९१४ को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। १८ जनवरी, १९१५ को जापानी राजदूत ने पीकिंग में चीनी राष्ट्रपति यूआन (Yuan) के सामने "कुख्यात २१ माँगें" प्रस्तुत कीं। इन माँगों का उद्देश्य यह था कि जब तक यूरोप के राष्ट्र युद्ध में लीन हैं तब तक वह चीन में अपना स्थान दृढ़ कर ले। यदि ये माँगें मान ली जातीं तो चीन जापान का एक संरक्षित देश बन जाता। परन्तु यूरोपियन राष्ट्रों एवं अमेरिका के तीव्र विरोध के कारण ये माँगें स्वीकृत न हो सकीं। फिर भी जापान ने युद्ध की धमकी देकर चीन से २५ मई, १९१५ को दो संधियों पर हस्ताक्षर करा ही लिए, जिनमें जापान को दक्षिणी मन्चूरिया और आन्तरिक मंगोलिया में अनेक सुविधाएँ देने की व्यवस्था थी। महायुद्ध की समाप्ति पर, पेरिस में जो शान्ति सम्मेलन हुआ उसमें भी जापान ने प्रशान्त महासागर में जर्मन द्वीप-समूहों तथा शाण्टुंग प्रान्त सम्बन्धी कुछ अपने दावे प्रस्तुत किये, जिनका तीव्र विरोध किया गया। परन्तु अन्त में शाण्टुंग पर जापान का दावा स्वीकार कर ही लिया गया।

जापान की साम्राज्यवादी पिपासा शान्त होनेवाली नहीं थी। "लीग ऑफ नेशन्स" के सारे उद्देश्यों की अवहेलना करते हुए जापान ने जनवरी, १९३२ में

मन्चूरिया पर अधिकार कर लिया। जापान के इस कृत्य की सारे विश्व में निन्दा की गयी, परन्तु इसका जापान पर कोई प्रभाव नही पड़ा। "लीग ऑफ नेशन्स" की निन्दा के विरोध में जापान ने २७ मार्च, १९३३ को उसकी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। १ सितम्बर, १९३९ को द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। जापान की मित्रता उसके समान ही सैनिकवादी मनोवृत्ति के राष्ट्रों से हो सकती थी, अत द्वितीय महायुद्ध उसने जर्मनी और इटली के साथ मिलकर लड़ा। ये राष्ट्र धुरी राष्ट्र (Axis Powers) कहलाये। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ में जापान ने चारो ओर अपनी विजय की धूम मचा दी और कुछ समय तक के लिए प्रशान्त तथा हिन्द महासागर पर जापानी नौ सेना का प्रभुत्व छा गया। किन्तु १९४२ से ही धुरी राष्ट्रों का सितारा मन्द पड़ने लगा और अन्त में १९४५ में अणुबमों की प्रलयंकारी शक्ति के सामने जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया।

१९४५ से लेकर १९५२ तक जापान पर, व्यावहारिक रूप में, अमेरिका का नियन्त्रण रहा, किन्तु वास्तव में, वैधानिक दृष्टि से वह अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण में था। दिसम्बर, १९४५ में मॉस्को में "जापान के लिए एक सयुक्त परिषद्" (Allied Council for Japan) की रचना की गयी, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और चीन के प्रतिनिधियों को रखा गया और इसकी अध्यक्षता जनरल मैकआर्थर को सौंपी गयी। १९४५ से १९४७ के मध्य जनरल मैकआर्थर ने जापानी सरकार को लगभग एक हजार निर्देश दिये। जापान की सैनिक क्षमता सख्ती से नष्ट कर दी गयी और उसके जीवन-स्तर को न्यूनतम बना दिया। उसके विभिन्न महत्वपूर्ण उद्योगों को भी पूर्णतया नष्ट कर दिया गया और अनेक विभिन्न कारखानों की संख्या अत्यधिक कम कर दी गयी। अमेरिकन सेनाओ के आधिपत्य-काल में ही जापानी सम्राट् हिरोहितो (अपने वंशक्रम में १२४वें सम्राट्) की निरकुश सत्ता समाप्त हो गयी और ३ मई, १९४७ को जापान ने एक नवीन सविधान स्वीकार कर लिया, जिसके अनुसार संसद् के प्रति उत्तरदायी जनप्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना की गयी तथा राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध का सदैव के लिए परित्याग कर दिया गया।

जापान के सैनिक, आर्थिक एवं औद्योगिक पतन से वहाँ विकट समस्याएँ उत्पन्न हो गयी। एक ओर अमेरिका को जापान के लिए खाद्य सामग्री जुटानी पड़ती थी, और दूसरी ओर उद्योगों के अत्यधिक पतन से पूर्वी एशियाई बाजारों पर रूस तथा साम्यवाद का प्रभाव होने का खतरा पैदा हो गया। अत. अमेरिका ने जापान के पुनरुत्थान के प्रयास पुन. आरम्भ कर दिये। सर्वप्रथम एक "नौ सूत्री आर्थिक स्थिरता कार्यक्रम" अपनाया गया। १९४९ से जापान का शस्त्रीकरण पुन आरम्भ

हुआ और अगले कुछ ही वर्षों में वह आधुनिक युद्धकला से सज्जित राष्ट्र बन गया। २८ अप्रैल, १९५२ को एक शान्ति-सन्धि के द्वारा जापान पुनः स्वाधीन हो गया। १८ दिसम्बर, १९५६ को वह संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। १९ जनवरी, १९६० को अमेरिका और जापान के बीच एक दस वर्षीय समझौता सम्पन्न हुआ, जिसके अन्तर्गत अमेरिका ने जापान की सुरक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया।

अमेरिका की परमाणु छतरी जापान के लिए यद्यपि एक वरदान सिद्ध हुई है, तथापि जापान के वर्तमान प्रशासन की इच्छा यही है कि धीरे धीरे जापान पर-निर्भरता से मुक्त हो जाय। जापान अब सभी दृष्टियों से उन्नत हो चुका है। द्वितीय महायुद्ध के मध्य नष्ट भ्रष्ट जापान आज अमेरिका और सोवियत संघ के बाद बड़ी ताकतों में नाम लिखाने का हकदार बन चुका है। जापान की इस उन्नति का श्रेय बहुत कुछ अमेरिका को है, तथापि जापान की जनता में अभी भी अमेरिका के प्रति असन्तोष बना हुआ है। जापान के जन-साधारण के मन में कुछ बातें निरन्तर खटकती रहती हैं, जैसे जापान की भूमि पर अमेरिका द्वारा अणुबम गिराया जाना, जापानी भूमि पर अमेरिका के सैनिक अड्डे रहना, अमेरिका द्वारा जापान को निःशस्त्रीकरण और विसैन्यीकरण के लिए विवश किया जाना तथा जापान से सैनिक प्रशासन के मूल्य के रूप में करोड़ों डालर की राशि माँगना आदि। जापान के राजनीतिक दल इस बात के विरुद्ध हैं कि अमेरिका का प्रभाव अब और अधिक समय तक जापान पर बना रहे। स्वयं अमेरिका भी इस बात से परिचित है।

जापान का राजनीतिक चिन्तन :

जैसा पीछे बताया गया है, अप्रैल, १९५२ में जापान पर से अमेरिका का नियन्त्रण समाप्त होने के कुछ ही वर्षों में वहाँ की (जापान की) आर्थिक स्थिति आशा से कहीं अधिक सुदृढ़ हो गयी। यद्यपि इसका बहुत कुछ श्रेय अमेरिका को दिया जाता है, तथापि इसका मुख्य कारण वहाँ की जनता का अपने देश की प्रगति में विश्वास तथा उसके लिए दृढ़ता से उसमें कार्य करने की क्षमता है।

पिछले पन्द्रह या बीस वर्षों में जापान में जो परिवर्तन दिखायी देते हैं, वे केवल भौतिक विकास तक ही सीमित नहीं हैं, प्रत्युत मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी वहाँ बहुत परिवर्तन हुआ है। शताब्दियों तक जापान में सम्राटों का निरंकुश शासन रहा तथा वहाँ की जनता अपने सम्राटों को, देवताओं की भाँति, आदर की दृष्टि से देखती रही। परन्तु १९४७ में नवीन संविधान के अन्तर्गत सम्राट् की निरंकुश सत्ता को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर उत्तरदायी जनप्रतिनि-

ध्यात्मक सरकार की स्थापना हुई। इसे जापान के राजनीतिक जीवन में एक क्रान्तिकारी घटना कहा जायगा। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि उत्तरदायी शासन की स्थापना के बाद कुछ ही वर्षों में वहाँ की राजनीति में वामपंथी विचारधारा का प्रादुर्भाव दिखायी देने लगा। राजतन्त्र में रहनेवाली जनता में, एक दशक से भी कम समय में ही, वामपंथी विचारधारा का पनपना वास्तव में आश्चर्यजनक ही माना जायगा। इस बौद्धिक अथवा वैचारिक परिवर्तन के पीछे कुछ ठोस आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ रही हैं, जिनके बारे में पिछले पृष्ठों में संकेत किया जा चुका है, फिर भी उससे इस बात का बोध होता है कि जापान की जनता जितनी दृढ़प्रतिज्ञ एवं कर्मठ है उतना जागरूक एवं स्थिर वहाँ का बौद्धिक वर्ग नहीं, भले ही उसे परिवर्तनशील कह लिया जाय। १९५३ के बाद, जापान के बौद्धिक जगत् में वामपंथी विचारकों का प्राधान्य एवं प्रभाव दिखायी देने लगा। १९६० में जापान और अमेरिका के बीच जो प्रतिरक्षा समझौता हुआ, उसके विरुद्ध जापान में हुए प्रदर्शनों से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि जापान के वैचारिक जगत् पर उस समय वामपंथी विचारधारा का प्रबल प्रभाव था।

साधारणतः १९५३ और १९६० के बीच जापान में जितनी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं, उनमें अधिकांश लेख विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों द्वारा लिखे गये तथा उनमें फासिस्टवाद, अमेरिका और जापान के अमेरिका द्वारा पुनः सैन्यीकरण किये जाने के विरुद्ध ही अधिक भावनाएँ व्यक्त की गयी। जिस बौद्धिक वर्ग ने, द्वितीय महायुद्ध के मध्य, जापान के तानाशाही एवं साम्राज्यवादी युद्ध-प्रयासों का समर्थन किया, उसी ने जापान पर (उसकी पराजय के पश्चात्) अधिकारी अथवा नियंत्रण रखनेवाली शक्तियों (Occupation Authorities) के साथ मिलकर उनकी नीतियों को कार्यान्वित कराने में, सहयोग किया। साम्राज्यवादी राजतंत्र की नीतियों का समर्थक जापान का बौद्धिक वर्ग कुछ ही समय में उत्तरदायी शासन एवं प्रजातंत्र का समर्थक दिखायी देने लगा। जिस बौद्धिक वर्ग को युद्ध से पूर्व तथा विशेषकर युद्ध के मध्य स्वतन्त्रतापूर्वक विचार व्यक्त करने की आजादी नहीं थी, उसके लिए ऐसी शासन-पद्धति अथवा अधिकारी शक्तियों के साथ, जो उनके देश में नवीन उत्तरदायी शासन-व्यवस्था के लिए तथा एक नवीन जापान के निर्माण के लिए प्रयत्नशील हों, सहयोग करना कोई आश्चर्य की बात नहीं। नवीन जापान के निर्माण की कल्पना में वे राजतंत्र के प्रति अपनी श्रद्धा को भूल गये तथा जापान पर नियन्त्रण रखनेवाली शक्तियों के प्रयासों की सराहना करने लगे। जापान के साम्यवादी दल ने भी नियन्त्रण करनेवाली शक्तियों (अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और चीन) के प्रतिनिधियों को मिलाकर, १९४५ में मास्को में बनायी गयी "संयुक्त

परिषद्" (Allied Council for Japan) का समर्थन किया—संभवतः उनमें साम्यवादी रूस के सम्मिलित होने के कारण।

जापान में जो प्रजातंत्र आया, उसके लिए वहाँ की जनता ने स्वयं कोई प्रयास नहीं किया। जापान में प्रजातंत्र नियन्त्रण करनेवाली शक्तियों द्वारा लाया गया, जिसे वहाँ की जनता, पहले कुछ वर्षों में, ठीक से समझ न सकी। साधारण जापानी उन सभी वस्तुओं को जिसे वह बुरा समझता था सैन्य प्रवृत्ति का, और जिसे वह अच्छा समझता था प्रजातन्त्रात्मक मानता था। यही बात बहुत कुछ वहाँ के बौद्धिक वर्ग के लिए कही जा सकती है। यद्यपि जापान के बौद्धिक वर्ग और वहाँ के साम्यवादियों में अनेक मौलिक प्रश्नों पर मतभेद था, परन्तु फिर भी वे विगत जापान की शासन-व्यवस्था तथा युद्धोन्मुख राजतन्त्र की भर्त्सना करने में एकमत थे। क्योंकि वहाँ के बौद्धिक वर्ग को भी यह पूर्ण ज्ञान नहीं था कि १९४७ में ग्रहण किया गया प्रजातंत्रात्मक संविधान साम्यवादी विचारधारा के साथ मेल नहीं खा सकता, अतः उसने नवीन संविधान के साथ साथ साम्यवादियों के साथ मिलकर बननेवाली संयुक्त सरकार की भी सराहना की।

परन्तु १९५० में कोरिया युद्ध प्रारम्भ होने पर, अमरीकी नियन्त्रण अधिकारियों की नीति में जैसे ही परिवर्तन हुआ और उन्होंने जापान का पुनः सैन्यीकरण करने की दिशा में प्रयास करने आरम्भ किये, वैसे ही जापान के साम्यवादी दल तथा सरकार के विपक्षी दलों ने नियन्त्रण अधिकारियों तथा उनके संरक्षण में कार्य करनेवाली जापान की सरकार की कटु आलोचना करनी आरम्भ कर दी। अमेरिका की जापान में प्रजातन्त्र के संस्थापक के रूप में प्रतिष्ठा गिरने लगी।

१९५३ से १९६३ के बीच जापान के बौद्धिक वर्ग न विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों के साथ साथ पत्रकार, साहित्यिक आलोचक तथा युवावर्ग के लोग भी सम्मिलित हो गये। इन सबने मिलकर मार्क्स-लेनिन की साम्यवादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में लिखना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार जापान में वामपंथी विचारधारा की हवा बहने लगी। अक्टूबर, १९५३ में "सेकाई" (*Sekai*) मासिक पत्र में कुछ लेख प्रकाशित हुए, जिनमें जापान की, उसके फासिस्टवाद की ओर उन्मुख होने के बारे में, कटु आलोचना की गयी। जापान की सरकार और अमेरिका की आलोचना करते हुए अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी लेख प्रकाशित हुए। लेकिन यह साम्यवादी विचारधारा भी जापान में अधिक समय तक नहीं टिक सकी।

१९६३ के बाद पुनः जापान के बौद्धिक वर्ग के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ, और उसने विशाल दृष्टि से सभी समस्याओं पर विचार करना आरम्भ कर दिया। एक बार पुनः जापान के बौद्धिक जगत् में विचारों की नयी हवा बहने लगी।

जैसे जैसे जापान की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती गयी, वैसे वैसे वामपंथी विचारधारा के प्रति आकर्षण हटता गया और कुछ ही समय में जापान का बुद्धिजीवी पूर्ण विचार-स्वातन्त्र्य (Let the hundred flowers bloom) के पक्ष में अपने विचार प्रकट करने लगा। १९६३ के बाद प्रकाशित होनेवाले साहित्य में हमें मार्क्स-लेनिन की विचारधारा के दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन के स्थान पर वैचारिक स्वतन्त्रता के दर्शन होते हैं।

स्टालिन के जीवित रहते समय सोवियत विज्ञान अकादमी द्वारा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर एक पुस्तक (Principles of Economics) प्रकाशित की गयी, जिसमें मार्क्स-लेनिन के विचारों के संदर्भ में, पूँजीवाद की रूढ़िवादी व्याख्या करते हुए बताया गया कि श्रमिक वर्ग की बढ़ती हुई दरिद्रता एवं संख्या के कारण पूँजीवाद शीघ्र एवं अनिवार्यतः नष्ट हो जायगा। ऐसा माना जाता है कि जापान में इस पुस्तक की (जापानी अनुवाद में) लगभग सात लाख प्रतियाँ बिकीं। परन्तु इस पुस्तक में साम्यवादियों द्वारा जो तर्क प्रस्तुत किये गये, उनके विपरीत जापान की अर्थ-व्यवस्था तीव्र गति से प्रगति करती गयी और वहाँ के सामान्य श्रमिक का स्तर निरन्तर आगे बढ़ता गया। इसका प्रभाव यह हुआ कि इस पुस्तक तथा अन्य उन सभी पुस्तकों पर, जिनकी मार्क्स के रूढ़िवादी विचारों अथवा सिद्धान्तों के आधार पर रचना की गयी, सन्देह किया जाने लगा, और जापान की जनता का साम्यवाद के प्रति आकर्षण घटने लगा। बाद में १९५६ में ख्रुश्चेव द्वारा स्टालिन की (उनकी मृत्यु के पश्चात्) भर्त्सना की जाने तथा उसी वर्ष हंगरी में हुए विद्रोह ने भी जापान के वामपंथी विचारकों एवं बुद्धिजीवियों के मन पर गहरा आघात किया। अभी तक उनका विश्वास था कि स्टालिन और सोवियत संघ कभी गलती नहीं करते (They are infallible), परन्तु इन घटनाओं ने उनकी धारणा को गलत सिद्ध कर दिया। परिणामतः १९६० में कुछ जापानी समाचारपत्रों में, चीन और सोवियत संघ के बीच उठे सीमा-विवाद पर, स्वतन्त्रता पूर्वक, सोवियत संघ के विरुद्ध, विचार प्रकट करते हुए कुछ लेख प्रकाशित हुए। इसके दो वर्ष बाद, १९६२ में, भारत-चीन सीमा-विवाद एवं संघर्ष ने जापान के बुद्धिजीवियों को साम्यवाद के मोहजाल से पूर्णतः मुक्त कर दिया। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, १९६२-६३ के बाद तो जापान के अधिकांश बुद्धिजीवियों ने सभी विषयों एवं समस्याओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट किये तथा वे विचार स्वातन्त्र्य के पूर्ण समर्थक बन गये।

अभी पिछले कुछ वर्षों में जापान में एक नवीन राष्ट्रवादी विचारधारा पनपी है। वहाँ के अधिकांश विचारकों ने विदेशी विचारधाराओं का मोह त्याग कर

अध्याय २

चीन

१९वीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धशतक तक चीन सभी पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रभाव से बचा रहा और "रमणीय एकान्तवास" का आनन्द लेता रहा। लेकिन अपने को सभ्य एवं प्रगतिशील कहनेवाले यूरोप के राष्ट्रों ने, अपनी शक्ति के बल पर, चीन के विशाल एवं व्यापक समुद्री तट के द्वार खोलकर ही विश्राम लिया। १८४०–४२ के "अफीम युद्ध" द्वारा सर्वप्रथम ब्रिटेन ने चीन को अपने द्वार खोलने पर विवश किया। तत्पश्चात् फ्रान्स, रूस और अमेरिका आदि पश्चिमी राष्ट्रों ने उसमें घुसपैठ करनी आरम्भ कर दी। परन्तु इस विदेशी घुसपैठ के बाद भी चीन अपनी मोहनिद्रा से नहीं जगा और अपने प्राचीन सामन्तवादी ढाँचे से ही चिपका रहा। परिणामत: यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों ने उसका इतना अधिक आर्थिक शोषण किया कि १८९८ तक उन्होंने उसे अपने अपने "प्रभाव-क्षेत्रों" में बाँटकर अर्द्ध-परतन्त्रता की स्थिति में पहुँचा दिया। जापान तक ने, जो स्वयं चीन की भाँति पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों का—विशेषकर अमेरिका का शिकार हो चुका था, चीन में अपना प्रभाव-क्षेत्र (१८९८ तक) स्थापित कर लिया था। चीन की केन्द्रीय सरकार का अस्तित्व नाम मात्र को रह गया था।

चीन में राष्ट्रीय आन्दोलन एवं साम्यवाद :

१८९४ में डॉ० सन यात सेन ने चीन में एक राष्ट्रीय दल "चाइना रिवाइवल सोसाइटी" ("China Revival Society") की स्थापना की, जिसने चीन पर विदेशियों द्वारा थोपी गयी सन्धियों के विरुद्ध आवाज उठायी। धीरे धीरे इस दल की सदस्य संख्या एवं इसकी शक्ति में वृद्धि होती गयी। १९११ में इसका नाम बदलकर कुओमिन्ताङ्ग (Kuo-Min-Tang)—जनता का राष्ट्रीय दल (People's National Party) रख दिया गया। शीघ्र ही यह दल चीनी आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र बन गया। चीनी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवर्तक डॉ० सन

यात सेन अपने देश में, अमेरिका के ढंग पर, संवैधानिक राजतन्त्र की बजाय गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। चीन में शताब्दियों से मन्चु राजवंश का शासन था, जिससे वहाँ की जनता दुःखी थी। जनता में मन्चु-विरोधी भावनाएँ धीरे धीरे बढ़ती गयीं और इससे राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने लक्ष्य की ओर गतिमान होने में बहुत सहायता मिली। १९०८ में महारानी डोवेजर (Dowager Empress) तथा उसके भतीजे मन्चु शाह, जिसे हटाकर महारानी ने शासन अपने अधिकार में कर लिया था, की नवम्बर मास में अचानक मृत्यु हो गयी। अतः मन्चु राजवंश के एक बच्चे को नाम मात्र का शाह बना दिया गया।

१९०८ के पश्चात् देश की संसद् को बुलाने की माँग के साथ साथ मन्चु-विरोधी एवं राजतन्त्र-विरोधी भावनाएँ भी तीव्रतर हो गयीं। अक्टूबर, १९११ में, चीन की यान्गत्से घाटी में, मन्चु राजवंश के विरुद्ध विद्रोह भड़क उठा और शीघ्र ही वह मध्य एवं दक्षिणी चीन में फैल गया। १९१२ में नये साल के दिन, विद्रोही प्रान्तों में गणतन्त्र राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी गयी। नानकिंग को इस गणतन्त्र राज्य की राजधानी बनाया गया तथा डॉ० सन यात सेन को इसका अध्यक्ष चुना गया। १२ फरवरी, १९१२ को सिंहासन-त्याग की राज्य-घोषणा (Edict of Abdication) की गयी और इस प्रकार लगभग २५० वर्ष राज्य करने के पश्चात् मन्चु राजवंश चीन से समाप्त हो गया।

यद्यपि चीन से मन्चु राजवंश विदा हो गया, तथापि नवनिर्मित गणतन्त्र का भविष्य सुरक्षित नहीं था। उसके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा था युआन शी-काई (Yuan Shih-kai), जो मन्चु शासनकाल में एक प्रान्त का वाइसरॉय था तथा जिसे मन्चु राजवंश के अन्तिम नाबालिग राजा की ओर से शासन करनेवाले रीजेन्ट ने अपदस्थ कर दिया था। युआन बहुत ही चालाक व्यक्ति था तथा सम्भवतः उसके पास चीन में सर्वश्रेष्ठ सेना थी। मन्चु राजवंश के विरुद्ध विद्रोह के समय युआन ही एक ऐसा व्यक्ति था जो मन्चु राजाओं की सहायता कर सकता था, परन्तु उसे अपदस्थ कर दिया गया था, अतः समय पर उसका सहयोग (मन्चु राजाओं को) प्राप्त न हो सका। बाद में मन्चुओं की प्रार्थना पर वह उनकी सहायता के लिए आया, पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी और राष्ट्रीय क्रान्ति सफल हो चुकी थी। फिर भी नवनिर्मित गणतन्त्र के लिए वह सबसे बड़ा खतरा बना हुआ था। कोई नहीं जानता था कि वह कब क्या कर बैठे। युआन ने शीघ्र ही चीन पर अपना अधिकार कर लिया। डॉ० सन यात सेन ने चीन को गृह-युद्ध एवं विभाजन से बचने की दृष्टि से अपने पद का त्याग कर दिया और युआन को गणतन्त्र का अध्यक्ष बना दिया। परन्तु युआन का गणतन्त्र में विश्वास ही नहीं

था। वह तो चीन का शासक बनने का स्वप्न देख रहा था। अत. उसने संसद् को अपदस्थ कर दिया तथा कुओमिन्ताङ्ग को भंग कर दिया। अन्ततः चीन का विभाजन हो ही गया, जिसे डॉ० सन यात सेन टालना चाहते थे। डॉ० सेन ने दक्षिणी चीन में सरकार की स्थापना कर ली। युआन का चीन का शाह बनने का स्वप्न पूरा न हो सका और उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गयी। प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने के समय चीन मे दो सरकारें (एक दूसरे की विरोधी) थी।

प्रथम महायुद्ध के समय जापान ने चीन के शान्टुग प्रान्त पर अधिकार कर लिया तथा अपनी २१ "कुख्यात मांगो" में से कुछ को (दो सन्धियो द्वारा) दबाव डालकर चीन से स्वीकार करा लिया। १९१९ मे पेरिस में होनेवाले शान्ति-सम्मेलन में चीन को उसके शान्टुग प्रान्त को जापान से वापस दिलाने तथा जापान द्वारा उसपर लादी गयी सन्धियो को रद्द कराने की दिशा में कोई कार्यवाही नही की जा सकी, जिससे चीन मे जापान के विरुद्ध तीव्र विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसके दो वर्ष बाद, १९२१ में, वाशिंगटन सम्मेलन मे यद्यपि किसी प्रकार शान्टुग प्रान्त को चीन को वापस दिलाने की बात स्वीकार कर ली गयी और १९२२ मे जापान ने उसे खाली भी कर दिया, तथा चीन की सीमाओ की अखण्डता का आदर करने की (चार शक्तियों में समझौते द्वारा) बात कही गयी, फिर भी पाश्चात्य शक्तियाँ चीन की सार्वभौमिकता की रक्षा करने की अपेक्षा अपने व्यापारिक हितों को बनाये रखने की ओर अधिक उत्सुक थी।

इन घटनाओं के मध्य, चीन के उत्तरी एव दक्षिणी भागो के बीच धीरे धीरे संघर्ष चलता रहा, परन्तु १९२१ के बाद से रूस के सहयोग के कारण, चीन मे राष्ट्रवादी आन्दोलन का विस्तार होना आरम्भ हुआ। १९१७ में हुई रूसी क्रान्ति के प्रति चीन में पर्याप्त सहानुभूति थी, और इसी कारण दोनो देश एक दूसरे के समीप आने की दिशा मे प्रयत्न करने लगे। पाश्चात्य शक्तियो ने चीनी राष्ट्रवादी नेता डॉ० सन यात सेन और उसके दल कुओमिन्ताङ्ग दल की, सभी महत्वपूर्ण समस्याओ पर विचार करते समय, पूर्ण उपेक्षा की थी और उनके स्थान पर चीन के युद्ध-नेताओं को महत्व प्रदान किया गया था, जबकि सोवियत रूस ने राष्ट्रवादियो को आगे बढ़ाना अधिक उचित समझा था। अत. यह स्वाभाविक ही था कि चीनी राष्ट्रवादी रूस की ओर आकर्षित होते।

१९२४ मे रूसी विशेषज्ञ बोरोदिन (Borodin, Michael) राष्ट्रवादी कुओमिन्ताङ्ग सरकार के परामर्शदाता के रूप में चीन भेजे गये। इसके बाद लगभग चार वर्ष तक रूसी-चीनी सहयोग बराबर चलता रहा। कुओमिन्ताङ्ग दल का बहुत कुछ रूस के साम्यवादी दल के नमूने पर गठन किया गया। साथ ही

चीनी सेना का भी पुनर्गठन किया गया। कुओमिन्ताङ्ग दल ने साम्यवादियों को व्यक्तिगत रूप से अपने दल का सदस्य होने तथा दल के पद पर चुने जाने की अनुमति प्रदान कर दी। साथ ही साम्यवादी दल ने अपना पृथक् अस्तित्व भी बनाये रखा। किन्तु दोनों दलों की यह मित्रता ऊपरी थी। कुओमिन्ताङ्ग दल के प्रतिक्रियावादी अथवा अनुदारवादी सदस्य साम्यवादी दल के उग्रवादियों को संदेह से देखते थे। स्वयं डॉ० सन यात सेन भी परिमित रूप में समाजवादी थे, यद्यपि सोवियत रूस से वे बहुत अधिक प्रभावित थे तथा उसके प्रति आदर का भाव रखते थे। साम्यवादी दल के उग्रवादियों को वे भी शंका की दृष्टि से देखते थे। मार्च, १९२५ में डॉ० सन यात सेन की मृत्यु के पश्चात् यह पारस्परिक संदेह एवं विरोध उग्र हो उठा। फिर भी डॉ० सेन के उत्तराधिकारी च्यांग काइ शेक ने रूस के सहयोग से १९२८ तक सारे चीन में एक शासन-सत्ता स्थापित कर ली, सम्पूर्ण देश की राजधानी नानकिंग को घोषित कर दिया गया तथा पीकिंग (उत्तरी चीन की राजधानी) के पुराने शासन को समाप्त कर उसका नाम पीपिंग (Peping) रख दिया गया।

यद्यपि पीकिंग के शासन का अन्त हो गया और देश में एक शासन-सत्ता स्थापित कर दी गयी, तथापि चीन के विभिन्न भागों में गृहयुद्ध चलता रहा। कैन्टन में (दक्षिण में स्थित) एक पृथक् सरकार कार्य कर ही रही थी। उत्तर में विभिन्न युद्ध-स्वामियों (War Lords or *tuchuns* and Super-*tuchuns*) में आपसी संघर्ष बन्द न हो सके तथा वे अपने इच्छानुसार कार्य करते रहे। सैद्धान्तिक रूप में, केवल कैन्टन को छोड़कर, सारे चीन में नानकिंग सरकार का शासन था, परन्तु वास्तविकता इससे कुछ भिन्न थी। चीन में कुछ ऐसे भाग थे, जो वास्तव में नानकिंग सरकार के नियन्त्रण से परे थे। अन्तःस्थ चीन (Interior China) के एक बड़े भाग में साम्यवादी शासन की स्थापना हो गयी थी। इस प्रकार देश की आन्तरिक राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। देश का आर्थिक ढाँचा भी छिन्न भिन्न हो रहा था, जिससे वहाँ की जनता में सर्वत्र असन्तोष बढ़ रहा था तथा इससे साम्यवादियों की शक्ति बढ़ रही थी।

चीन की राष्ट्रवादी कुओमिन्ताङ्ग सरकार (नानकिंग सरकार) सैनिकवाद की दिशा में जा रही थी। उसके साम्यवादियों के साथ मतभेद तीव्र होते गये तथा रूस के प्रति उसका व्यवहार अमैत्रीपूर्ण कठोरता का हो गया। इस बात का आभास बहुत पहले से ही हो चुका था कि राष्ट्रवादी कुओमिन्ताङ्ग सरकार (जिसके अध्यक्ष च्यांग काई शेक थे) रूस के साथ बहुत दिनों तक मित्रता नहीं बनाये रख सकेगी, क्योंकि चीन का साम्यवादी दल अपनी अलग सेना और शक्ति का निर्माण कर रहा था। १९२७ में मतभेद इतने उग्र हो गये और रूसी-चीनी

सम्बन्धों में इतना तनाव आ गया कि राष्ट्रवादी सरकार ने रूसी सलाहकारों को देश से निकाल दिया और शघाई तथा कैन्टन मे अनेक रूसी और चीनी साम्यवादियों को बन्दी बना लिया। वास्तव मे, राष्ट्रवादी सरकार ने सभी प्रकार के उग्रवादियो को कुचलने के लिए उनके विरुद्ध युद्ध-सा छेड़ दिया। कुछ को चीन से निकाल दिया गया और कुछ स्वय उसे छोड़कर बाहर चले गये। चीन छोड़नेवालो मे देश के महान् नेता डॉ० सन यात सेन की विधवा पत्नी भी थी। वास्तव मे देश के सैनिक प्रशासक डॉ० सेन के तीन प्रमुख सिद्धान्तो—राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र एव सामाजिक न्याय—की दुहाई देते नही थकते थे।

दिसम्बर, १९२७ मे चीन की राष्ट्रवादी सरकार ने सोवियत संघ के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये, और वह ब्रिटेन और अमेरिका की ओर झुकी। १९२९ मे, मन्चूरिया में, रूस द्वारा संचालित पूर्वी-चीनी रेलवे के प्रश्न पर चीन और सोवियत रूस मे गम्भीर संघर्ष खड़ा हो गया और दोनो ही देशो ने सीमाओ पर अपनी फौजें भेज दी। परन्तु अन्त मे (१९२९ में ही), दोनो देशो ने आपसी समझौता करके यह निश्चय किया कि इस विषय मे यथापूर्व स्थिति कायम रखी जाय। १९२७ में दोनो देशो के मध्य बिगड़े सम्बन्धो मे दिसम्बर, १९३२ मे पुन सुधार हो गया, जिसके परिणामस्वरूप दोनो देशो के बीच कूटनीतिक सम्बन्धों की पुन. स्थापना हो गयी।

चीन की राजनीतिक स्थिति निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। ३ जनवरी, १९३२ को जापान ने चीन के सम्पूर्ण मन्चूरिया प्रदेश पर अधिकार कर लिया और ९ मार्च, १९३२ को वहाँ जापान द्वारा मंचुकुओ (Manchukuo) नामक एक कठपुतली राज्य की स्थापना कर दी गयी। रूस और चीन के मध्य दिसम्बर, १९३२ में सम्बन्धो मे जो सुधार हुए थे, वे बाह्य मगोलिया के प्रश्न पर पुन. बिगड गये। अगस्त, १९३४ मे बाह्य मंगोलिया में विद्रोह हो गया और रूस ने उसमें पर्याप्त सहायता प्रदान की। इस विद्रोह के द्वारा बाह्य मगोलिया में साम्यवादी सरकार की स्थापना हो गयी और वहाँ सोवियत संविधान के नमूने पर बना नवीन सविधान लागू कर दिया गया।

चीनी राष्ट्रवादियो एवं साम्यवादियो के मध्य यद्यपि बहुत पहले से ही शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियाँ चल रही थी, तथापि जापान द्वारा चीन पर सम्भावित आक्रमण के भय से यह गृहयुद्ध कुछ समय के लिए बीच में स्थगित सा हो गया था। परन्तु राष्ट्रवादियो और साम्यवादियो में अन्तत. संघर्ष होना निश्चित ही था। दिसम्बर, १९३६ मे च्याग काइ शेक को उसके दो अधीनस्थ सेनापतियो ने बन्दी बना लिया और उसे साम्यवादियो की सलाह के अनुसार उनके साथ मिलकर जापान के विरुद्ध

लड़ने को बाध्य किया गया। इस समय यदि साम्यवादी चाहते तो च्यांग का वध कर सकते थे, परन्तु स्टालिन के परामर्श से उन्होंने ऐसा नहीं किया।

१९४० के बाद से कुओमिन्ताङ्ग और साम्यवादियों के संयुक्त मोर्चे में दरार पड़ने लगी, और ऐसा होना प्रायः निश्चित सा ही था। राष्ट्रवादी सरकार ने अनुभव किया कि साम्यवादी राजनीतिक सत्ता के लिए अपनी स्थिति सुदृढ़ करते जा रहे हैं। इससे राष्ट्रवादी सरकार का रुख साम्यवादियों के प्रति और कठोर हो गया। परिणामतः देश में, आगे के वर्षों में, आन्तरिक संघर्ष तीव्र होता गया। क्योंकि द्वितीय महायुद्ध के मध्य जापान का चीन पर आक्रमण जारी रहा, अतः इस आन्तरिक संघर्ष ने उग्र रूप धारण नहीं किया। किन्तु १९४५ में, जापान द्वारा आत्मसमर्पण किये जाने के बाद, यह संघर्ष तीव्र हो उठा।

१९४५ तक साम्यवादी सरकार उत्तरी चीन में अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर चुकी थी। दूसरी ओर मित्र-राष्ट्रों की सहायता से कुओमिन्ताङ्ग सरकार भी अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर रही थी। अतः यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि जापान द्वारा खाली किये गये प्रान्तों पर किस सरकार का अधिकार माना जाय, क्योंकि चीन में दो सरकारें थीं। एक कुओमिन्ताङ्ग राष्ट्रवादी सरकार और दूसरी साम्यवादी सरकार। अमेरिका जापान द्वारा खाली किये गये पूर्वी चीन के प्रान्तों पर साम्यवादी सरकार के नियन्त्रण के विरुद्ध था, अतः उसने च्यांग को हर प्रकार की सहायता दी ताकि उसकी सेनाएँ यथाशीघ्र पूर्वी चीन के प्रान्तों पर अपना अधिकार कर लें। इससे चीन में गृहयुद्ध की ज्वाला भभक उठी। क्योंकि अमेरिका और रूस दोनों ही चीन में गृहयुद्ध के पक्ष में नहीं थे, अतः चीन के दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया गया। किन्तु दोनों पक्षों के मध्य हुआ शान्ति समझौता अधिक समय तक नहीं टिक सका, और शीघ्र ही पुनः संघर्ष आरम्भ हो गया। इस लम्बे और भयानक संघर्ष में पहले च्यांग का पलड़ा भारी रहा, लेकिन बाद में अन्तिम विजय साम्यवादियों को प्राप्त हुई। च्यांग, अपनी कुओमिन्ताङ्ग सरकार के साथ, भागकर फारमोसा द्वीप चला गया और अमेरिका की छत्रछाया में वह आज तक वहाँ सुरक्षित है। राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी च्यांग काइ शेक की राष्ट्रवादी सरकार को ही (अमेरिका के समर्थन से) प्राप्त है, विशाल लाल चीन को नहीं। अतः चीन की समस्या का, राजनीतिक दृष्टि से, अभी अन्तिम समाधान होना शेष है।

डॉ० सन यात सेन (१८६६-१९२५) :

डॉ० सन यात सेन का प्रारम्भिक नाम सन वेन (Sun Wen) था। बाद में,

जब ये एक बार भागकर जापान चले गये थे, तो इन्होंने अपने को छुपाने की दृष्टि से अपना नाम बदलकर चुंग-शान (Chung-Shan) रख लिया। इनका जन्म १८६६ में सियांगशान (Hsiangshan) जिले में हुआ था। इनके पिता का नाम सन ताओ चुआन और माता का येंग था। ये तीन भाई थे, जिनमें ये सबसे छोटे थे।

सन यात सेन के पिता एक बहुत ही साधारण कृषक थे, जो किसी प्रकार कृषि से अपनी आजीविका चला पाते थे। बचपन में सन यात सेन (Sun Yat Sen) अपने पिता की उनके कार्य में सहायता करते थे। प्रारम्भिक शिक्षा अपने चाचा से ग्रहण करने के बाद ये, १३ वर्ष की आयु में अपने बड़े भाई के पास हवाई द्वीप चले गये जहाँ १८७९ से लेकर १८८२ तक इन्होंने मिशन स्कूल में शिक्षा प्राप्त की।

१८८३ के अन्तिम दिनों में वे चीन वापस चले गये और वहाँ विभिन्न संस्थाओं में अध्ययन करते रहे। १८८६ में वे कैन्टन के पो ची हॉस्पिटल स्कूल में भर्ती हो गये, जहाँ उनकी मित्रता चेंग शी लियाग से हुई जो एक गुप्त संगठन के सदस्य थे। अगले वर्ष सन यात सेन हागकाग के एलिस मेमोरियल हॉस्पिटल में चले गये, जहाँ उनका परिचय चेन शाओ पो, लू हाओ तुंग तथा अन्य दो व्यक्तियों से हुआ। सन यात सेन तथा ये लोग क्रान्ति के सम्बन्ध में इतनी अधिक चर्चाएँ करते थे कि इन्हें इनके मित्र एवं सम्बन्धी लोग विद्रोही कहकर पुकारते थे। सन यात सेन अपनी जीवनी में लिखते हैं कि वे १८८५ से ही, जबकि वे केवल १८ वर्ष के थे, च्याग राजवंश को उखाड़ फेंकने की बात सोचा करते थे तथा अपने स्कूल (पो ची हॉस्पिटल स्कूल) को वे प्रचार का साधन मानते थे।

सन यात सेन को आरम्भ से ही आधुनिक ढंग की पश्चिमी वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त हुई थी तथा उनका दृष्टिकोण सभी सामाजिक एवं राजनीतिक प्रश्नों पर पूर्ण यथार्थवादी था। वे समझते थे कि जब तक चीन से राजवंश को नहीं उखाड़ा जाता, तब तक चीन न तो संगठित हो सकता है और न ही उसमें किसी प्रकार की प्रगति सम्भव हो सकती है। और इसके लिए क्रान्ति को ही वे सर्वश्रेष्ठ हथियार मानते थे। इसी हेतु उन्होंने गुप्त संगठनों में भाग लेना आरम्भ किया तथा उन्हें शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया।

१८९४ में, चीन-जापान युद्ध आरम्भ होने के बाद, सन यात सेन "सिंग चुंग हो" (एक गुप्त क्रान्तिकारी संगठन) की स्थापना हेतु हवाई गये। जनवरी, १८९५ में उन्होंने, हागकाग में, इस संस्था का अपना मुख्य कार्यालय स्थापित किया तथा क्वागतुंग (Kwangtung) में क्रान्तिकारी सेना की स्थापना करने का प्रथम प्रयास किया। जब डॉ० सन यात सेन ने "सिंग चुंग हो" की हवाई में स्थापना की तो उनके अनुयायियों की संख्या १० या १२ से अधिक नहीं थी।

उधर कैन्टन में क्रान्तिकारी सेना असफल हो गयी थी, और इस असफलता ने डॉ० सेन को सारे चीन में बदनाम कर दिया। चीन के समाचारपत्रों ने उन्हें देशद्रोही तथा एक भयानक दैत्य कहकर उनकी भर्त्सना की। परन्तु उन्होंने निरन्तर अपनी क्रान्तिकारी कार्यवाहियाँ जारी रखीं।

१९०१ से १९०४ तक जापान में चीनी विद्यार्थियों द्वारा अनेक गुप्त संगठनों की स्थापना की गयी तथा क्रान्तिकारी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित की गयीं। डॉ० सेन ने इन चीनी विद्यार्थियों एवं इनके संगठनों के साथ निरन्तर सम्पर्क बनाये रखा। इन सभी संगठनों एवं प्रकाशनों का उद्देश्य मन्चु राजवंश के विरुद्ध क्रान्ति को प्रोत्साहित करना था। डॉ० सेन इन चीनी विद्यार्थियों के साथ क्रान्ति के सम्बन्ध में चर्चा करते रहते थे। १९०५ में वे यूरोप भी गये और वहाँ रहनेवाले चीनी विद्यार्थियों को क्रान्ति के लिये प्रेरित किया। वे जापान भी गये और ९ सितम्बर, १९०५ को टोकियो में "तुंग मेंग हो" (*T'ung Meng Hui*) सोसायटी की स्थापना की। इसके आधारभूत आदर्श डॉ० सेन के तीन सिद्धान्त रखे गये, जो इस प्रकार थे—राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र एवं सामाजिक न्याय। प्रतिज्ञा लेते समय जिन वाक्यों का प्रयोग किया गया था, वे थे—"आओ हम मन्चु बर्बरों को निकालकर बाहर कर दें, चीन की प्राचीन प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करें, देश में गणतन्त्र की स्थापना करें तथा देश की भूमि का समान वितरण करें।" बाद में सेन ने स्पष्ट करते हुए बताया कि उनकी क्रान्ति का उद्देश्य केवल मन्चुओं को हटाना भर नहीं है, प्रत्युत चीन से निरंकुश राजतन्त्र को ही समाप्त करना है।

१९०५ के पश्चात् (विशेषकर १९०८ के बाद) चीन में मन्चु विरोधी एवं राजतन्त्र विरोधी भावनाएँ तीव्रतर होती गयीं। डॉ० सन यात सेन द्वारा १८९४ में स्थापित "सिंग चुंग हो" ('चाइना रिवाइवल सोसाइटी') संगठन का नाम १९११ में बदलकर कुओमिन्ताङ्ग रख दिया गया, जो शीघ्र ही चीनी आन्दोलन का मुख्य केन्द्र बन गया। अक्टूबर, १९११ में, चीन की यान्त्सी घाटी में विद्रोह हुआ, और शीघ्र ही यह मध्य एवं दक्षिणी चीन में फैल गया। १९१२ में नये साल के दिन, विद्रोही प्रान्तों में गणतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी गयी, जिसके अध्यक्ष पद के लिए डॉ० सन यात सेन को चुना गया। १२ फरवरी, १९१२ को चीन से मन्चु राजवंश समाप्त हो गया। परन्तु अभी गणतन्त्र को युआन शी-काई (मन्चु शासन-काल में एक प्रान्त का वाइसरॉय एवं चीन का एक श्रेष्ठ सैनिक प्रशासक) के विरुद्ध संघर्ष करना था। युआन ने उत्तरी चीन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। डॉ० सेन ने चीन को गृहयुद्ध से बचाने की दृष्टि से युआन को, अपने स्थान पर, गणतंत्र का अध्यक्ष बना दिया। परन्तु युआन ने शीघ्र ही

संसद् को अपदस्थ कर दिया, कुओमिन्ताङ्ग को भंग कर दिया तथा एक तानाशाह बन बैठा। अन्ततः चीन विभाजित हो गया। डॉ० सेन ने दक्षिणी चीन में एक पृथक् सरकार की स्थापना कर ली। दोनों सरकारों में संघर्ष चलता रहा। शीघ्र ही युआन की मृत्यु हो गई और उसका चीन का तानाशाह बनने का स्वप्न पूरा न हो सका।

प्रथम महायुद्ध के काल में एक ओर तो चीन पर जापान का आक्रमण चलता रहा और दूसरी ओर चीन के उत्तरी एवं दक्षिणी भागों के बीच संघर्ष होता रहा। परन्तु १९२१ के पश्चात्, रूस के सहयोग से, चीन में राष्ट्रवादी आन्दोलन का विस्तार होना आरम्भ हुआ। १९२४ में रूसी विशेषज्ञ बोरोदिन राष्ट्रवादी कुओमिन्ताङ्ग सरकार के परामर्शदाता के रूप में चीन आये। कुओमिन्ताङ्ग दल का रूस के साम्यवादी दल के नमूने पर गठन किया गया। डॉ० सेन ने चीनी सेना का भी, रूसी सेना के ढंग पर, पुनर्गठन करने का प्रयास किया। परन्तु, उनके जीवनकाल में, सम्पूर्ण चीन को एक शासन सूत्र में बाँधकर संगठित करने का उनका स्वप्न, उनकी शीघ्र मृत्यु होने के कारण, पूर्ण न हो सका। १२ मार्च, १९२५ को डॉ० सन यात सेन का देहावसान हो गया।

डॉ० सन यात सेन के तीन प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्त थे, जिनका सुव्यवस्थित रूप १९२४ से पूर्व नहीं उभर सका था। १९२३ में इन सिद्धान्तों को कुओमिन्ताङ्ग दल के घोषणा-पत्र में सम्मिलित किया गया तथा मुख्यतः इन्हें कार्यान्वित करने की ही दृष्टि से १९२४ में दल का पुनर्गठन भी किया गया। प्रथम, वे कट्टर राष्ट्रवादी थे। उनका उद्देश्य केवल राजवंश को ही चीन से समाप्त करना नहीं था, जिसने देश को युद्ध-स्वामियों में विभाजित कर रखा था तथा जो देश में कुशासन एवं अराजकता के लिए उत्तरदायी था, प्रत्युत उसे (चीन को) एक शासन-सूत्र में बाँध कर संगठित करना भी था, जिससे विदेशी शक्तियाँ उसे अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा का शिकार न बना सकें। डॉ० सेन ने युद्ध-काल में विदेशी शक्तियों द्वारा चीन पर थोपी गयी सभी सन्धियों का विरोध किया। वे चाहते थे कि उनके देश को उसकी खोयी हुई प्रतिष्ठा एवं शक्ति पुनः प्राप्त हो। इसके लिए उन्होंने उन सभी शक्तियों का (आन्तरिक एवं बाह्य) डटकर विरोध किया, जो चीन को विभाजित करने तथा उसे निर्बल बनाने में संलग्न थी। उनका नारा था—"युद्ध-स्वामियों एवं साम्राज्यवाद का नाश हो"।

द्वितीय, प्रजातन्त्र में उनका अविचल विश्वास था। डॉ० सेन चीन से राजतन्त्र को उखाड़ फेंकना तथा उसके स्थान पर, अमेरिका के ढंग पर, गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। साथ ही, वे चीन के लिए, वहाँ की विशेष परिस्थितियों

को देखते हुए, संघात्मक शासन-प्रणाली के स्थान पर एकात्मक राज्य की स्थापना की जाने को श्रेयस्कर समझते थे। डॉ० सेन का उद्देश्य चीनियों को संगठित करना एवं व्यवस्थित करना था।

डॉ० सेन एक पक्के समाजवादी भी थे, परन्तु उनका समाजवाद, उग्र समाजवाद न होकर, लचीला एवं परिमित था। उनके ऊपर, निश्चय ही, रूसी साम्यवादी क्रान्ति का प्रबल प्रभाव था तथा उन्होंने सोवियत रूस की घटनाओं के प्रति आकर्षित होकर उसके साथ सहयोग बनाये रखा तथा उसके सहयोग से चीन में राष्ट्रवादी आन्दोलन का विस्तार किया। उनके कुओमिन्ताङ्ग दल का रूस के साम्यवादी दल के नमूने पर गठन किया गया तथा इसी प्रकार चीनी सेना को रूसी सेना के ढंग पर पुनर्गठित करने का प्रयास किया गया। साथ ही, डॉ० सेन ने प्रारम्भ में चीन के साम्यवादियों को व्यक्तिगत रूप से अपने कुओमिन्ताङ्ग दल का सदस्य बनने की भी अनुमति प्रदान कर दी और वे देश में, साम्यवादियों के सहयोग से, राष्ट्रवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने के इच्छुक थे। इतना ही नहीं, वरन् मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रभाव तथा चीन में साम्यवादी दल के विकास ने ही, बहुत अंशों में, कुओमिन्ताङ्ग दल की साम्राज्यवाद-विरोधी नीति की आधार-शिला रखी। परन्तु फिर भी वे साम्यवाद को ग्रहण नहीं कर सके। उनका साम्यवादी रूस अथवा साम्यवादियों के साथ जो भी सहयोग रहा, वह केवल चीन में राष्ट्रवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने के हेतु शक्ति ग्रहण करने की दृष्टि से ही था। डॉ० सेन तो आदि से अन्त तक राष्ट्रवादी थे तथा उग्र साम्यवादियों को वे सदैव शंका की दृष्टि से देखते थे। उनका समाजवाद परिमित रूप में ही समाजवाद कहा जा सकता है। उन्होंने यद्यपि अपने काल में सभी कृषक एवं श्रमिक आन्दोलनों को आगे विकसित होने के लिए यथेष्ट शक्ति प्रदान की, परन्तु फिर भी, साम्यवाद की आस्था अथवा उसके सिद्धान्त के विपरीत, उन्होंने निजी सम्पत्ति की आवश्यकता को, प्रत्येक नागरिक के जीवन में, स्वीकार किया—यद्यपि वह अत्यन्त सीमित रूप में होनी चाहिए, जिससे समाज में आर्थिक एवं सामाजिक शोषण को किसी प्रकार भी बढ़ावा न मिल सके। सारांश में, डॉ० सेन ने समाजवाद अथवा साम्यवाद के कुछ उदार सिद्धान्तों को अपनी प्रजातन्त्र की आस्था के सन्दर्भ में ही ग्रहण किया।

डॉ० सन यात सेन का तीसरा राजनीतिक सिद्धान्त था सामाजिक न्याय। सामाजिक न्याय से उनका उद्देश्य राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सभी प्रकार के न्याय से था। राजनीतिक न्याय की दृष्टि से वे सम्पूर्ण चीन में गणतंत्र की स्थापना करना चाहते थे, जिससे देश में प्रजातन्त्र की भावना सबल हो सके तथा सभी नागरिकों

को प्रशासन के कार्य में भाग लेने का समान एवं उचित अधिकार प्राप्त हो सके। आर्थिक एवं सामाजिक न्याय की दृष्टि से वे सामन्तवाद, राजतन्त्र एवं साम्राज्यवाद को समाप्त करके देश में एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे, जिसमें सभी को आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति करने का समान अवसर प्राप्त हो सके तथा कोई भी वर्ग, भविष्य में, किसी अन्य वर्ग का शोषण करने में समर्थ न हो सके।

उनकी असमय मृत्यु हो जाने के कारण, वे अपनी नीतियों एवं आदर्शों को कार्यान्वित नहीं कर सके, अतः उनके सम्बन्ध में अधिक कुछ लिखना उचित नहीं प्रतीत होता। संक्षेप में यहाँ केवल इतना ही कहना उचित होगा कि डॉ० सन यात सेन एक उच्च कोटि के राष्ट्रवादी थे, जिनका लक्ष्य देश को संगठित करके उसमें समाजवादी नीतियों पर आधारित गणतन्त्र की स्थापना करना था।

माओ त्से-तुंग (१८९३-......) :

साम्यवादी चीन के इतिहास में माओ त्से-तुंग सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति है। यद्यपि उन्हें चीन के साम्यवादी दल का संस्थापक नहीं माना जा सकता, फिर भी उसे जीवन एवं दर्शन प्रदान करने का एकमात्र श्रेय माओ को ही दिया जायगा। साम्यवादी संसार में माओ के व्यक्तित्व तथा उनकी धारणाओं एवं नीतियों को लेकर आजकल बहुत कुछ मतभेद दिखाई पड़ता है, परन्तु इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि आज लाल चीन में जो कुछ हो रहा है तथा १९४८ से लेकर आज तक उसमें जो कुछ भी प्रगति हुई है, वह सब माओ की ही अडिग नीतियों के कारण है। वास्तव में चीन को बनाने का एकमात्र श्रेय माओ को ही है, जिस प्रकार रूस को बनाने का लेनिन को।

माओ ने, १९१९ में, राष्ट्रीय पीकिंग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में एक निम्न कोटि के क्लार्क के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया, जहाँ वे दो व्यक्तियों—चैन तु-सिन (Chen Tu-hsin) और ली ता-चाओ (Li Ta-chao) से सर्वाधिक प्रभावित हुए। इनमें पहला व्यक्ति राष्ट्रीय पीकिंग विश्वविद्यालय के कला संकाय का अध्यक्ष था और दूसरा उस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का अध्यक्ष। प्रथम महायुद्ध के पश्चात्, १९१९ में, वर्साइ में आयोजित शान्ति सम्मेलन (Versailles Peace Conference) में मित्र-राष्ट्रों द्वारा चीन की भावनाओं एवं अधिकारों का पूर्ण रूप से अनादर किया गया, हालाँ कि वह युद्ध में इन राष्ट्रों के साथ था। इसके विपरीत, सोवियत रूस ने, २५ जुलाई, १९१९ को जार सरकार द्वारा चीन पर थोपी गयी सभी असमान संधियों एवं क्षेत्रीय विशेषाधिकारों को त्यागने तथा चीन के साथ समानता एवं आदर का व्यवहार करने की घोषणा की।

निश्चय ही, चीन के बौद्धिक वर्ग को यदि एक ओर मित्र-राष्ट्रों के कपट व्यवहार से गहरी चोट पहुँची, तो दूसरी ओर वह साम्यवादी रूस की ओर आकर्षित हुआ और उसे अपना मित्र एवं सहयोगी समझने लगा।

नवीन सोवियत सरकार की इस नीति से राष्ट्रीय पीकिंग विश्वविद्यालय के अध्यक्ष स्वर्गीय साइ युआन-पी (Tsai Yuan-pei) भी बहुत अधिक प्रभावित हुए, और उन्होंने रूस की ओर आकर्षित इन तीनों व्यक्तियों—चैन तु-सिन, ली ता-चाओ तथा माओ त्से-तुंग—को अपने विश्वविद्यालयों में नियुक्त कर लिया। इस प्रकार पीकिंग विश्वविद्यालय साम्यवादी विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार का आश्रय बन गया।

१९२० में चेन तु-सिन तथा ली ता-चाओ ने पीकिंग में मार्क्सवाद के अध्ययन हेतु एक सोसाइटी की स्थापना की। अगले वर्ष सोवियत रूस के सहयोग से चीनी साम्यवादी दल का उद्घाटन किया गया। कुछ वर्षों तक चीन के साम्यवादियों और वहाँ के राष्ट्रवादी दल, कुओमिन्ताङ्ग, ने एक साथ मिलकर कार्य किया। परन्तु १९२५ में राष्ट्रवादी नेता डॉ० सन यात सेन की मृत्यु के पश्चात् धीरे धीरे देश की आर्थिक स्थिति गिरती गयी तथा उनके उत्तराधिकारी च्यांग काइ शेक की राष्ट्रवादी सरकार सैनिकवाद की ओर अग्रसर होती गयी। परिणामतः देश में असन्तोष बढ़ता गया और उसमें चीन के साम्यवादी दल की शक्ति एवं प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। राष्ट्रवादी सरकार और साम्यवादियों के मध्य निरन्तर संघर्ष चलते रहे। इन संघर्षों में माओ त्से-तुंग ने प्रमुख भाग लिया तथा उनके निर्देशन में साम्यवादी दल अधिकाधिक शक्तिशाली होता गया। अन्त में १९४९ में चीनी साम्यवादी दल ने चीन की प्रमुख भूमि पर अपना अधिकार कर लिया।

श्री माओ, जिन्हें चीन में साम्यवादी आन्दोलन को सफल बनाने का प्रमुख श्रेय दिया जाता है, स्वभाव से, लेनिन की भाँति, एक कर्मठ व्यक्ति हैं तथा कुशल एवं कठोर नीतियों में विश्वास करते हैं। ये भी अपने प्रेरणास्रोत की भाँति छल, प्रपंच तथा सभी अच्छी और बुरी नीतियों के आधार पर अपने उद्देश्य की सिद्धि में विश्वास करते हैं तथा अपने राजनीतिक विरोधियों का किसी भी कुचक्र द्वारा दमन करने में नहीं हिचकिचाते। इनके व्यक्तित्व का प्रभाव चीन में सभी छोटे बड़ों पर इतना है कि कोई भी इनकी नीतियों का विरोध करने की बात नहीं सोच सकता। चीनी शासन से दूर रहकर भी माओ चीन के भाग्यनिर्माता माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में यदि हम चीन की साम्यवादी पार्टी की घोषणा को पढ़ें तो हमारा सभी प्रकार का संशय दूर हो जायगा। घोषणा में एक स्थान पर कहा गया है, "बिना साम्यवादी पार्टी तथा माओ के नेतृत्व के चीन में कुछ भी

होना सम्भव नहीं।" जहाँ तक चीन की साम्यवादी पार्टी का प्रश्न है, वह माओ के सिद्धान्तों से हटकर अपना कोई निजी अस्तित्व नहीं रखती। १ अक्टूबर, १९४९ को माओ लाल चीन की केन्द्रीय सरकार के प्रथम सभापति (Chairman of the Central People's Government of the People's Republic of China) चुने गये। बाद में वे इस पद से हट गये तथा केवल चीन की साम्यवादी पार्टी के अध्यक्ष के रूप में ही कार्य करने लगे। परन्तु उनके शासन से हटने से उनके महत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। चीन में साम्यवाद स्थापित होने से लेकर आज तक माओ की बनायी हुई नीतियों पर ही चीनी प्रशासन चलता रहा है। क्या चीनी शासन और क्या चीन की साम्यवादी पार्टी सभी, माओ की नीतियों का अनुसरण करती हैं।

माओ केवल एक सफल राजनीतिज्ञ ही नहीं, वरन् एक कुशल लेखक भी हैं। उनके राजनीतिक सिद्धान्त उनके द्वारा लिखी गयी पुस्तकों में स्पष्ट रूप से दिये गये हैं। उनके लिखने की शैली कहीं कहीं पर लेनिन की शैली से भी अधिक श्रेष्ठ है। वास्तव में श्री माओ अपने विषय के पंडित हैं तथा उनकी शैली सार-गर्भित है। उनके मुख्य एवं अधिकांश विचार उनके द्वारा लिखी गयी एक पुस्तिका "नवीन प्रजातन्त्र" (*New Democracy*) में दिये गये हैं, जिसका प्रकाशन १९४० में हुआ था। इस पुस्तक में दिये गये विचारों की शेष पूर्ति उनकी अन्य पुस्तकों से हो जाती है, जिनमें से प्रमुख हैं, "मिली जुली सरकार" (*On Coalition Government, 1945*), "वर्तमान स्थिति एवं आगे के कार्य" (*The Present Position and Task Ahead, 1947*) तथा "जनता की लोकतन्त्रात्मक तानाशाही" (*The People's Democratic Dictatorship, 1949*)।

उपर्युक्त पुस्तकों का मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि चीन का अन्तिम लक्ष्य साम्यवाद की स्थापना करना है, हालाँकि इसमें कुछ वर्ष अवश्य लगेंगे। पूर्ण साम्यवाद की स्थापना होने तक, चीन में "नवीन प्रजातन्त्र" की व्यवस्था रहेगी। माओ के अनुसार "नवीन प्रजातन्त्र" के दो रूप हैं :

१. जनता के लिए प्रजातन्त्र;

२. विरोधियों एवं प्रतिक्रियावादियों के लिए तानाशाही।

"नवीन प्रजातन्त्र" में, श्रमिक वर्ग एवं साम्यवादी दल के नेतृत्व में, विभिन्न वर्ग संयुक्त होकर देश में अपने राज्य एवं सरकार की स्थापना करेंगे, जिससे साम्राज्यवादियों के अनुचरों एवं पिट्ठुओं को—सामन्तों, पूँजीपतियों तथा राष्ट्रवादी कुओमिन्ताङ्ग के प्रतिक्रियावादी अंग के लोगों एवं उनके सहयोगियों को—देश से समाप्त किया जा सके। जन सरकार सभी प्रतिक्रियावादी तत्वों को नष्ट कर देगी।

जन सरकार में प्रतिक्रियावादी तत्वों को बोलने तथा आलोचना करने की स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। इसके विपरीत, साधारण जनता को विचार व्यक्त करने, एकत्रित होने तथा संगठन बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी। "नवीन प्रजातन्त्र" देश के साम्यवादी दल के मार्गदर्शन में कार्य करेगा तथा यह पारस्परिक समझौता के सिद्धान्त पर आधारित रहेगा। "नवीन प्रजातन्त्र" से साम्यवाद तक पहुँचने में अवश्य ही कुछ वर्ष लगेंगे।

माओ की "नवीन प्रजातन्त्र" की व्याख्या लेनिन के व्यावहारिक प्रजातन्त्र सम्बन्धी विचार पर आधारित है। माओ के अनुसार, चीन में मार्क्सवादी उद्देश्य की पूर्ति तीन अवस्थाओं में हो सकेगी :

१. सम्पूर्ण देश को साम्यवादी दल के राजनीतिक नेतृत्व में रखना तथा उसके मार्गदर्शन में देश को आगे बढ़ाना;
२. राज्य द्वारा संचालित नीतियों के माध्यम से देश में समाजवादी आन्दोलन करना; तथा
३. समाजवाद के प्रयोग अथवा अभ्यास द्वारा चीनी जीवन एवं समाज में सोवियत व्यवस्था लाना।

डॉ० सन यात सेन का उद्देश्य चीनवासियों को प्रजातन्त्र एवं स्वशासन की शिक्षा देना था, जबकि माओ, उनके विपरीत, प्रजातन्त्र एवं स्वतन्त्रता को अवरुद्ध करना चाहते हैं तथा चीनवासियों को साम्यवादी दल के नेतृत्व में रहकर कार्य करने को बाध्य करते हैं।

साम्यवादी प्रजातन्त्र में, जिसे माओ ने "जन-प्रजातन्त्र" की संज्ञा दी है, साम्यवादी दल का प्रमुत्व रहेगा। तानाशाही एवं पूँजीवाद के विरुद्ध मार्क्सवादी संघर्ष में साम्यवादी दल मुख्य भूमिका अदा करेगा। साम्यवादी प्रजातन्त्र अब्राहम लिंकन के प्रजातन्त्र से पूर्ण भिन्न है। साम्यवादी यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक समाज में वर्ग-संघर्ष रहता है तथा सम्पूर्ण समाज दो विरोधी वर्गों में—शोषण करनेवाला एवं शोषित—विभाजित रहता है। अतः उनके अनुसार, पूँजीपतियों एवं प्रतिक्रियावादियों को समाप्त करके ही समाज में सच्चे प्रजातन्त्र की स्थापना की जा सकती है और इस प्रजातन्त्र की स्थापना में साम्यवादी जिन साधनों का प्रयोग करते हैं, उन्हें वे पूर्ण प्रजातन्त्रात्मक कहते हैं। उनके अनुसार, जनता को प्रोत्साहित एवं प्रेरित करके ही सच्चे प्रजातंत्र की स्थापना की जायगी। शक्ति का उपयोग, उनके मतानुसार, केवल उन व्यक्तियों के विरुद्ध ही किया जायगा, जो (इस सच्चे) प्रजातन्त्र के मार्ग को अवरुद्ध करना चाहते हैं। परन्तु उनका

यह दावा यथार्थ से पूर्णतः भिन्न है। साम्यवादी प्रजातन्त्र, वास्तव में, सच्चा प्रजातन्त्र नहीं, वरन् वह साम्यवादी दल की कठोर तानाशाही है, जिसकी आधार-शिला रक्तपात एवं शक्ति है।

माओ का कहना है कि एक बार सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों को समाप्त कर दिया जायगा और बाद में, वर्गहीन समाज की स्थापना होने पर, सभी में भूमि और कार्य का समान वितरण किया जायगा। परन्तु भूमि और कार्य के समान वितरण में एक शर्त अनिवार्य रूप से रहेगी और वह यह कि पुन. प्रतिक्रियावादी लोग साम्यवादी प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के विरुद्ध किसी प्रकार का विद्रोह नहीं करेंगे तथा उसे भंग करने का प्रयास नहीं करेंगे। प्रतिक्रियावादी शक्तियों के सुधार का कार्य, माओ के अनुसार, जन-प्रजातंत्रात्मक तानाशाही (People's Democratic Dictatorship) को संचालित करनेवाली सरकार (साम्यवादी सरकार) द्वारा किया जायगा।

माओ प्राचीन चीनी सभ्यता के कट्टर विरोधी हैं। उन्होंने अपने लेखों तथा भाषणों में चीन की प्राचीन सभ्यता तथा प्राचीन समाज-व्यवस्था पर कठोर प्रहार किया है। कुटुम्ब, जो चीनी समाज-व्यवस्था का आधार रहा है, उसे माओ के नेतृत्व में बहुत कुछ समाप्त कर दिया गया है। माओ कौटुम्बिक व्यवस्था को सामन्तशाही का चिह्न मानते हैं। उसके स्थान पर सामूहिक साम्यवादी समाज का निर्माण किया जा रहा है। चीन में आज कुटुम्ब का स्थान कम्यून्स (Communes) लेते जा रहे हैं। इसी प्रकार प्राचीन धार्मिक विश्वास एवं व्यवस्था की भी चीन में शनै. शनै. समाप्ति हो रही है। माओ का कथन है कि इस नवीन संस्कृति के बिना चीन में "नवीन प्रजातन्त्र" की स्थापना नहीं की जा सकती।

माओ अपनी नीतियों में किसी भी प्रकार उलट-फेर करने के पक्ष में नहीं हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से उन्हें चिढ़ है। स्वतन्त्रता को वे साम्यवाद के लिए घातक मानते हैं। उनका सौ पुष्पों वाला प्रयोग (Hundred Flowers Experiment), जिसे उन्होंने १९५७ में विरोधियों की विचारधारा जानने के लिए लागू किया था तथा जिसे साम्यवादियों ने "विचार-स्वातन्त्र्य" कहा है, केवल एक राजनीतिक चाल थी। यह प्रयोग माओ ने केवल अपनी नीतियों के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया जानने के लिए किया था, जिसे आगे चलकर समाप्त कर दिया गया। इस आधार पर यहाँ यह कहना आवश्यक है कि लेनिन और माओ में यद्यपि बहुत कुछ साम्य है, फिर भी लेनिन की अपेक्षा माओ द्वारा अधिक कठोर नीतियों का निर्माण किया गया है। लेनिन कठोर नीतियों का अनुसरण करते हुए भी, बहुत कुछ दूसरों के दृष्टिकोणों से सहानुभूति रखते थे। लेनिन को टॉलस्टाय की नीतियाँ

पसन्द नहीं थीं, परन्तु उनकी रचनाओं की प्रशंसा करते थे। विचार-क्षेत्र में लेनिन बहुत कुछ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते थे तथा अच्छी वस्तुओं को किसी भी देश से अनुकरण करने को सदैव तत्पर रहते थे। माओ के स्वभाव में इसका उलटा दिखायी देता है। वह किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता व्यक्ति को देना नहीं चाहते। अपने विरोधियों के प्रति माओ का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर है।

माओ और लेनिन के स्वभाव में एक और अन्तर दिखाई देता है। माओ को कभी चीन से बाहर जाते हुए नहीं सुना गया, जबकि लेनिन समय समय पर दूसरे देशों में (रूस से बाहर) जाते रहते थे तथा दूसरे देशों की विचारधाराओं से अपने को अवगत कराते रहते थे। माओ सदैव दूसरे देशों के प्रति शंकित रहते हैं तथा दूसरे देशों के प्रति उनका व्यवहार बहुत अंशों में सहानुभूतिपूर्ण नहीं है। माओ द्वारा जो परराष्ट्र नीति का अनुसरण किया जा रहा है, वह बहुत कुछ साम्राज्यवादी नीति है। युद्ध से माओ को विशेष प्रेम है तथा युद्ध और आतंक के द्वारा वे साम्यवाद को सफल बनाना चाहते हैं। यह माओ का अत्यन्त घिनौना स्वरूप है।

यद्यपि माओ भी, मार्क्स और लेनिन की भाँति, एक वर्गहीन तथा राज्य-विहीन समाज-व्यवस्था में विश्वास करते हैं, तथापि उनकी, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्रों में, कठोर नीतियों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है जैसे उनका यह विश्वास एकदम मिथ्या है।

माओ की लेनिन से इस दृष्टि से तुलना की जा सकती है कि माओ भी लेनिन की भाँति अपने देश की साम्यवादी पार्टी के अध्यक्ष हैं तथा उन्हीं के नेतृत्व में चीनी क्रान्ति सफल हुई और उनका व्यक्तित्व चीन में सर्वोपरि है। पर इस समानता के रहते हुए भी, लेनिन और माओ के स्वभाव तथा उनके सोचने की पद्धति में बहुत कुछ भिन्नता है। लेनिन स्वभाव से जितने स्पष्ट एवं मानवतावादी थे, माओ उतने ही अस्पष्ट, कठोर एवं व्यक्ति-विरोधी हैं। माओ घृणा तथा दमनचक्रों द्वारा चीन और विश्व में साम्यवाद की स्थापना करने में संलग्न दिखायी देते हैं।

ग्रन्थ-सूची

BIBLIOGRAPHY

(A) General

Burch, B. B., *Asian Political Systems*, D. Ben Nostrand Co., U. S. A. (1968)

Bowles, Chester, *The New Dimensions of Peace*, Harper & Brothers, New York (1955)

Carr, E. H., *International Relations Since the Peace Treaties*, Macmillan Co., New York (1940)

Gathorne-Hardy, G. M., *A Short History of International Affairs*, Oxford University Press (1952)

Gordon Connell-Smith, *Pattern of the Post-War World*, Penguin Books, Great Britain (1957)

Gupta, R. C., *Great Political Thinkers : East and West*, Lakshmi Narain Agrawal, Agra (1963)

Gunther, John, *Inside Asia*, Harper & Brothers, N. Y. (1939)

Kalijarvi, T. V., *Modern World Politics*, Harper & Brothers, New York (1954)

Mathew, H. S., *Asia in the Modern World*, Mentor Books, N. Y. (1963)

Morgenthau, H. J., *Polities Among Nations*, Knopf, N. Y. (1954)

Nakamura, Hajime (Ed.), *The Ways of Thinking of Eastern Peoples*, East-West Centre Press, Honolulu (1964)

Nehru, J. L., *Glimpses of World History*, Asia Publishing House, Bombay (1962)

Palmer, N. D. and Perkins, *International Relations*, Scientific Book Agency, Calcutta (1969)

Payne, Robert, *The Revolt of Asia*, John Day Co., N. Y. (1947)

Scalapino, Robert (Ed.), *The Communist Revolution in Asia*, Prentice-Hall (1965)

Schuman, F. L., *International Politics*, Seventh edition, McGraw-Hill, U. S. A. (1969)

The New Cambridge Modern History, Vol.XII : *The Age of Violence* (1898-1945)

Wint, Guy (Ed.), *Asia, A Handbook*, Frederick A. Praeger, N. Y. (1966)

Wilson, Dick, *Asia Awakes*, Weidenfeld and Nicolson, London (1970)

Wint, Guy, *Spotlight on Asia*, Penguin Books, Great Britain (1959)

Encyclopaedia Britannica, Vols. 16.

(B) Western Asia

Berger, Morroe, *The Arab World To-day*, Doubleday and Co., New York (1962)

Fisher, Sidney, *The Middle-East, A History*, Alfred A. Knopf. New York (1959)

Kahin, George McT (Ed.), *The Government and Politics of Middle East*, Cornell Uni. Press (1963)

Laqueur, Walter, *Communism and Nationalism in Middle-East*, Frederick A. Praeger, N. Y. (1956)

Wheelock, Keith, *Nasser's New Egypt : A Critical Analysis*, F. A. Praeger, N. Y. (1960)

Wint, Guy, *Middle-East in Crisis*, Penguin Books, Great Britain

"The Middle-East Journal" (issues of the years 1959-1965)

(C) Central Asia

Harrer, Heinrich, *Seven Years in Tibet*, E. P. Dutton and Co., N. Y. (1954)

Moraes, Frank, *Revolt in Tibet*, Macmillan, N. Y. (1960)

Wint, Guy, *Spotlight on Asia*, Penguin Books, Great Britain (1959)

(D) South Asia

Khan, Abdul G., *My Life and Struggle*, Orient Paper-Back, Hind Pocket Books, Delhi

Nehru, J. L., *Glimpses of World History*, Asia Publishing House, Bombay (1962)

Alan, Campbell-Johnson, *Mission With Mountbatten*, Robert Hale, Ltd., London (1951)

Azad, Maulana, *India Wins Freedom*, Orient Longmans, Calcutta (1959)

Chintamani, C. Y., *Indian Politics Since Mutiny*, George Allen and Unwin, London (1940)

Chandra, P., *Sixty Years of Congress*, The Lion Press, Lahore (1946)

Nehru, J. L., *The Discovery of India*, John Day Co., U.S.A. (1946)

Pyarelal, *A Pilgrimage for Peace*, Navjivan Press, Ahmedabad (1950)

Sitaramayya, P., *The History of the Indian National Congress*, Vols. 2, Padma Publications, Bombay (1935, 1947)

Vijya-Lakshmi, P., *The Evolution of India*, Oxford University Press (1958)

Athalye, D. V., *The Life of Lokmanya Tilak*, (Poona)

Shay, T. L., *The Legacy of Lokmanya*, Oxford University Peess, Bombay

"Kesari" (Files of) from 1881 to 1920

Andrews, C. F., *Mahatma Gandhi's Ideas*, George Allen & Unwin, London (1949)

Dhawan, G. N., *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi*, 2nd Edition, Navjivan Press, Ahmedabad (1951)

Ruthnaswamy, M., *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi.*

Pyarelal, *Mahatma Gandhi : The Last Phase*, Vols. 2, Navjivan Press, Ahmedabad (1956-58)

Roy, M. N., *My Experience of China; New Humanism; Reason, Romanticism and Revolution; Morality and Politics; Freedom and Fascism; National Government Or People's Government : War and Revolution.*

Brecher, Michael, *Nehru : A Political Biography*, Oxford University Press, London (1959)

Nanda, B. R., *The Nehrus : Motilal and Jawaharlal*, George Allen & Unwin, London (1962)

Smith, D. E., *Nehru and Democracy*, Orient Longmans, Calcutta (1958)

Nehru Abhinandan Granth : A Birthday Book, New Delhi (1949)

Nehru, J. L., *Autobiography; India and the World; The Discovery of India; Glimpses of World History; Speeches* (1949-1953 and 1953-1957) ; *A Bunch of Old Letters;* and his other books.

Sarvodaya Publications : *Vinoba on World Peace; Evolution Towards Sarvodaya; Gramdan Why and How; The Dual Revolution; A Picture of Sarvodaya Social Order.*

Bolitho, Hecter, *Jinnah : Creator of Pakistan*, John Murray, London (1954)

Ikram, S. M. , *Modern Muslim India and the Birth of Pakistan*, Mohd. Ashraf & Co., Lahore (1965)

Sharma, M S. M., *Peeps Into Pakistan*

Rushbrook, Williams L F R., *The State of Pakistan*, Faber and Faber (1962)

Siddiqui, Aslam, *A Path for Pakistan*, Pakistan Publishing House, Karachi (1964)

Syed Qamarul Ahsan, *Polities and Personalities in Pakistan*, Syeda Raushan Akhtar Nadera Begum, Habibganj (1967)

Chaudhry, G. W., *Democracy in Pakistan*, Dacca and Vancouver (1963)

Goswami, K. P., *East Bengal's Nationalism*, "Motherland", March 17, 1971.

Kashyap, Dr. S. C., *Bangla Desh* (Edited), The Institute of Constitutional and Parliamentary Studies, New Delhi (1971)

(E) South-East Asia

Hall, D G. E., *A History of South-East Asia*, St. Martin's Press, New York (1955)

Hammer, Ellen J., *The Struggle for Indo-China*, Stanford University Press, California (1954)

Richard C., Bone (Jr.), *Contemporary South-East Asia*, Random House, New York (1967)

Woodman, D., *The Republic of Indonesia*, Cresset (1955)

(F) East-Asia

Borton, Hugh, *Japan's Modern Century*, The Ronald Press Co., New York (1955)

Brown, Delmer M., *Nationalism in Japan*, University of California Press, Berkeley (1955)

Vinacke, H. M., *A History of Far-East in Modern Times*, George Allen & Unwin, London (1960)

Yanaga, Chitoshi, *Japan Since Perry*, McGraw-Hill Book Co., New York (1949)

The Rise of the Kuomintang, F. P. I. S., Vol. 4, No. 8.

Chandrasekhar & Others, *A Decade of Mao's China*, Perennial Press, Bombay

Ch'ien Tuan-Sheng, *The Role of the Military in the Chinese Government*, "Pacific Affairs", Vol. 21 (1948)

Fitz Gerald, C. P., *Revolution in China*, F. A. Praeger, New York (1952)

Hummel, Arthur W. (Ed.), *Eminent Chinese of the Ch'ing Period*, Vols. 2, Govt. Printing Office, Washington (1943)

Li Chien-Nung, *The Political History of China* (1840-1928), Affiliated East-West Press, New Delhi (1963)

Linebarger, Paul, *The Political Doctrines of Sun Yat-Sen : An Exposition of the San Min Chu I*, The John Hopkins Press Baltimore (1937)

Perleberg, Max, *Who's Who in Modern China*, Ye Old Printerie, Hong Kong (1954)

Roy, M. N., *My Experience in China*, Ranaissance, Calcutta (1945)